प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण शर्मा
प्रबन्ध निदेशक
राजस्थान पत्रिका
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग
जयपुर 302004

प्रथम आवृत्ति

मूल्य :
साधारण संस्करण 30 रुपये मात्र
बढ़िया संस्करण 40 रुपये मात्र

मुद्रक :
सर्वेश्वर प्रिन्टर्स
जयपुर-302003

प्रकाशकीय

चाणक्य सूत्रों की व्याख्या को पुस्तक रूप में प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता है। राजस्थान पत्रिका के स्तम्भों में अधिकाधिक सांस्कृतिक सामग्री का समावेश करने के प्रयास की यह एक मूल्यवान परिणति है। इस प्रकार की सामग्री का श्रीगणेश आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व नगर परिक्रमा स्तम्भ के साथ हुआ था। इसके बाद हमने प्रयास किया कि ललित कलाओं के प्रदर्शन पर विस्तार से समीक्षाएं प्रस्तुत की जायं, परन्तु इतना ही पेर्याप्त नहीं था।

संस्कृति को जिस विकृत विदेशी रूप में इन दिनों प्रचारित और प्रोत्साहित किया जा रहा है, उससे ऊपर उठकर हम कुछ ऐसी पाठ्य सामग्री समाचार पत्र के माध्यम से देना चाहते थे, जिससे जनरुचि का वास्तव में संस्कार हो। यही संस्कृति का स्वरूप है, संस्कार करना।

वयोवृद्ध मूर्धन्य पत्रकार श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय का हमें बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ और उन्होंने सुभाषित प्रदीप स्तम्भ नियमित रूप से लिखना प्रारम्भ कर दिया। यह स्तम्भ कुछ वर्षों तक सुभाषित रत्न भाण्डागार जैसे ग्रन्थों के आधार पर चलता रहा। बीच-बीच में महापुरुषों के वचनामृत का पान कराते रहे। एक बार न्याय शृंखला का भी प्रकाशन हुआ। स्तम्भ का विकास सहज रूप में होता रहा और वह इस ऊँचाई पर पहुंचा कि इसकी सामग्री में चरक संहिता, चाणक्य सूत्र, महाभारत इत्यादि वृहद् शास्त्रीय ग्रन्थों का क्रमबद्ध प्रकाशन होने लगा। अब तो वेद विज्ञान पर भी 'विज्ञान-वार्त्ता' नाम से एक नियमित स्तम्भ चल रहा है। पाठकों को भरपूर सांस्कृतिक सामग्री उपलब्ध हो रही है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि देश में किसी भाषा में कोई भी समाचार पत्र इस प्रभूत मात्रा में सांस्कृतिक सामग्री को स्थान नहीं देता जितनी कि राजस्थान पत्रिका के स्तम्भों में समाविष्ट होती है। मुझे यह भी कहते हुए गर्व होता है कि सहृदय पाठक भी हमारे इस प्रयास को बढ़ावा देते रहे हैं। हमें अपने पाठकों पर उचित ही गर्व है।

चाणक्य सूत्र सुभाषित प्रदीप के माध्यम से पढ़े जा चुके हैं। जैसा कि हमारा प्रयास है, नियमित स्तम्भों में प्रकाशित सामग्री को सुविधानुसार पुस्तकाकार प्रस्तुत कर दिया जाय। 'अमरीका एक विहंगम दृष्टि' और 'मैं देखता चला गया' ये दो रचनाएं यद्यपि हमने प्रकाशित नहीं कीं परन्तु प्रकाशकों से क्रय

कर दी। सुभाषित प्रदीप, राजदरबार और रनिवास व पंचायत राज्य सर्वेक्षण राजस्थान पत्रिका के अपने प्रकाशन है। इस बीच रामचरित मानस को निःशुल्क प्रकाशित करने में हमने गोलछा चेरिटेबल ट्रस्ट को योगदान किया। इन प्रकाशनों का उपयोग हम उपहार के रूप में करते हैं। इसी वर्ष हमने लगभग दो लाख रुपये की पुस्तकें राज्य के विभिन्न राजकीय पुस्तकालयों को उपहार-स्वरूप दी है।

इधर लगभग एक वर्ष से पत्रिका ने वेद विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया है। श्राद्ध-विज्ञान (चार खण्ड), विज्ञान चित्रावली, पुराण रहस्य, वेद का स्वरूप विचार इत्यादि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। चार-पांच ग्रन्थ प्रेस में तैयार हो रहे हैं। इन सब ग्रन्थों का यही उपयोग होगा। हम इन ग्रन्थों का व्यापारिक उपयोग नहीं करना चाहते। सांस्कृतिक सामग्री का प्रचार और जनरुचि का संस्कार ही हमारा एक मात्र उद्देश्य है।

'चाणक्य सूत्र प्रदीप' का भी ऐसा ही उपयोग होगा। इन्हीं विनम्र शब्दों के साथ मैं एक बार श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय के प्रति आभार प्रगट करते हुए यह पुस्तक पाठकों की सेवा में समर्पित कर रहा हूँ।

क० च० कुलिश

प्रस्तावना

आर्य चाणक्य के नाम से हमारे देश के बहुत लोग परिचित हैं। चाणक्य नीति के कितने ही श्लोकों के अंश कहावतों के रूप में प्रचलित हो गये हैं। इसी चाणक्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ 'चाणक्य सूत्राणि' है। इस ग्रन्थ में धर्म, आचार, व्यवहार, राजनीति, राजधर्म, जातिधर्म, समाजधर्म आदि से संबन्धित सूत्र है। प्रत्येक सूत्र एक रत्न है और छोटा होने के कारण आसानी से याद रह सकता है।

वैसे तो इतिहास में तथा विद्वानों की मण्डली में चाणक्य का नाम प्रसिद्ध है परन्तु इसके जीवन तथा कार्यकलापों के बारे में लोगों को कम जानकारी है। चाणक्य का मूल नाम विष्णुगुप्त था। चणक ऋषि का पुत्र होने से चाणक्य तथा कुटल गोत्रीय ब्राह्मण होने से कौटल्य इसके उपनाम हैं। इसे 'महा ज्योतिषी' भी कहते हैं, क्योंकि अपने उद्देश्यों की पूर्ति में इसने ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव की कोई परवाह नहीं की थी और कृतकार्य हुआ था।

आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य का जन्म समय आज से करीब साढ़े-तेईस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। परन्तु इसके जन्म-स्थान का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उस समय तक्षशिला का विश्वविद्यालय विद्याओं का प्रमुख केन्द्र था। संस्कृत के प्रथम व्याकरण 'अष्टाध्यायी' का प्रणेता पाणिनि इसी विद्यालय में आचार्य था। चाणक्य ने भी इसी विद्यालय में अध्ययन किया था। इसके बालपन अथवा युवावस्था के बारे में इससे अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं। इतिहास से केवल यही पता लगता है कि इसने नन्दवंश का नाश करके मौर्य साम्राज्य स्थापित करने में चन्द्रगुप्त मौर्य को सहायता दी थी।

भगवान बुद्ध के समय में मगध (आधुनिक बिहार) में हिमालय की तराई में मोरियवंशी क्षत्रियों का छोटा-सा संघ-राज्य था। चन्द्रगुप्त इसी वंश का एक महत्वकांक्षी युवक था। मोरीयवशी होने के कारण ही उसे "मौर्य" कहा जाता है। यह धारणा गलत है कि वह राजा नंद की मुरा नामक दासी का पुत्र था।

चन्द्रगुप्त ने मगध के प्रजा पीडक नंदवंश को उखाड़ने का संकल्प किया था। इस उद्देश्य से उसने विद्रोहियों की सेना संगठित करके मगध पर चढाइयां की थीं, पर हर बार उसे परास्त होना पड़ा था। राजा नंद ने उसे पकड़ने तथा मार डालने के आदेश निकाल दिये थे, सो वह भागकर तक्षशिला

जा पहुंचा था। वहां अपने ही जैसी धुन के पक्के चाणक्य से उसकी आकस्मिक भेंट हुई। कहते हैं, चाणक्य एक बार याचना के लिए नन्द के दरबार में गया था, परन्तु उसकी शक्ल-सूरत देखकर नन्द ने उसे अपमानित करके निकलवा दिया था। तब चाणक्य ने क्रोध में आकर अपनी शिखा खोल कर प्रण किया था कि जब तक नंदवंश का नाश नहीं कर देगा तब तक शिखा नहीं बांधेगा। इस प्रकार नन्दवंश के दो प्रबल शत्रुओं का विचित्र संयोग हो गया।

यह संयोग इस प्रकार हुआ बताते हैं कि एक बार चन्द्रगुप्त चिन्ता में डूबा हुआ कहीं जा रहा था। रास्ते में उसने देखा कि एक ब्राह्मण युवक जमीन की घास खोद-खोद कर उखाड़ रहा है और उसकी जड़ों में मट्ठा डाल रहा है। चन्द्रगुप्त को बहुत कुतूहल हुआ और उसने उस युवक से पूछा कि वह ऐसा क्यों कर रहा है। युवक ने उत्तर दिया : मैं अपने विवाह के लिए कन्या की खोज में जा रहा था। इस घास के नुकीले डंठल मेरे पावों में चुभ गये और मेरी यात्रा में विघ्न पड़ गया। सो मैं इस घास को नष्ट करके रहूंगा। चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि यह मनकी और दृढ़-प्रतिज्ञ मनुष्य बहुत काम का है और दोनों की मित्रता हो गयी। दोनों का उद्देश्य भी एक ही था—नंदवंश का नाश। सो दोनों ने इसकी योजना बनाना शुरू कर दिया। उस समय भारत पर अलक्सान्दर (सिकन्दर) का हमला हो रहा था और उसकी फौजें तक्षशिला तक आ पहुंची थी। कहते हैं चन्द्रगुप्त ने अलक्सान्दर को भी अपनी योजना बतायी थी, पर बातों ही बातों में उससे झड़प हो गयी और अलक्सान्दर ने उसे मारने की आज्ञा दी, किन्तु चन्द्रगुप्त बच निकला।

इसके बाद चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने अलक्सान्दर के सेना-संचालन के तरीकों की जांच-पड़ताल की और उसी के अनुसार अपनी सेना को गठित करने का निश्चय किया। अलक्सान्दर की मृत्यु के बाद उन्होंने पंजाब और सिन्ध के राजाओं की सहायता से अलक्सान्दर की बची-खुची सेना को मार भगाया। फिर उन्होंने पंजाबियों की बड़ी सेना खड़ी की और नन्द साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र को जा घेरा। इस युद्ध में राजा नन्द मारा गया और मगध का राज्य चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गया। परन्तु नन्द का राक्षस नामक मन्त्री फिर भी काबू में नहीं आया और परदे के पीछे से चन्द्रगुप्त को मारने की चालें खेलने लगा। चाणक्य को इसका पता लग गया और दोनों की ओर से शतरंजी चालें होने लगी, जिनमें राक्षस को परास्त होना पड़ा। राक्षस आत्महत्या पर उतारू हो गया, परन्तु चाणक्य ने उसे रोक दिया और उसे चन्द्रगुप्त का महामात्य बना कर शत्रु से मित्र बना दिया। चाणक्य और राक्षस के आपसी घात-प्रतिघातों का

विशाखदत्त ने 'मुद्रा राक्षस' नामक नाटक में बहुत रोचक वर्णन किया है।

चन्द्रगुप्त ने पहले चाणक्य को अपना महामात्य बनाया था। परन्तु चाणक्य ने अपना यह पद राक्षस को सौंप दिया। दरबार में उसने इसकी घोषणा करते हुए कहा : आज मेरा प्रण पूरा हो गया। अब मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपनी शिखा बांधता हूं। आज इस राज्य में घुड़साल के घोड़ों के सिवाय सबके बंधन खोल दिये जायें। सारे बंदी बंधन मुक्त कर दिये जायें। यह कहकर चाणक्य नगर छोड़कर अपने आश्रम में चला गया।

चाणक्य की सलाह से चन्द्रगुप्त मौर्य ने राज्य का विस्तार किया और शासन को सुगठित किया। शासन व्यवस्था के बारे में चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जो 'कौटल्य अर्थशास्त्र' कहलाता है।

'अर्थशास्त्र' से पता लगता है कि मौर्य साम्राज्य का शासन, अत्यन्त सुव्यवस्थित था।

राजा अपने मन्त्री नियुक्त करता था और मन्त्री परिषद् की सहायता से शासन करता था। मन्त्री को उस समय अमात्य कहते थे और प्रधानमन्त्री को महामात्य। अमात्यों की योग्यता और परिषद् के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का 'अर्थशास्त्र' में पूरा विवेचन है।

चन्द्रगुप्त के दरबार में अलक्सान्दर के उत्तराधिकारी सेल्यूक का राजदूत मेगस्थने भी बैठता था। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है : भारतवर्ष के लोग कभी झूठ नहीं बोलते, घरों में ताले नहीं लगाते और न्यायालयों में बहुत कम जाते हैं।

चाणक्य ने अनुशासन के ऐसें नियम बनाये थे कि कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकता था। शासन–व्यवस्था ऐसी सुचारु थी जिसका आज भी बहुत कुछ अनुसरण किया जा रहा है।

चन्द्रगुप्त मौर्य को शत्रुओं से निरापद करके और राक्षस को महामात्य बना कर चाणक्य ने सन्यास ग्रहण कर लिया था। उसके गुरुकुछ में विद्यार्थी अध्ययन करने लगे थे। परन्तु आश्रम में रहते हुए भी वह चन्द्रगुप्त को राजकाज में परामर्श दिया करता था क्योंकि चन्द्रगुप्त ने उसे अपना गुरु मान लिया था।

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य उसके शासन में भी महामात्य रहा था और उसने सोलह राजधानियां जीत कर पूर्व से पश्चिम तक का इलाका बिन्दुसार के अधीन कर दिया था।

परन्तु जैन ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य की मृत्यु चन्द्रगुप्त के समय में ही हो गयी थी। उसकी मृत्यु के बारे में नीचे लिखा आख्यान है।

नन्द का सुबन्धु नामक एक अमात्य था। वह चाणक्य से बदला लेना चाहता था। एक दिन सुबन्धु ने चन्द्रगुप्त से कहा : मैं आपके हित की एक बात बताता हूं। चाणक्य ने आपकी माता को मरवा डाला है। सुबन्धु ने चन्द्रगुप्त की धाय से भी यही बात कहलवा दी। इसके बाद चाणक्य जब चन्द्रगुप्त से मिलने गया तो चन्द्रगुप्त ने उसका आदर नहीं किया। चाणक्य चन्द्रगुप्त की नाराजी का कारण समझ गया। उसने अपनी मृत्यु निकट जानकर अपनी संपत्ति अपनी संतान को बांट दी और जंगल में अपने आश्रम में जाकर 'इंगिनी मरण' अनशन ग्रहण करके शरीर त्याग दिया।

चन्द्रगुप्त मौर्य को तथा भारत के राजाओं की आने वाली पीढ़ी को राजनीति सिखाने के लिए चाणक्य ने जिन ग्रंथों की रचना की थी उनमें अर्थशास्त्र का उल्लेख किया जा चुका है। इसके अलावा चाणक्य प्रणीत पांच और ग्रन्थों का अब तक पता लग चुका है। इनके नाम ये हैं :

लघु चाणक्य नीति–१०८ श्लोक। वृद्ध चाणक्य नीति–२०५ श्लोक। चाणक्य नीति दर्पण–३४८ श्लोक। चाणक्य राजनीति शास्त्र–लगभग एक हजार श्लोक। कौटलीय अर्थशास्त्र–छह हजार श्लोक।

चाणक्य सूत्रों पर लिखी गयी मेरी व्याख्याएं 'राजस्थान पत्रिका' के 'सुभाषित प्रदीप' नामक स्तम्भ में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई थीं। उन्हीं को अब पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

कई वर्ष पहले स्वाध्याय मंडल, पारडी, से 'चाणक्य सूत्राणि' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसमें ५७१ सूत्र हैं। अपनी व्याख्या में मैंने इनमें से ५६५ सूत्र उद्धृत किये हैं और उनके भाषान्तर में भी इस ग्रंथ से सहायता ली है। इसके लिए मैं आभार प्रकट करता हूं। परन्तु सूत्रों की व्याख्याएं मैंने अपने ढंग से की हैं और वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला है।

इन व्याख्याओं को मैंने यथा-संभव सरल तथा सुबोध भाषा में लिखने का प्रयत्न किया है। अन्य उपलब्ध स्रोतों के उदाहरण भी शामिल किये हैं। इनसे कुछ सूत्रों की व्याख्याएं लम्बी हो गयी हैं। इस प्रकार चाणक्य सूत्रों की यह व्याख्या धर्म, नीति, आचार-व्यवहार आदि का भंडार बन गयी है।

—चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

सूत्रों की व्याख्या

सुखस्य मूलं धर्मः ॥१॥

सुख का मूल धर्म है, अथवा धर्म सुख का मूल है ॥१॥

'चाणक्य सूत्र' का यह पहला सूत्र है। इसमें दो शब्द आये हैं—धर्म और सुख। धर्म को सुख का मूल क्यों कहा है, यह तभी समझ में आ सकता है जब यह मालूम हो जाये कि धर्म क्या है और सुख क्या है। यह ऐसा विषय है कि इसकी विस्तृत विवेचना की जाये तो सैकड़ों क्या हजारों पृष्ठ लिखे जा सकते हैं।

'धर्म' शब्द भारत के ऋषियों की अनुपम देन है और इसके जोड़ का शब्द संसार की किसी भी भाषा में नहीं मिलता। आजकल इस शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द के पर्याय के रूप में होने लगा है—जैसे हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म इत्यादि। परंतु इनमें से किसी को भी धर्म शब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता। ये सब दर्शन, मत, संप्रदाय, पंथ अथवा मजहब हैं। धर्म का मत-मतान्तर में विभाजन या विखंडन नहीं किया जा सकता। धर्म वह तत्त्व है जो सारी मनुष्य जाति पर समान रूप से लागू होता है।

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

भोजन, निद्रा, भय और मैथुन ये पशुओं और मनुष्यों की स्वाभाविक वृत्तियां हैं। परंतु धर्म मनुष्यों की विशेष प्रवृत्ति है जो पशुओं में नहीं होती। धर्म से हीन मनुष्य पशुओं के समान होते हैं।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है :

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ने लगता है, तब-तब मैं जन्म (अवतार) लिया करता हूं।

महाभारत काल में भी हमारे देश में मत-मतान्तर थे जिनमें वैदिक धर्म तथा श्रमण धर्म मुख्य थे। गीता के इस श्लोक का तात्पर्य किसी विशेष धर्म से नहीं। किन्तु यह है कि जब जगत् में अन्याय, अनीति, दुराचार आदि बढ़

जाते हैं तब इनको मिटाने के लिए ईश्वर या भगवान किसी तेजस्वी पुरुष के रूप में अवतरित होकर समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को सुधारता है।

इसलिए धर्म शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। इसमें दर्शन, नीति, आचार, व्यवहार, कर्त्तव्य आदि का समावेश हो जाता है।

यह शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है धारण करना। 'धृ' धातु में 'मन्' या 'म' प्रत्यय लगाने से 'धर्म' शब्द बनता है। जो धारण करता है अथवा जो धारण किया जाता है वह धर्म है। प्रत्येक वस्तु को उसका स्वभाव धारण करता है। इसलिए किसी वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं सधर्म इति निश्चयः ॥

धारणा को ही धर्म कहते हैं। जिससे सब प्रजा का धारण होता है वही धर्म है।

यह श्लोक महाभारत का है। महाभारत के अन्त में कहा है—
ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येषः न च कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च सः धर्मः किं न सेव्यते ॥

मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूँ, पर कोई नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, (इसलिए) ऐसे धर्म का आचरण क्यों नहीं करते ?

इससे सिद्ध होता है कि धर्म की जो कल्पना भारतीय तत्त्वदर्शियों ने की है, वह सारे मतभेदों से ऊपर है।

जैमिनि के मीमांसा दर्शन का पहला सूत्र है—'अथातो धर्म जिज्ञासा' अर्थात् धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा इस दर्शन का हेतु है। इसी को स्पष्ट करने के लिए दूसरा सूत्र है—'चोदना लक्षणो अर्थो धर्मः' अर्थात् प्रेरणा धर्म का लक्षण और अर्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक कोई अधिकारी पुरुष यह न कहे कि अमुक कर्म करना चाहिए अथवा न करना चाहिए तब तक मनुष्यों में स्वच्छंदता रहती है। इसलिए आदिकाल में ऋषियों ने कर्म और अकर्म के जो आदेश दिये, उन्हीं से धर्म का निर्माण हुआ।

ऋषियों ने धर्म का निर्माण किया—इसका तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक अवस्था में अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में मनुष्यों को कर्म-अकर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य इत्यादि का ज्ञान नहीं था। इसे व्यवस्थित करने के लिए ऋषियों ने धर्म की व्यवस्था स्थापित की। वैदिक मान्यता के अनुसार 'वेदो-

अखिलो धर्म मूलम्" अर्थात् सब धर्मों का मूल वेद में है। वेद को अपौरुषेय माना गया है। ऋषियों को ऋतंभरा प्रज्ञा अथवा अन्तर्ज्ञान से जो ईश्वरीय प्रेरणा हुई उसे उन्होंने वेद के रूप में प्रकट किया। 'ऋषयो मंत्रेदृष्टारः'—इस सूत्र का यही अर्थ है।

वेद को प्रमाण मानकर कालान्तर में दर्शनशास्त्रों तथा स्मृतिशास्त्रों की रचना हुई जिसमें धर्म के तत्त्वों, लक्षणों आदि की विस्तार से विवेचना की गयी। कणाद के 'वैशेषिक दर्शन' में धर्म की यह परिभाषा है—

यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सः धर्मः।

अर्थात् जिससे इस जीवन में अभ्युदय (उन्नति) और भावी जीवन में मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति जिससे सिद्ध होती है वह धर्म है। अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति धर्मानुसार आचरण से होती है।

परन्तु वे कर्म अथवा कर्तव्य कौनसे हैं जिनसे यह उद्देश्य प्राप्त हो। वैदिक परम्परा में मनु सबसे पहला स्मृतिकार है और उसकी 'मनुस्मृति' मानव धर्मशास्त्र कहलाती है। 'मनुस्मृति' भृगु ऋषि की रचना है, अर्थात् मनु के जो आदेश और उपदेश अत्यन्त प्राचीन काल से जाने-माने जाते थे, उनका भृगु ने संकलन करके उन्हें श्लोकबद्ध किया। मनुस्मृति में धर्म की यह व्याख्या है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्ये ब्रवीन्मनुः॥

चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के लिये मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रिय-निग्रह—ये सामान्य धर्म बताये हैं।

धर्म के लक्षण मनुस्मृति में ये बताये गये हैं—

वेद स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहु साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥
धृति क्षमा दमो अस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीः विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपने को जो प्रिय लगे—ये धर्म के साक्षात लक्षण हैं। धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं।

श्रमण धर्म वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन है। जैन आगमों के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पांच महाव्रत हैं। धर्म के दस लक्षण ये हैं—

उत्तम खम मद्दवज्जव सच्च सउच्चं च संजमं चेव।
तव चागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव (कोमलता), उत्तम आर्जव (सरलता), उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य (अपरिग्रह) तथा उत्तम ब्रह्मचर्य--ये धर्म के दस भेद हैं।

पातंजल योग सूत्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को नियम कहा गया है। धर्म के लक्षणों के विषय में भी वैदिक तथा जैन मान्यताओं में साम्य है।

इससे प्रकट होता है मूल धर्म की जो व्याख्या भारतीय ऋषियों ने की है, वह सार्वभौम और सार्वकालिक है। धर्म का यह मूल परिवर्तनशील देश, काल तथा परिस्थिति में भी अपरिवर्तनीय रहता है।

सामान्य धर्म

धर्म के ये मूल तत्व तथा लक्षण देश और काल से तो अबाधित हैं ही, आस्तिक और नास्तिक का भी भेद नहीं करते। सबको समान रूप से मान्य हैं। ईसाई इन्हें 'वच्यूं' कह सकते हैं और इस्लाम इन्हें 'ईमान' कह सकता है। इसलिये इन्हें 'सामान्य धर्म' कहा जाता है।

परन्तु तात्त्विक रूप में निरपेक्ष होते हुये भी ये मूल तत्व व्यवहार में सापेक्ष हैं। इनकी पूर्ण अनुपालना वीतराग ऋषि-मुनियों तक के लिए तो कठिन है ही, साधारणजन के लिए तो असम्भव है। लोक व्यवहार में ऐसी अनेक परिस्थितियां होती हैं जिनमें 'सामान्य धर्म' का पालन नहीं किया जा सकता। सत्य और अहिंसा का ही विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। शास्त्रों में कहा है कि ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिए जो अप्रिय हो अथवा जिससे किसी का अहित होता हो। आपत्ति में अथवा विशेष परिस्थितियों में असत्य का भी आश्रय लिया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य का कोई भी कार्य ऐसा नहीं जिसमें किसी न किसी रूप में कायिक, वाचिक अथवा मानसिक हिंसा न होती हो। पुराणों में, रामायण में और महाभारत में अनेक आख्यान दृष्टांत के रूप में यह बताने के लिये दिये गये हैं कि किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, भले ही वह 'सामान्य धर्म' के विपरीत हो। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र

ने छल से वालि का वध किया था। धर्मराज युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य को मारने के लिये असत्य का सहारा लिया था।

इसी तथ्य को ध्यान में रख कर गीता में कहा है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' अर्थात् धर्म का थोड़ा सा भी अनुपालन महा भयों से रक्षा करता है। जैन मत के पांच महाव्रतों का पालन गृहस्थ जन नहीं कर सकते। सो उनके लिये अणुव्रतों का आदेश है।

इस प्रकार धर्म के दो मुख्य रूप वन जाते हैं—सामान्य तथा विशेष। इसलिये मनु ने कह दिया—'आचारः परमोः धर्मः' अर्थात् आचार व्यवहार ही परम धर्म है। तीर्थंकर महावीर ने 'अहिंसा परमोधर्मः' अर्थात् अहिंसा को परम धर्म वताया है। इन दोनों का यही तात्पर्य है कि मनुष्य को धर्मानुसार आचरण करना चाहिए और अहिंसा का आदर्श सामने रखना चाहिए।

विशेष धर्म

भगवद्गीता का एक श्लोक है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

पराये धर्म का आचरण सुख से भी होता हो, तो उसकी अपेक्षा अपना धर्म ही श्रेयस्कर है, भले ही वह विगुण हो अर्थात् सदोष हो। स्वधर्म के अनुसार वर्तने में मृत्यु भी हो जाये तो उसमें कल्याण है। परधर्म भयंकर होता है।

इस श्लोक में स्वधर्म को परधर्म से श्रेष्ठ वताया गया है। इसलिए यहां स्वधर्म और परधर्म ऐसे धर्म हैं जो 'सामान्य धर्म' नहीं होते। टीकाकारों ने इसका यह अर्थ लगाया है कि मनुष्यों को अपने-अपने वर्ण अथवा आश्रम के धर्मों का पालन करना चाहिए। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आश्रम भी चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इनके धर्म 'वर्णाश्रम धर्म' कहलाते हैं। गीता में और स्मृति ग्रन्थों में इस वर्णाश्रम धर्म का विस्तृत वर्णन है। आज के युग में वर्णाश्रम व्यवस्था वहुत कुछ लुप्त हो चुकी है। वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था के विकृत रूप में रूढ़ हो गयी है और आश्रम व्यवस्था के तो कुछ चिह्न ही अवशेष हैं।

शास्त्रकारों ने इस 'विशेष धर्म' के और भी कई प्रकार निर्धारित किये हैं जैसे—आत्म धर्म, कुल धर्म, जाति धर्म, ग्राम धर्म, देश धर्म, युग धर्म, राज धर्म और आपद् धर्म।

'सामान्य धर्म' के तत्वों तथा लक्षणों पर शास्त्रकारों ने जो ऊहापोह की है उसकी विवेचना करने बैठें तो शायद कभी अन्त ही न हो। हां, 'विशेष धर्मों' की व्याख्या अपेक्षाकृत सरल है।

मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से संबंध रखने वाले संस्कारों, व्यवहारों, रूढ़ियों आदि को विशेष धर्म कहा जाता है। ये विशेष धर्म देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। सामान्य धर्म शाश्वत और सनातन है क्योंकि वह प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है। विशेष धर्म इसी सनातन धर्म की रक्षा के लिये होता है, इसलिये उसका विरोधी नहीं होता। जो विशेष धर्म सामान्य धर्म से टकराता है वह अंत में नष्ट हो जाता है।

आत्म धर्म

इसे मनुष्य का व्यक्तिगत धर्म कह सकते हैं और यह सबसे ऊपर होता है, क्योंकि इसका उद्देश्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि होता है। मनुष्य ऐसे कर्म करे जिससे इस लोक में उसकी उन्नति हो और आगे के जन्मों में मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो। इसका अर्थ यह होता है कि भौतिक उन्नति अथवा समृद्धि के लिए जो भी कर्म अथवा कार्य किये जायें, उनमें यह भावना सदा बनी रहे कि परलोक न बिगड़ने पाये। पुनर्जन्म तथा कर्म-विपाक के सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले इस तथ्य को अच्छी तरह समझते हैं। परन्तु जो मजहब या संप्रदाय पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते, वे भी परोक्ष रूप में इसे मान्यता देते हैं। ईसाइयत और इस्लाम की मान्यता यह है कि मरने के बाद आत्माएं कब्रों में सोती रहती हैं और कयामत के दिन सब जाग उठती हैं। तब उनके कर्मों के अनुसार उन्हें स्वर्ग या नरक में भेजा जाता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आत्मा को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि यह शरीर नष्ट होने के बाद कुछ नहीं रहता, सो खूब खाओ-पीओ और मौज करो। भारत में भी इसी विचार के चार्वाक या लोकायत मत का प्रचार हुआ था। उनका सिद्धान्त था—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणंकृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनर्जन्म न विद्यते॥

जब तक जियो तब तक सुख से जियो। कर्ज लो और घी पियो। यह शरीर भस्म हो जाता है और इसका पुनर्जन्म नहीं होता।

यह मत फैलने नहीं पाया, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व को सभी धर्म, संप्रदाय, मजहब आदि स्वीकार करते हैं।

आत्म धर्म का महत्त्व चाणक्य नीति के इस श्लोक से प्रकट होता है—

त्येजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

कुल के हित में एक को छोड़ देना चाहिए, अर्थात् परिवार या कुटुम्ब का कोई जन कुलधर्म के विपरीत आचरण करे तो उसे कुल से निकाल देना चाहिए। ग्रामधर्म के पालन में यदि कुलधर्म बाधा डालता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार जनपद के हितार्थ अर्थात् देशधर्म के हित में ग्राम धर्म को छोड़ देना चाहिए और आत्म कल्याण के लिये देशधर्म को भी छोड़ देना चाहिए। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि आत्मा के कल्याण के लिये अर्थात् निःश्रेयस की सिद्धि के लिये शरीर भी त्याग देना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को सदा आत्मोन्नति अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति के लिये ही प्रयत्नशील रहना चाहिए और इसमें बाधक बनने वाले सभी विशेष धर्मों को तज देना चाहिए।

भारतीय दर्शनों, स्मृतियों, पुराणों आदि में तथा संसार के सभी मज-हबों में आत्मोन्नति के उपाय बताये गये हैं। उद्देश्य सबका एक है, उसे प्राप्त करने के मार्ग अलग-अलग हैं। कौनसा मार्ग उपयुक्त है, यह निर्धारित करना मनुष्य की रुचि, संस्कार तथा स्वभाव पर निर्भर करता है।

भौतिक जगत में आपत्तियों, रोगों, संकटों, दुर्घटनाओं, दैवी प्रकोपों आदि से अपनी रक्षा करना भी आत्मधर्म है। मनुष्य का शरीर ही अभ्युदय तथा मोक्ष का साधन है क्योंकि सारे कर्म शरीर ही करता है। इसलिये शरीर का निरोग और निरापद रहना आवश्यक है।

कुलधर्म

जिस वंश में मनुष्य जन्म लेता है, वह उसका कुल कहलाता है। कुल में वर्तमान परिवार को ही नहीं, बल्कि पूर्वजों को भी गिना जाता है। इसलिए वंश परम्परा से चले आ रहे संस्कार और रीति-रिवाज कुलधर्म कहलाते हैं। सो कुलधर्म की रक्षा का यह अर्थ होता है, कि कुल की मर्यादाओं का पालन किया जाये और ऐसा कोई काम न किया जाये जिससे कुल को कलंक लगे। राम ने कहा था-'रघुकुल रीति यही चलि आई, प्रान जायं पर वचन न जाई।' अर्थात् अपने वचन का पालन करना इक्ष्वाकुवंश का कुल धर्म था।

'कुलदीपिका' में कुल के ये लक्षण बताये गये हैं—

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम् ।
निष्ठाऽवृत्तिस्तपोदानम् नवधा कुल लक्षणम् ।।

आचार, विनय, विद्या, तीर्थ-यात्रा, निष्ठा, परम्परागत वृत्ति अर्थात् धंधे का त्याग नहीं करना, तप और दान-ये कुल के नौ लक्षण हैं। जिस कुल में ये नौ लक्षण हों, वह उत्तम होता है। प्राचीनकाल में इन्हीं के तारतम्य से किसी वंश की कुलीनता को नापा जाता था। आज भी कहा जाता है कि ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे बाप-दादा के नाम को बट्टा लगे।

हमारे देश में यह परम्परा थी कि किसी को जिम्मेदारी का कोई काम सौंपने से पहले या किसी उच्च पद पर नियुक्त करने से पहले उसके कुल का विचार किया जाता था। शासन में मन्त्रियों तथा उच्चाधिकारियों के पदों के लिये कुलीन जनों का ही चयन किया जाता था क्योंकि यह माना जाता था कि प्रत्येक मनुष्य के जन्मजात संस्कार उसके कुल के अनुरूप होते हैं। ब्रिटिश सरकार के जमाने में भी नौकरियों के लिये जो अर्जियां दी जाती थीं उनके अन्त में यह वाक्य जरूर जोड़ा जाता था-'आइ बिलोंग टु अ रिस्पैक्टेबल् फैमिली,' अर्थात् मैं प्रतिष्ठित परिवार का हूं।

अब कुलधर्म का तो लोप होता ही जा रहा है, कुल का भी कोई विचार नहीं किया जाता। कुलीन की परिभाषा भी बदल गयी है।

भर्तृहरि की एक व्यंगोक्ति है—'यस्यास्ति वित्तं स नर कुलीन:,' अर्थात् जिसके पास धन है वही कुलीन है। धनवान तो कुलीन मान ही लिये गये, आज कल तो सत्ताधारियों और उच्च पदासीन को भी कुलीन माना जाता है। विवाह-सम्बन्धों में भी ये ही कुल देखे जाते हैं।

जातिधर्म

प्राचीन काल में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के धर्म अर्थात् कर्त्तव्य-कर्म निर्धारित थे। कालान्तर में जब इन वर्गों के लोग अलग-अलग धन्धे या व्यवसाय करने लगे तब इन धंधों या व्यवसायों के आधार पर जातियां बन गयीं जिन्हें 'श्रेणि' कहते थे।

प्रत्येक जाति के ये धंधे और व्यवसाय रूढ़ हो गये और उनमें लगा रहना जातिधर्म हो गया। शिल्पी वर्ग में इन जातियों का बहुत विस्तार हुआ। सुनार, लुहार, बढ़ई, बुनकर, चर्मकार, धोबी, नाई आदि जातियां अलग-अलग बन गयीं। इनमें से कुछ जातियां कहने लगी हैं कि उनके पूर्वज ब्राह्मण या क्षत्रिय थे, सो उन्हें भी ब्राह्मण या क्षत्रिय माना जाये। इसका कारण केवल मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों में अनेक जातियां तथा उपजातियां हैं जिनके आपस में विवाह-सम्बन्ध नहीं होते।

प्रत्येक जाति के अपने-अपने परम्परागत रीति-रिवाज और संस्कार भी होते हैं। इन्हें तोड़ने पर जाति से छेक दिया जाता है जिसे हुक्का-पानी बंद करना कहते हैं। यह भी जातिधर्म है, परन्तु अब इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता छेकने या जातिच्युत करने की प्रथा अब समाप्त हो गयी है।

ग्राम धर्म

कृषि प्रधान देश होने के कारण प्राचीन भारत में राज्य-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था की इकाई ग्राम ही होती थी। आरम्भ में तो प्रत्येक ग्राम स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होता था। ये ग्राम आपस में लड़ा भी करते थे। इन युद्धों को संग्राम कहते थे। बाद में यह शब्द 'युद्ध' का वाचक बन गया।

कालान्तर में ग्रामों को मिलाकर जनपद बने और जनपदों से राष्ट्र बना। राष्ट्र में भी प्रशासन की इकाई ग्राम ही रही। मनुस्मृति के अनुसार ग्राम की व्यवस्था के लिये 'ग्रामिक' नामक अधिकारी होता था। यह शब्द ऋग्वेद में भी मिलता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में ग्राम से लगाकर राष्ट्र तक की शासन व्यवस्था का वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि मौर्य काल में भी यह व्यवस्था चालू थी।

चूंकि प्रत्येक ग्राम स्वतन्त्र होता था, सो उसकी रक्षा करना और उसमें न्याय-व्यवस्था बनाये रखना प्रत्येक ग्रामवासी का धर्म या कर्त्तव्य होता था। ग्राम का शासन पंचायत करती थी जिसमें ग्राम के सभी लोगों के प्रतिनिधि होते थे। पंचायत का फैसला सभी को मान्य होता था। ग्रामिक या गोप नामक अधिकारी, जो राज्य का प्रतिनिधि होता था, वह ग्राम की गतिविधियों की देखरेख करता था। ग्राम पर कोई विपत्ति आ जाये, अकाल पड़ जाये, या शांति भंग हो जाये, तो यह अधिकारी उसके उपाय करता था और राज्य को सूचना देता था। राजस्व वसूल करना भी इस अधिकारी का कार्य होता था।

ग्राम पंचायतों की यह व्यवस्था मुगलकाल में भी चलती रही, परन्तु ब्रिटिश राज में इसकी गिरावट शुरू हो गयी। लेकिन फिर भी इसके अवशेष गांवों में पाये जाते हैं। पंचायती राज फिर शुरू हो गया है, पर पंचायतों को उतने अधिकार नहीं जितने होने चाहिए। ग्रामधर्म की भावना अब इसी में रह गयी है कि गांव की कुछ परम्पराओं और रीति-रिवाजो को लकीर पीटने की तरह निबाहा जाता है। इसके अलावा गांवों पर अब शहरी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

देश धर्म

देश शब्द पृथ्वी के किसी भाग या स्थान का वाचक है। अपना स्थान छोड़कर किसी दूसरे स्थान को जाना परदेश जाना कहा जाता था। आजकल

एक समय था जब, मनुस्मृति के अनुसार, इस देश के बारे में कहा जाता था—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ।।

इस देश (भारत वर्ष) में जन्म लेने वाले पूर्वजों से पृथिवी के सब लोग अपने-अपने चरित्र सीखें ।

यदि हमारे देश के निवासी तथा नेता और राजनेता देशधर्म तथा राष्ट्र धर्म के महत्व को समझ लें और उनका पालन करें तो भारत फिर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सकता है ।

युग धर्म

काल की किसी निश्चित अवधि को युग कहा जाता है । हिन्दू गणना के अनुसार इस सृष्टि की आयु एक 'कल्प' मानी गयी है । इस कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं और एक मन्वन्तर में इकहत्तर महायुग होते हैं । चार युगों का एक महायुग होता है । ये । चार युग हैं—कृत (सत) त्रेता, द्वापर तथा कलि । प्रत्येक युग के वर्षों की संख्या के बारे में अलग-अलग मत हैं । एक मत के अनुसार कलियुग 1200 वर्ष का, द्वापर युग 2400 वर्ष का, त्रेता युग 3600 वर्ष का और सतयुग 4800 वर्ष का होता है । इन्हें दैवी वर्ष कहते हैं । एक दैवी वर्ष 360 मानवीय वर्ष के बराबर होता है । इस हिसाब से युगों की अवधि इस प्रकार हो जाती है: कलियुग-4,32,000 वर्ष, द्वापर युग 8,64,000 वर्ष, त्रेता युग–12,96,000 वर्ष और सतयुग-17,28,000 वर्ष । कलियुग के बाद द्वापर, फिर त्रेता और सतयुग-यह क्रम चलता रहता है । एक मत यह भी है कि कलियुग द्वापर, त्रेता तथा सतयुग क्रम से 12,000, 24,000, 36000, और 48,000 वर्षों के होते हैं । कलियुग के बाद एकदम सतयुग नहीं आता, बल्कि उलटा क्रम चलता है–कलियुग, द्वापर, त्रेता और सतयुग । दो युगों के बीच में संधिकाल भी होता है ।

सतयुग में धर्म के चारों चरण रहते हैं, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलियुग में केवल एक । इस प्रकार धर्म का ह्रास तथा उत्थान होता रहता है । इसका अर्थ यह है कि सतयुग के मनुष्य पूर्ण धार्मिक होते हैं, त्रेता के उससे कम, द्वापर के उससे भी कम और कलियुग में अधर्म ही प्रधान हो जाता है । आजकल सातवें मन्वन्तर का कलियुग चल रहा है जिसके लगभग पांच हजार वर्ष बीत चुके हैं । इस कलियुग का आरम्भ महाभारत युद्ध के बाद परीक्षित के राज में हुआ माना जाता है ।

जैन मान्यता के अनुसार कालचक्र परिवर्तित होता रहता है और उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। उतार का नाम 'अवसर्पिणी' और चढ़ाव का नाम 'उत्सर्पिणी' है। अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं—सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा दुखमा और दुखमा-दुखमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी छह भेद हैं—दुखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा और सुखमा-सुखमा। इन कालों में सुख और दुख का अनुपात उनके नामों के अनुसार होता है। सुखमा-सुखमा में सुख ही होता है और दुखमा-दुखमा में दुख। सुख और दुख भौतिक भी होते हैं और आध्यात्मिक भी। सुख को धर्म और दुख को अधर्म कह सकते हैं। वर्तमान में अवसर्पिणी का दुखमा काल चल रहा है।

हिन्दू और जैन सिद्धान्तों में यह साम्य है कि दोनों काल के अनुसार धर्म का उत्थान और पतन मानते हैं।

यह तो युग शब्द की शास्त्रीय परिभाषा है। परन्तु इतिहास में युग उसे माना जाता है जिसमें एक अवस्था बदल कर दूसरी अवस्था आ जाती है। वैज्ञानिकों ने युगों का विभाजन पृथ्वी की अवस्था के अनुसार किया है।

साधारण बोल-चाल में बारह वर्ष का युग कहा जाता है। कहावत है, बारह बरस में घूरे के भी दिन पलट जाते हैं। उर्दू में इसे जमाना कहते हैं। अक्सर सुनने में आता है, पुराना जमाना आज का जमाना, और जमाना बदल रहा है।

मतलब यह है कि 'कालः क्रमेण जगतः परिवर्तमानः' अर्थात् काल के क्रम से जगत में परिवर्तन होते रहते हैं। और जब परिवर्तन होते हैं तब मनुष्यों के आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि में भी परिवर्तन होते है। इसी को युगधर्म कह सकते हैं और यह युगधर्म युग के अनुसार बदलता रहता है।

आदिकाल में मनुष्यों का धर्म और अधर्म का ज्ञान ही नहीं था। सो, जब ऋषियों ने उन्हें धर्म का तत्व बताया तो वे धर्म में प्रवृत्त हुए। परन्तु कुछ लोग तब भी ऐसे होंगे जो धर्म-विरुद्ध आचरण करते हों। इसलिए ऋषियों ने विधि और निषेध के सिद्धान्त प्रतिपादित किये। विधि का ही नाम धर्म और निषेध का नाम अधर्म हुआ।

सतयुग में धर्म के चार चरण होते हैं। इसका यही अर्थ है कि आरम्भ में मनुष्य धर्मपरायण थे। तर्क-वितर्क नहीं करते थे। त्रेता में मनुष्यों में अधर्म की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी सो ऋषियों को मर्यादाएं निश्चित करनी पड़ीं। रामचन्द्र ने इन मर्यादाओं का पालन किया इसलिए उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम कहते

है। द्वापर में धर्म और अधर्म के पलडे बराबर हो गये। महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण की ही छत्रछाया में छल-कपट के प्रयोग किये गये। यह सब धर्म की रक्षा के लिए किया गया। कलियुग तो अधर्म-प्रधान ही माना गया है, सो स्पष्ट नजर आ रहा है।

इसके विपरीत विकासवादी तथा आधुनिक विज्ञानवादी कहते हैं कि मनुष्य उत्तरोत्तर विकास करता आया है और करता चला जायेगा। वह पीछे नहीं लौट सकता। भौतिक दृष्टि से यह सही है। परन्तु हमारे शास्त्रों ने सदा आध्यात्मिक उन्नति पर जोर दिया है। आधुनिक सभ्यता मानवजाति को किस अधोगति और विनाश की ओर ले जा रही है, इसे अब सब लोग स्वीकार करने लगे है। अमेरिका जैसे समृद्ध देश में भी आध्यत्मिकता की ओर लोगों का रुझान हो रहा है। अर्थात् युगधर्म बदलने लगा है। आधुनिक सभ्यता को लक्ष्य करके इकबाल ने कहा था—

तुम्हारी तहजीब अपने खंजर से आप ही खुदकुशी करेगी।
जो शाखे-नाजुक पैं आशियाना बनेगा नापायदार होगा।

तुम्हारी यह सभ्यता खुद अपने ही शस्त्र से आत्महत्या करेगी। क्योंकि जो घोंसला कमजोर शाखा पर बनाया जाता है, वह टिकाऊ नहीं होता।

इसलिये यह मानना पड़ता है कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग अथवा अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जो क्रम और व्युत्क्रम होते रहते हैं, वे आध्यात्मिक दृष्टि से बिल्कुल सही हैं।

तो, इस प्रकार जब युग बदलते रहते हैं तो उन्हीं के अनुसार मनुष्यों के युगधर्म भी बदलते रहते हैं। युगों से तात्पर्य केवल शास्त्रीय युगों से नहीं, बल्कि भौगोलिक और इतिहासिक युगों से भी है। जब किसी देश में लोग धन-धान्य से सुखी होते हैं, तब उसे स्वर्णयुग कहा जाता है। भारत के ज्ञात इतिहास में मौर्य शासनकाल को स्वर्णयुग माना गया है। इसके बाद भारत पर विदेशियों के आक्रमण हुए, तब उन्हें बाहर निकालना भारतवासियों का युगधर्म हो गया। मुगल शासन को भारतवासियों ने कुछ हद तक इसलिए स्वीकार कर लिया कि मुगल बादशाह भारतीय बन गये थे। परन्तु जब औरंगजेब ने भारतीय संस्कृति पर प्रहार शुरू किया तो युगधर्म फिर प्रबल हो गया जिसके कारण मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। फिर ब्रिटिश काल में तो भारत को स्वतन्त्र कराना सबसे महत्वपूर्ण युगधर्म बन गया। इसी के प्रभाव से 1857 का विद्रोह हुआ। इस विद्रोह को बल देने में हिन्दुओं के साधु-सन्यासियों तथा मुसलमानों के मुल्ला-मौलवियों का बहुत बड़ा हाथ था। स्वामी दयानन्द के गुरु प्रज्ञाचक्षु स्वामी

विरजानन्द ने विद्रोह के नेताओं की एक सभा में सभापति का पद ग्रहण किया था और भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए उद्बोधन किया था। स्वामी दयानन्द ने भी सारे भारत में भ्रमण करके भारतवासियों को जगाया था और स्वराज शब्द का सबसे पहले प्रयोग किया था। अन्त में महात्मा गांधी ने इस युगधर्म का नेतृत्व किया और भारत स्वतन्त्र हो गया।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है, सो विज्ञान की साधना ही सारी दुनिया का युगधर्म हो गया है। विकसित देश विज्ञान के नये-नये यन्त्रों तथा उपकरणों के आविष्कार में रत हैं और इस काम के लिये अरबों-खरबों रुपया खर्च हो रहा है। अमेरिका और रूस में अन्तरिक्ष की खोज की होड़ चल रही है। अविकसित देश पश्चिम के देशों की वैज्ञानिक प्रगति को ललचाई निगाहों से देख रहे हैं लेकिन खुद ऐसी हालत में नहीं कि इस दौड़ में शामिल हो सकें। इसलिए वे वैज्ञानिक यन्त्रों और उपकरणों का आयात कर रहे हैं। विकासमान देशों में भारत ही विज्ञान के क्षेत्र में सबसे आगे है।

दूसरी ओर युगधर्म के अर्थ को ही लोगों ने विकृत कर दिया है। आज कल भ्रष्टाचार समाज की रग-रग में ऐसा समा गया है कि लोग कहने लगे हैं– यह तो लोकाचार है, युगधर्म है अर्थात् इसके बिना काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार धनलिप्सा भी आज का 'युगधर्म' बन गया है। हर आदमी जा-बेजा तरीकों से धन कमाना चाहता है क्योंकि धन ही जीवन-यापन का साधन बन गया है। किन्तु ये दोनों 'युगधर्म' नहीं बल्कि 'युग अधर्म' हैं और इन अधर्मों को नष्ट करना ही वास्तविक युगधर्म है। जब तक इस युगधर्म की भावना जागृत नहीं होगी तब तक ये अधर्म बढ़ते रहेंगे। अभी तो ऐसा लगता है कि इस युग धर्म का किसी को एहसास ही नहीं हो रहा है।

विज्ञान का युगधर्म भी मानव जाति को विनाश के कगार पर ले जा रहा है। परमाणु बम और जल तथा वायु के प्रदूषण इसके संकेत हैं। इसलिए इसके विरोध में स्वर मुखर होने लगे हैं। यह आवाज जब युगधर्म बनेगी तभी विज्ञान का उपयोग सही दिशा में हो सकेगा।

इन बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि काल परिवर्तन के साथ साथ युगधर्म में ही उसके 'निगेशन' अर्थात् विलोम के तत्व रहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार 'निगेशन' का यह सिलसिला निरन्तर चलता रहता है और नये-नये पदार्थ बनते रहते हैं। एक युग का युगधर्म दूसरे युग में प्रतिकूल बन जाता है।

अंग्रेज कवि टैनीसन की कविता का एक पद है—

द ओल्ड ऑर्डर चेन्जॅथ, ईल्डिग प्लेस टु न्यू
एन्ड गॉड फुलफिल्स हिमसॅल्फ इन मैंनी वेज,
लॅस्ट वन गुड कस्टम शुड करप्ट द वर्ल्ड

पुरानी व्यवस्था वदलती है और अपना स्थान नयी व्यवस्थाओं को दे देती है, और ईश्वर अपने कार्य नाना प्रकारों से सम्पन्न करता है ताकि एक अच्छा रिवाज कहीं ससार को भ्रष्ट न कर दे।

मजहब या संप्रदाय धर्म

विशेप धर्मो की सूची में एक धर्म और जोड़ा जा सकता है—मजहब या संप्रदाय धर्म। यह इसलिए जरूरी है कि मजहबों या संप्रदायों के लिए भी आजकल धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है और यह शब्द अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द का पर्यायवाची बन गया है।

बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पहले भारत में मुख्यतया दो ही विचार-धाराएं थी, वैदिक तथा श्रमण। मध्यपूर्व के देशों में यहूदी मजहब प्रचलित था। यह भी बहुत प्राचीन है। पिछले दो हजार वर्षो में पहले येशु के शिष्यों ने ईसाई मजहब चलाया और इसके बाद मोहम्मद ने इस्लाम मजहब कायम किया। भारत में भी वैदिक, श्रमण तथा बौद्ध धर्मो के अनेक मत-मतान्तर खड़े हो गये। एक ही खुदा और पैगम्बर को मानने वाले इस्लाम में भी कई फिरके पैदा हो गये जिनमें सुन्नी और शिया मुख्य हैं। ईसाइयत में भी रोमन कैथलिक तथा प्रोटैस्टैन्ट, इन दो फिरकों के भी अनेक छोटे-छोटे फिरके हैं।

इन विभिन्न मजहबों और सम्प्रदायों के अपने-अपने दर्शन हैं, सिद्धान्त हैं, पूजा गृह हैं, तीर्थ स्थान हैं, उपासना पद्धतियां हैं, कर्मकांड हैं, संस्कार हैं और अवतार, पैगम्बर, नवी, प्रवर्तक आदि हैं। इतना ही नहीं सबने अपने-अपने ईश्वर, गॉड, खुदा, देवी-देवता आदि भी अलग-अलग मान लिये हैं। हिन्दू धर्म के सिवाय हरेक मजहब दावा करता है कि मनुष्य का निस्तार उसी के माध्यम से हो सकता है। ईसाइयत और इस्लाम में तो दूसरे मजहबों के अनुयाइयों को 'इन्फिडेल' और काफिर करार दिया गया है। इन सारे मजहबों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रिय-निग्रह के सामान्य धर्मो का ऐसा विशद विवेचन नहीं मिलता जैसा वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों में है। इनके ग्रंथों में सामान्य धर्मों का उल्लेख तो जरूर है, पर ज्यादा जोर अपने ही सिद्धांतों पर दिया गया है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, आत्मा, सद्‌असद व्यवहार आदि की विवेचना करने

वाले दर्शन शास्त्र भी वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के अलावा और किसी मजहब में नहीं मिलते। नीति-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी भारत की ही विशिष्टता है।

इन विभिन्न मजहबों और सम्प्रदायों ने वैचारिक रूप में मनुष्य जाति को विखंडित कर दिया है।

इसी विचार-भेद या मतभेद के कारण मजहबी लड़ाइयां हुई हैं और सांप्रदायिक वैमनस्य फैला है। ईसाइयत और इस्लाम का पुराना इतिहास खूंरेजियों से भरा पड़ा है, हालांकि येशु और मोहम्मद दोनों ने दूसरों के प्रति सहिष्णुता के उपदेश दिये थे।

इस तरह हरेक आदमी का अपने-अपने मजहब या संप्रदाय के लिहाज से अपना-अपना मजहब या सम्प्रदाय धर्म बन गया है। दैनिक जीवन में वह अपने इसी विशेष धर्म का पालन करता है। सो, सामान्य धर्म गौण हो गये हैं। और यह विशेष धर्म मुख्य हो गया है। इन मजहब या सम्प्रदाय धर्मों की संख्या हमारे देश में सबसे अधिक है क्योंकि भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विचार-स्वातन्त्र्य की परम्परा रही है। इसी के कारण भारत ने ईसाइयत और इस्लाम को प्रश्रय दिया। परन्तु अब राजनीतिक कारणों से मजहब या संप्रदाय धर्म जोर पकड़ रहा है, और नयी-नयी समस्यायें और टकराव पैदा हो रहे हैं।

राज धर्म

देश का संविधान और उसके अन्तर्गत समय-समय पर बनाये जाने वाले कानून-कायदे उस देश का राजधर्म होते हैं और इनकी अनुपालना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता है। संविधान देश की सांस्कृतिक तथा इतिहासिक पृष्ठभूमि और परम्पराओं के अनुसार होता है और कानून-कायदे परिस्थितियों के अनुसार बनते और बदलते रहते हैं। लोकतन्त्री शासन–पद्धति वाले बड़े देशों में केवल ब्रिटेन ही ऐसा देश है जिसका कोई विशिष्ट संविधान नहीं, परन्तु परम्पराएं तथा परिपाटियां हैं जिनकी रक्षा की जाती है। सारे कानून-कायदे इन्हीं परम्पराओं तथा परिपाटियों के अनुसार बनाये जाते हैं। ब्रिटेन के नागरिकों में इनकी भावना बद्धमूल हो गयी है।

संविधान और कानून-कायदे देश के सब निवासियों के समान हित को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। प्रत्येक नागरिक को अपने विशेष धर्मों के पालन की छूट तो रहती है, पर समग्र देश के हित में इन्हें मर्यादित कर दिया जाता है। देशधर्म और राष्ट्रधर्म को क्षति पहुंचाने वाले तथा विभिन्न वर्गों में संघर्ष पैदा करने वाले विशेष धर्मों पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। समाज में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भी सीमित कर

दिया जाता है। हमारे शास्त्रों में कहा है—'सर्व धर्माः राजधर्मे प्रतिष्ठाः' अर्थात् सारे धर्म राजधर्म में समा जाते हैं। सब धर्मों का तात्पर्य कुलधर्म, जातिधर्म, मजहब-धर्म आदि विशेष धर्मों से है। राजधर्म सब विशेष धर्मों से ऊपर होता है और देश के सारे नागरिकों पर समान रूप से लागू होता है। कोई भी नागरिक अपने विशेष धर्म की दुहाई देकर राजधर्म को चुनौती नहीं दे सकता।

राजधर्म के मूलभूत सिद्धांत या तत्व देश के संविधान में परिभाषित होते हैं और सारे कानून-कायदे (विधि तथा नियमोपनियम) इसी तराजू पर तोले जाते हैं। तोलने का यह काम न्यायालय करते हैं। जो कानून संविधान की आत्मा के विरुद्ध होता है, उसे अवैध घोषित कर दिया जाता है।

हमारे देश में राजनीतिक हेतुओं ने राजधर्म में कुछ विकृतियां तथा असंगतियां उत्पन्न कर दी हैं। अल्पसंख्यकों के नाम पर मुसलमानों को और पिछड़े वर्गों के नाम पर हरिजनों तथा आदिवासियों को विशेष संरक्षण प्रदानकर दिये गये हैं। इनके कारण साम्प्रदायिक तथा जातीय वैमनस्य की भावनाएं उभड़ रही हैं। देश के संविधान में सब नागरिकों के लिए समान व्यवहार संहिता (सिविल कोड) का निदेशक सिद्धान्त है। परन्तु मुसलमानों के मजहबी धर्म की खातिर इस सिद्धांत पर अमल नहीं किया जा रहा।

परन्तु राजधर्म भी सामान्य धर्म से ऊपर नहीं। इसलिए यदि कोई राजधर्म सामान्य धर्म के तत्वों की अवहेलना करता है, तो उसका विरोध करना भी धर्म हो जाता है।

आपद्-धर्म

मनुष्य के सामने कभी-कभी ऐसी विकट परिस्थिति आ जाती है कि आत्मरक्षा के लिए या अपने धन-धान्य की रक्षा के लिए उसे धर्म-विरुद्ध आचरण करना पड़ता है या नीच कर्म करने पड़ते हैं। ऐसे अवसरों पर मनुष्य मजबूर होकर झूठ भी बोलता है और जरूरी हो तो हिंसा भी कर बैठता है। किसी देश पर जब शत्रु आक्रमण करता है तो उसे युद्ध करना पड़ता है जो अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध है। इसीलिए शास्त्र का वचन है—'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति', अर्थात् आपत्ति के समय कोई मर्यादा नहीं रहती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब दो बुराइयां सामने हों, तो मनुष्य उन दोनों में जो कम बुराई हो उसे चुनता है। इसे अंग्रेजी में 'लैसर ईविल' कहते हैं।

भारतीय पुराणों तथा महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों में अनेक दृष्टांत हैं जिनमें बताया गया है कि ऋषियों तथा धर्मपरायण पुरुषों ने भी आपत्तिकाल में ऐसे कार्य किये जो उनके लिये उचित नहीं थे।

महाभारत में कथा है कि एक बार बारह वर्षो तक भयंकर अकाल पड़ा और विश्वामित्र को कई दिनों तक भोजन नहीं मिला। तब उन्होंने एक चांडाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया और अपनी भूख मिटायी। चांडाल को जब यह पता लगा तो उसने विश्वामित्र को उपदेश देना शुरू किया कि कुछ पंचनख पशुओं का मांस द्विजों के लिए अभक्ष्य होता है और चोरी महापाप है। तब विश्वामित्र ने उसे फटकारा और कहा—

पिवन्त्येवोदकं गावो मडूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेस्ति मा भूरात्मप्रशंसक: ।।

मेंढक टर्र-टर्र करते रहते हैं, तो भी गायें पानी पीती रहती हैं। मुझे धर्म सिखाने का तेरा अधिकार नहीं। अपनी प्रशंसा मत कर।

विश्वामित्र ने यह भी कहा—'जीवितं मरणात् श्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्', अर्थात् धर्म की दृष्टि से मरने की अपेक्षा जीना बेहतर है।

मनुस्मृति में अजीगर्त, वामदेव आदि ऋषियों के उदाहरण हैं जिन्होंने संकट के समय ऐसा ही आचरण किया था।

सतयुग में राजा हरिश्चन्द्र ने डोम के घर नौकरी की थी। पांडवों ने अज्ञातवास में राजा विराट् के यहां नौकरी की। भीम रसोइया बना और अर्जुन ने नपुंसक का वेश धारण कर विराट की पुत्री को नृत्यकला सिखायी।

अंग्रेज दार्शनिक हॉब्स ने लिखा है—भयकर अकाल में जब अनाज मोल न मिले या भीख भी न मिले तब पेट भरने के लिये अगर कोई चोरी करे या डाका भी डाले तो उसका यह अपराध क्षम्य होता है।

आपद्-धर्म तो ठीक है, परन्तु यह निश्चय करना आसान नहीं कि मनुष्य को किस परिस्थिति में आपद्-धर्म का सहारा लेना चाहिए। इसे भ्रष्टचार या नीच कर्म का बहाना नहीं बनाया जा सकता। दो बुराइयों में कौनसी बुराई कम है, यह निर्णय करना भी आसान नहीं होता।

धर्म और नीति

सामान्य धर्म और विशेष धर्म—धर्म के इन दो स्वरूपों की मैंने संक्षेप में जो विवेचना की है, वह सिर्फ बानगी है। सामान्य धर्म सारी मानव जाति के लिए है और देशातीत, संप्रदायातीत, तथा शाश्वत है। विशेष धर्म व्यक्तिगत हैं और ये मनुष्य के संस्कार और स्वभाव तथा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।

सामान्य धर्मों का पूर्ण रूप से पालन करना मनुष्य के लिए असंभव है। ये आदर्श हैं जिन्हें सामने रख कर मनुष्यों को अपने कर्मों तथा व्यवहारों को ढालना चाहिए। भारत के ऋषियों ने इस बात को समझ लिया था, सो उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया कि मनुष्य को किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार धर्म संबंधी आदेशों की दो श्रेणियां बना दी। धर्म की तात्त्विक व्याख्या करने वाले धर्मशास्त्र और व्यवहार की व्याख्या करने वाले नीतिशास्त्र। मनुस्मृति आदि स्मृतियां धर्मशास्त्र हैं, और महाभारत, चाणक्य नीति, चाणक्य सूत्र आदि नीतिशास्त्र हैं। नीतिशास्त्रों में धर्म के पालन के लिए मर्यादाएं निश्चित करदी गयी हैं।

फिर भी दैनिक और सामाजिक जीवन में मनुष्य के सामने ऐसी समस्याएं आती रहती हैं जिनमें धर्म अथवा अधर्म का निर्णय करना कठिन हो जाता है। साधारण जन न तो धर्मशास्त्र पढ़ते हैं और न नीतिशास्त्र, इसलिए उन्हें धर्म के तत्त्व ऐसी भाषा में समझाने की जरूरत पड़ती है जो उनकी समझ में आ जाये। इसी बात को ध्यान में रखकर भारतीय ऋषियों ने व्यवहार को परखने की कुछ कसौटियां बना दी हैं। मनु ने कहा है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वां सर्वावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

सारे धर्म को सुनो और सुनकर उसके अनुसार निश्चय करो। जो आचरण या व्यवहार अपने प्रतिकूल हों, वैसा आचरण दूसरों के साथ मत करो। येशु का भी उपदेश है—दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरों से अपने लिए चाहते हो।

इस सीधे-सादे उपदेश में देखा जाये तो धर्म का सार आ जाता है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि दूसरा कोई उसे हानि न पहुंचाये, उससे झूठ न बोले, उसे मारे नहीं, कष्ट में उसकी सहायता करे, इत्यादि। परन्तु जहां उसका स्वार्थ टकराता है, वहां वह दूसरों के साथ बुरा व्यवहार करता है।

धर्म और अधर्म को पुण्य और पाप भी कहा जाता है इस दृष्टि से कहा गया है—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अठारह पुराणों में व्यास ने दो ही बातें कही हैं—परोपकार पुण्य है और दूसरों को सताना पाप है।

साधारण मनुष्य के लिए धर्म के तत्त्वों को समझना और उनका पालन करना बहुत कठिन है। ऐसी हालत में उसे क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर युधिष्ठिर ने यमराज को दिया था।

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना नैको ऋषिः यस्य वचोऽप्रमाणम् ।
धर्मस्य मार्ग निहितं गुहायाम् महाजनो येन गतः स पंथाः ।।

वेद-वेदांगों में भिन्न-भिन्न बातें हैं। स्मृतियां अलग-अलग बातें कहती है। ऐसा कोई ऋषि है जिसकी बात को प्रमाण नहीं माना जाये। धर्म का मार्ग गुफा में छिपा हुआ है। इसलिए, महाजन जिस मार्ग पर गये हैं, वही पंथ हैं, अर्थात् उस मार्ग पर चलना चाहिए।

परन्तु यहां भी प्रश्न होता है कि महाजन किसे माना जाये ? एक मजहब या पंथ या संप्रदाय के अनुयायी किसी दूसरे मजहब या संप्रदाय के प्रवर्तकों अवतारों, ऋषियों, गुरुओं आदि को महाजन नहीं मानते। इसलिए समाज में जब तक कोई आदर्श व्यवस्था स्थापित न हो जाये और या तो किसी विश्व धर्म का आविर्भाव न हो, या मनुष्य जाति में सर्व धर्म समभाव पैदा न हो जाये, तब तक धर्म के मामले में ऊहापोह, तर्क-वितर्क और झगड़े-टंटे चलते ही रहेंगे। इस युग में तो कोई ऐसा 'महाजन' भी नजर नहीं आता जिसका अनुसरण किया जाये।

धर्म की दार्शनिक परिभाषाएं

धर्म के सामान्य तथा विशेष धर्मों की व्याख्या समाप्त हुई। ये धर्म मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु वैदिक तथा जैन दर्शनशास्त्रों में धर्म की एक और परिभाषा है जो प्रकृति से सम्बन्ध रखती है।

जो गुण पदार्थ को धारण करता है अथवा जिस गुण को पदार्थ धारण करता है, वह उस पदार्थ का धर्म होता है। अर्थात् किसी पदार्थ का स्वभाव उसका धर्म होता है। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के धर्म रहते हैं—सहज तथा आगन्तुक। सहज गुण ही पदार्थ का शाश्वत धर्म होता है। जैसे अग्नि में उष्णता और जल में शीतलता, प्राकृतिक धर्म हैं। जल को तपाया जाता है, तब वह गर्म हो जाता है। यह जल का आगन्तुक धर्म है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय ये छह पदार्थ हैं। प्रत्येक द्रव्य के चौबीस गुण होते हैं। इनमें धर्म तथा अधर्म को भी गिना गया है। रूप, रस, गंध और स्पर्श, ये द्रव्य के गुण होते है। इन्हीं को द्रव्य के धर्म कहते हैं।

जैन दर्शन में छह द्रव्य माने गये हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीवों तथा पुद्गलों के गमन में जो कारण है, वह धर्म है। जैसे मछली पानी में गमन करती है, तो यहां पानी धर्म है। जो निमित्त अथवा कारण जीवों तथा पुद्गलों को स्थित रखता है, वह अधर्म है।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के गुणों का विस्तृत विवेचन है, परन्तु जैन दर्शन में जीव और पुद्गल द्रव्यों की जितनी विवेचना है, उतनी धर्म, अधर्म आदि चार द्रव्यों की नहीं मिलती।

इसलिए धर्म के विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यह वह तत्व है जो संसार के सारे जीव तथा अजीव पदार्थों को धारण करता है।

इसीलिए मनु ने कहा है—

धर्म एव हतो हन्तिः धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मात् न हन्तव्यों मानो धर्मों हतो वधीत् ॥

जो धर्म को मारता है वह मर जाता है। जो धर्म की रक्षा करता है वह सुरक्षित रहता है। इसलिए न तो हम धर्म को मारें और न धर्म हमको मारे।

सुख शब्द की विवेचना

धर्म शब्द की परिभाषा तथा व्याख्या जितनी जटिल तथा व्यापक हैं, उतनी ही सुख शब्द की भी हैं। सुख का प्रतिलोम दुख है।

प्यासे को पानी मिल जाये और भूखे को अन्न मिल जाये तो उसे सुख होता है। ज्ञानेन्द्रियों (आंख, कान, जीभ, नाक, त्वचा) और कर्मेन्द्रियों हाथ, पांव, मुख, गुदा, उपस्थ) के विषयों के भोग में सुख मिलता है। जिस वस्तु की कामना या इच्छा हो, उस वस्तु के प्राप्त होने पर मनुष्य सुखी होता है। पीड़ा में कमी होने से सुख मिलता है। कुछ लोगों को दान-पुण्य, परोपकार आदि में सुख मिलता है। कोई दुख कम हो जाये या मिट जाये तो सुख होता है। ऐसा भी होता है कि कोई पदार्थ किसी मनुष्य के सुख का हेतु हो, वही पदार्थ किसी दूसरे के दुख का हेतु होता है। इसके विपरीत भी होता है जैसे किसी दुष्ट या आततायी के दण्ड पाने या मरने पर बहुत लोगों को सुख होता है, पर उसे और उसके आत्मीयजनों को दुख होता है। किसी को त्याग में सुख होता है, किसी को भोग में। किसी को मनुष्य मात्र की सेवा में सुख होता है, किसी को सताने में मजा आता है। कोई दूसरों की उन्नति पर सुखी होता है, कोई ईर्ष्यालु उन्नतों की अवनति देखकर सुखी होता है और कोई सत्ता से।

तात्पर्य यह है कि सुख की अनुभूति मनुष्य के स्वभाव, संस्कार, परिस्थिति, चित्तवृत्ति आदि पर निर्भर करती है। यह अनुभूति भी मनुष्य की तृप्ति क्षमता के अनुसार होती है। एक छोटा घड़ा और बड़ा घड़ा पानी से भर दिये जायं तो दोनों भरे हुए दीखते और कहलाते हैं। परन्तु एक में पानी की मात्रा कम होती है और दूसरे में ज्यादा। इसी प्रकार कोई मनुष्य थोड़े में ही तृप्त हो जाता है और सुख अनुभव करता है, परन्तु दूसरा बहुत पाने पर ही तृप्त होता है और कुछ लोग तो कभी तृप्त ही नहीं होते। ऐसे लोग उस घड़े के समान हैं जिसके पेंदे में छेद हो।

सुख या दुख किसी वस्तु या पदार्थ का गुण नहीं होता। पदार्थ तो सुख के साधन मात्र या दुख के हेतु मात्र होते हैं। इन्द्रियों के भोग के पदार्थ, धन, सत्ता, अभीष्ट वस्तु आदि अपने-आप में सुख नहीं होते, केवल सुख के निमित्त या साधन होते हैं। एक ही पदार्थ किसी के लिए सुख का और किसी के लिए दुख का निमित्त हो सकता है।

सुख के लिए शान्ति और आनंद शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। किसी की पीड़ा मिट जाये तो कहते हैं: उसकी पीड़ा शान्त हो गई। इन्द्रिय के किसी विषय भोग से तृप्ति होने पर कहा जाता है: आनंद आ गया या मजा आ गया। प्रसन्नता या हर्ष को भी आनंद कहा जाता है।

सुख और दुख के विषय में उक्तियां हैं: प्रिय वेदना सुख है और अप्रिय वेदना दुख है। शान्त्यं सुखम्, अर्थात् शांति सुख है। सर्व आत्मवशं सुखम्, सर्व परवशं दुख, अर्थात् अपने वश में रहना, स्वाधीन रहना सुख है और दूसरे के वश में या अधीन रहना दुख है।

सुख शान्ति और आनंद के आध्यात्मिक अर्थ भी हैं।

इन बातों को देखते हुए सुख शांति और आनंद के अनेक भेद और उपभेद हो जाते हैं।

सुख-दुख के प्रकार

भारतीय शास्त्रकारों का मत है कि प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करने के लिए, प्राप्त सुख को बढ़ाने के लिए और दुख को टालने या कम करने के लिए सदा प्रयत्न किया करता है। महाभारत में कहा है—

इह खलु अमुष्मिश्चं लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति।

इस लोक तथा परलोक में वस्तुओं की सारी प्रवृत्ति सुख के लिए होती है। त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम का इसके सिवाय अन्य कोई फल नहीं।

सुख प्राप्त करने और दुख से बचने की प्रवृत्ति तो संसार के सभी प्राणियों में पायी जाती है।

वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनों में तो दुख को ही प्रधानता दी गयी है। यह संसार दुखमय है और दुख से निवृत्ति ही सुख है। बौद्ध दर्शन में तो दुख को एक आर्य सत्य माना गया है। न्याय दर्शन में सुख-दुख को वेदना कहा है और इनकी यह व्याख्या की है: 'अनुकूल वेदनीयं सुखं, प्रतिकूल वेदनीयं दुखं' अर्थात् जो वेदना हमारे अनुकूल है, हमको भली लगती है, वह सुख है और जो वेदना हमारे प्रतिकूल है हमको भली नहीं लगती वह दुख है। वेदना का अर्थ यहां पीड़ा नहीं, किन्तु शारीरिक या मानसिक अनुभूति है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म', अर्थात् सारा संसार ब्रह्म है। यह ब्रह्म सच्चिदानन्द (सत् चित आनन्द) स्वरूप है। मनुष्य सत् और चित है तथा आनन्द की ओर उन्मुख रहता है। आनन्द प्राप्त करने पर वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

वेदान्त के ग्रन्थों में सुख-दुख के तीन भेद किये गये हैं: आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। प्रारब्ध अथवा पूर्वजन्म के कर्मों के फल से होने वाले सुख-दुख आधिदैविक होते हैं। वाह्य सृष्टि के शरीर से संयोग से आधिभौतिक सुख-दुख होते हैं। गर्मी, सर्दी, वर्षा, तूफान, भूकंप, दुर्घटनायें आदि आधिभौतिक कारण हैं। वाह्य संयोगों के विना जो सुख-दुख होते हैं, वे आध्यात्मिक होते हैं। फिर आध्यात्मिक सुख-दुख के भी दो भेद कर दिये हैं: शारीरिक तथा मानसिक।

सुख-दुख के चाहे जितने भेद या प्रकार हों परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक मनुष्य को सुख प्राप्त करने की और दुख से छुटकारा पाने की चाह होती है। इसीलिए वेदान्त और सांख्य दर्शनों में कहा गया है कि सब प्रकार के दुखों से छुटकारा पाकर आत्यन्तिक अथवा नित्य सुख प्राप्त करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इसी को मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण आदि कहते हैं। आनन्द भी इसी का नाम है।

आधिभौतिक सुख को भी आनन्द कहा जाता है। इसलिए आनन्द के दो भेद हो जाते हैं:समृद्ध्यानंद तथा शान्त्यानंद। जब मनुष्य को कोई शारीरिक सुख प्राप्त होता है या किसी अभीष्ट अथवा इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होती है तब उसका चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। इसे समृद्ध्यानंद कहते हैं। यह प्रफुल्लता तो अल्पकालिक होती है परन्तु उससे होने वाली अनुभूति जब चित्त में

प्रवेश कर जाती है तब वह शान्त्यानंद बन जाता है। दुख से निवृत्ति होने पर भी शान्त्यानंद होता है।

गीता में भी सुख-दुख के कई प्रकार बताये हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुख-दुखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं:हे अर्जुन, इन्द्रियों और विषयों के संयोग से सर्दी, गर्मी आदि जो सुख-दुख होते हैं, वे क्षणभंगुर और अनित्य अर्थात् नाशवान हैं। इसलिए तू उन्हें सहन कर।

गीता के अठारहवें अध्याय में सुख के तीन प्रकारों का वर्णन है:सात्विक राजस तथा तामस। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, सो इन तीन गुणों के अनुसार मनुष्यों के व्यवहार, वृत्तियां, खान-पान आदि भी तीन प्रकार होते हैं। इसलिए इनसे प्राप्त सुख भी तीन प्रकार के होते हैं।

आरम्भ में विष के समान प्रतीत होने वाला परन्तु अंत मे अमृत के समान सुख सात्विक होता है। विषयों तथा इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख भोगते समय अमृत के समान प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में विष के समान होता है। यह राजस सुख होता है। परन्तु निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न जो सुख भोगते समय भी और परिणाम में भी आत्मा को मोहग्रस्त करता है, वह तामस सुख होता है।

इनसे भी ऊपर आत्यन्तिक सुख होता है जो 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' है, अर्थात् केवल बुद्धि से ग्रहण किया जाता है और इन्द्रियों के ज्ञान परे होता है।

इन सब का निचोड़ यह है कि सुख-दुख के मुख्य प्रकार हैं:अनित्य तथा नित्य। अनित्य सुख के दो भेद हैं:शारीरिक तथा मानसिक। नित्य सुख आनन्द है जो मोक्ष से प्राप्त होता है। यह सुख चिरस्थायी होता है।

अनित्य सुख-दुख के भी तीन उपभेद किये जा सकते हैं, क्षणिक, अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक।

शारीरिक सुख-दुख : इन्द्रियों के विषय भोगों से प्राप्त होने वाले सुख शारीरिक होते हैं। प्रकृति के प्रकोपों से चोट, दुर्घटना आदि से, और रोगों से जो कष्ट होता है, वह शारीरिक दुख है। यह दुख-सुख क्षणिक भी हो सकते हैं और अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक भी।

मानसिक सुख-दुखः मन को शांति प्रदान करने वाले सुख मानसिक सुख होते हैं। मन को शांति देने वाला सबसे महान सुख संतोष है। स्वस्थ मनुष्य भी

मानसिक रूप में सुखी होता है। पुण्यकार्य, परोपकार, दीन-दुखियों की सेवा आदि से भी मानसिक सुख प्राप्त होता है। ऐश्वर्य, धन-संपदा, सत्ता आदि भी मानसिक सुख के हेतु होते हैं, क्योंकि इनके कारण मनुष्य अनेक चिंताओं से मुक्त हो जाता है। चिन्ताएं मानसिक दुख उत्पन्न करती हैं और इनसे मुक्त होना मानसिक सुख का हेतु होता है। विषय-भोगों की तृप्ति न होने से भी मानसिक क्लेश या दुख बना रहता है। प्रियजनों के वियोग से भी मानसिक दुख होता है।

सुख प्राप्ति के उपाय

सुख-दुःख के चाहे जितने उपभेद किये जायें, उन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि संसार के सारे प्राणी दुख से छुटकारा पाना चाहते हैं। सब सुख चाहते हैं, कोई भी दुख नहीं चाहता। परन्तु संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जिसे जिन्दगी भर सुख ही सुख या दुख ही दुख रहता हो। 'सुखस्यान्तरं दुःखं दुःखस्यान्तरं सुखम्' अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख। यह क्रम संसार में सदा से चला आया है। कालिदास की एक सूक्ति है—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकांततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।

किसी की दशा सदा सुखमय या दुखमय नहीं रहती। पहिये के घेरे की तरह नीचे ऊपर गति करती रहती है।

दुख के बाद जब थोड़े से भी सुख का अनुभव होता है, तब मनुष्य को बहुत शान्ति मिलती है। इसके विपरीत इन्द्रिय सुखों का भोग करने वाले मनुष्य की सुख का अनुभव करने की शक्ति कम हो जाती है।

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ।।

धन-धान्य सपन्न जनों में भोजन को पचाने की भी शक्ति नहीं रहती। (परन्तु) गरीब लोग काठ भी पचा लेते हैं।

'सुख दुःखामिहोभयम्' अर्थात् इस संसार में सुख और दुख दोनों मिले हुए हैं। परन्तु दुख अधिक है या सुख? शास्त्रकारों का कथन है कि मनुष्य जीवन ही दुखमय है और इस दुख से मुक्त होना ही उसका परम पुरुषार्थ है। यदि इस बात को मान लिया जाये तो इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य अपने जीवन के दुखों से तंग आकर जिन्दा ही न रहना चाहे। परन्तु व्यवहार में देखने में आता है कि प्रत्येक मनुष्य या प्राणी जिन्दा रहना चाहता है, मरना कोई भी नहीं चाहता। इससे यह परिणाम निकलता है कि जीवन में सुख अधिक है और दुख कम है, भले ही यह सुख सांसारिक और शारीरिक हो।

एक मत यह है कि वासना और तृष्णा ही मनुष्यों के दुख का कारण होती हैं। यदि मनुष्य इनसे छुटकारा पाले और संतोष का व्रत धारण करले तो वह दुखी नहीं हो सकता। वासना और तृष्णा उपभोग से कभी शान्त नहीं होतीं। बल्कि इन्हें जितना तृप्त किया जाये उतनी ही बढ़ती जाती है। कहावत भी है—संतोषी परम सुखी। इसी आशय का एक दोहा भी है—

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
जाकों कछू न चाहिए सोई साहंसाह॥

संसार के सारे सुख अनित्य हैं। इनके मोह में न पड़ कर मनुष्य को नित्य अर्थात् आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। इस आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति के अनेक उपाय हैं, जैसे, कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यान-योग, सन्यास योग, बुद्धि योग, भक्ति योग, राज योग आदि। जैसी जिसकी प्रवृत्ति हो, अथवा पूर्व संस्कार हो, उसी के अनुसार वह इनसे से किसी योग की साधना कर सकता है।

धर्म और सुख

धर्म और सुख की विवेचना के बाद देखना है कि इस सूत्र का वास्तविक अभिप्राय क्या है। सुख का मूल धर्म है इसका सीधा-सादा अर्थ तो यह होता है कि सभी प्रकार के सुख धर्म पर आधारित है। धर्म वह नींव है जिस पर सुख के भवन का निर्माण होता है। अथवा सुख रूपी शाखा-प्रशाखाओं के वृक्ष की जड़ धर्म रूपी है। यों भी कह सकते हैं कि सारे सुख धर्म से प्राप्त होते हैं, अर्थात् धर्म का पालन करने वाला मनुष्य सुखी होता है।

इस सीधे-सादे अर्थ को लिया जाये तो प्रश्न होता है कि क्या अधर्म से प्राप्त सुख, सुख नहीं होता? विषय-भोगों के लिए, वासनाओं की तृप्ति के लिए और धन-संपत्ति अर्जित करने के लिए मनुष्य तरह-तरह के कुकर्म और दुराचार करते हैं और शारीरिक तथा सांसारिक सुख का अनुभव करते हैं। ऐसे सुखों का आधार धर्म नहीं बल्कि अधर्म होता है। ऐसी अवस्था में कैसे माना जाये कि सुख का मूल धर्म है?

इस प्रश्न का उत्तर गीता में है जिसमें सुख के तीन प्रकार बताये गये हैं। गीता के अनुसार सात्विक सुख ही वास्तविक सुख है, जो आरम्भ में यद्यपि विष के तुल्य होता है, परन्तु जिसका परिणाम अमृतमय होता है। अन्य सुख राजसिक या तामसिक होते हैं। अधर्माचरण से जो शारीरिक और सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं, उनका परिणाम दुखदायी होता है। ऐसा सुख मनुष्य को कुछ समय के लिए समृद्ध्यानन्द भले ही प्रदान कर दे, परन्तु शान्त्यानन्द प्रदान नहीं कर सकता।

आत्यन्तिक सुख प्राप्ति का प्रयत्न करने वाले तो संसार में विरले ही होते हैं। बाकी सब लोग ऐहिक अर्थात् इस लोक में सुखी जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं।

इसलिए सुख का मूल धर्म है—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जो सुख धर्म के आधार पर प्राप्त किया जाता है, वही वास्तविक सुख होता है। अथवा यह कह सकते हैं कि शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य को अधर्म का सहारा नहीं लेना चाहिए। ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिए जो सामान्य धर्मों तथा विशेष धर्मों के प्रतिकूल हो। हिंसा, असत्य आदि के द्वारा अथवा अपने विशेष धर्म का उल्लंघन करके जो मनुष्य सुख के साधन जुटाता है, उसका पतन हो जाता है। वह अपने को तथा समाज को, दोनों को नुकसान पहुंचाता है। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भ्रष्ट साधनों का प्रयोग किया जाये, वह भ्रष्ट हो जाता है।

अच्छे उद्देश्य के लिए असत्य, हिंसा आदि का उपयोग केवल अधिकारी जन ही लोक संग्रह अर्थात् लोक कल्याण की भावना से कर सकते हैं।

धर्मस्य मूलमर्थः ।।२।।

धर्म का मूल अर्थ है ।।२।।

अर्थ शब्द का विवेचन

अर्थ शब्द के दो प्रयोग प्रचलित हैं। कोई शब्द जिस समय या पदार्थ का बोध कराता है, वह उस शब्द का अर्थ कहलाता है। दूसरा प्रचलित प्रयोग धन और संपत्ति के अर्थ में होता है। वित्त और द्रव्य भी इसके पर्याय हैं। देश के धन-संपत्ति आदि की व्यवस्था अर्थ-व्यवस्था (इकॉनॉमी) कहलाती है और इसकी रीति, नीति, व्यवहार आदि का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र (इकॉनॉमिक्स) कहलाता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र (पोलिटिकल इकॉनॉमी) इसी की एक शाखा है।

अर्थ का तीसरा अर्थ इच्छा या प्रयोजन भी होता है, जैसे विद्यार्थी-विद्याध्ययन की इच्छा करने वाला और अर्थार्थी धन की इच्छा करने वाला।

चाणक्य ने अर्थ शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। उसके 'अर्थशास्त्र' नामक विस्तृत ग्रन्थ में राज्य की अर्थनीति तथा अर्थ-व्यवस्था के अलावा सामान्यनीति, शासन-व्यवस्था,राजनीति, राजनय, कूटनीति, परराष्ट्रनीति और दंडनीति का भी विवेचन है। अर्थनीति के लिए इसमें 'वार्ता' शब्द आया है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द की दो व्याख्याएं की जा सकती है। एक व्यष्टि रूप में मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली तथा दूसरी समष्टि रूप में राज्य या राष्ट्र से सम्बन्ध रखने वाली।

विचारणीय बात यह है कि अर्थ को धर्म का मूल क्यों कहा गया है। 'धारणाद्धर्ममित्याहु' के अनुसार धर्म सारे चराचर जगत को धारण करता है अर्थात् उसका मूल है, तब इस मूल का मूल क्या होगा ? तो यहां मूल शब्द का अर्थ जड़ नहीं बल्कि पोषण करने वाला या खड़े रहने में सहायता देने वाला कहा जा सकता है। जिस प्रकार पेड़ की जड़ उसका पोषण करती है, उसकी रक्षा करती है और उसे दृढ़ता प्रदान करती है, उसी प्रकार अर्थ धर्म का पोषण करता है। अर्थ के अभाव में मनुष्य तथा राष्ट्र कमजोर हो जाता है और उसका पतन हो जाता है। चाणक्य नीति में कहा गया है : 'वित्तेन रक्ष्यते धर्मो' अर्थात् वित्त से धर्म की रक्षा होती है। इसलिए इस सूत्र का अर्थ यह लगाया जा सकता है-अर्थ धर्म की रक्षा करता है, मनुष्यों को तथा राष्ट्र को धर्मच्युत तथा धर्मभ्रष्ट होने से बचाता है। धन मनुष्यों को आपद धर्मों का आश्रय लेने से बचाता है और राष्ट्र की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था तथा समृद्धि उसे धर्मपरायण बनाती है।

जीवन में धन का महत्व

जीवन-यापन के लिए मनुष्य की तीन बुनियादी जरूरतें हैं : खाने को भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान। जंगलों में रहने वाली आदिम जातियों को ये चीजें प्रकृति से मिल जाती हैं, इनके लिए केवल परिश्रम करना पड़ता है। लेकिन सभ्य (सिविलाइज्ड) कहलाने वाले देशों के निवासियों को ये चीजें खरीदनी पड़ती हैं। सभ्य लोगों को इन चीजों के अलावा जीवन की और भी बहुत सी सुख सुविधायें उपलब्ध हैं, पर इनके लिए भी खर्च करना पड़ता है। यहीं अर्थ, धन या वित्त का प्रवेश हो जाता है।

प्राचीनकाल में आज जैसी मुद्रा-प्रणाली नहीं थी। उस समय अन्नधन, गोधन, पशुधन, रत्नधन और स्वर्णधन ही धन होते थे। मनुष्य अपनी-अपनी क्षमता तथा सामर्थ्य के अनुसार इन्हीं को संग्रह और संचय करते थे तथा सारे कारोबार इन्हीं के विनिमय से होते थे। बाद में स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन हुआ, किन्तु इसका उपयोग राजा लोग और सम्पन्न वर्ग ही कर सकते थे।

अब सारे कारोबारों का साधन मुद्रा बन गई है। सब चीजों की खरीद-बिक्री मुद्रा के माध्यम से होती है। इसलिए यही मुख्य धन बन गई है। सारी मनुष्य जाति इसी अर्थ के उपार्जन में लगी हुई है।

निर्धन मनुष्य अपनी बुनियादी जरूरतों की चीजें भी नहीं खरीद सकता, जीवन की अन्य सुविधाएं तो उसके लिए सपना होती हैं। ऐसी हालत में उसका सारा समय कमाई में बीत जाता है। धर्म-अधर्म की बातें सोचने की उसे फुर्सत ही नहीं मिलती। वह तो येन-केन-प्रकारेण अपना पेट भरने के प्रयत्न में लगा रहता है। उसे केवल अर्थ की चिन्ता रहती है। जब न्यायोचित उपायों से पेट नहीं भरता, तो वह अनुचित उपायों का सहारा लेने को मजबूर हो जाता है। इसीलिए कहा है–'बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा जनाः निष्करुणाभवन्ति'। अर्थात् भूखा आदमी कौनसे पाप नहीं करता और भूख से पीड़ित मनुष्य के हृदय में करुणा नहीं रहती। इसके अलावा निर्धन मनुष्य का समाज में भी आदर नहीं होता। चाणक्य नीति का एक श्लोक है :

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तिस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाल्लोके यस्यार्थाः स च जीवति ॥

जिसके पास धन है उसके मित्र होते हैं, जिसके पास धन है उसके परिजन और प्रियजन होते हैं। धनवान ही लोक में मनुष्य समझा जाता है और धनवान ही जिन्दा रहता है।

इसलिए धन के बिना मनुष्य कठिनाइयों में और कष्टों से घिरा रहता है और कभी सुखी नहीं होता। वह सामान्य तथा विशेष धर्मों का पालन नहीं कर सकता।

आज के जमाने में इस अर्थ ने अनर्थ कर रखा है। एक तरफ धन के भंडार भरे हैं, दूसरी तरफ धन की कमी है या अभाव है। एक तरफ धन-लिप्सा और धन-लोलुपता बढ़ रही है, दूसरी तरफ जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने में भी कठिनाई हो रही है। झूठ, बेईमानी, मुनाफाखोरी, मिलावट आदि धन-लिप्सा के परिणाम हैं। निर्धनता के कारण चोरी, लूटमार, डकैती आदि अपराध बढ़ रहे हैं। दोनों ओर पाप कर्मों की अर्थात् अधर्म की जड़ें फैल रही हैं।

चाणक्य जब कहता है कि धर्म का मूल अर्थ है, तो इसका अर्थ यह होता है कि जो अर्थ धर्म की रक्षा करता है और उसे पनपाता है, वह धर्म की जड़ को खोखली भी कर सकता है।

अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥३॥

अर्थ का मूल राज्य है ॥३॥

हमारा देश 'गणराज्य' है। गणराज्य में शासन की बागडोर जन-प्रतिनिधियों के हाथों में रहती है। देश के विभिन्न प्रदेश 'राज्य' कहलाते हैं। ये

भौगोलिक तथा प्रशासनिक, दोनों तरह की इकाईयां हैं। इसलिए राज्य शब्द, शासन-व्यवस्था तथा एकशासन-व्यवस्थाकेअन्तर्गत प्रदेश, दोनोंके लिएप्रयुक्तहोता है। चाणक्य ने इस सूत्र में इस शब्द का प्रयोग शासन के अर्थ में ही किया है। अंग्रेजी में राज्य के लिए 'स्टेट' शब्द है।

राज्य नामक शासन-व्यवस्था वैदिक काल से चली आ रही है। वेदों में, पुराणों में, धर्मशास्त्रों में, नीतिशास्त्रों में, महाभारत, रामायण आदि महाकाव्यों में, तथा जैन और बौद्ध आगमों में राजाओं के राज्यों का वर्णन तथा विवेचन है क्योंकि प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक पृथ्वी के भूखण्डों पर राजा ही राज करते थे। आधुनिक लोकतन्त्र की प्रणाली का विकास पिछली तीन शताब्दियों में ही हुआ है। परन्तु यह प्रणाली हमारे देश के लिए नयी नहीं। प्राचीनकाल में और मध्ययुगों में भी हमारे देश के गांवों तथा जनपदों में गणराज्य प्रणाली थी। धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में राजाओं की जो योग्यताएं, जो मर्यादाएं और जो अधिकार बताये गये हैं, उनसे पता लगता है कि कोई राजा निरंकुश नहीं हो सकता था और यदि वह निरंकुश हो जाता तो उसे गद्दी से उतार दिया जाता था। पुराणों में ऐसे कई राजाओं की कथाएं हैं।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में तथा कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य के सात अंगों का उल्लेख है राजा, अमात्य (मन्त्री), पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड तथा मित्र। ये सातों अंग अलग-अलग नहीं, बल्कि शरीर के अंगों की तरह परस्पर सम्बन्धित तथा आश्रित हैं। एक भी अंग के दुर्बल होने से राज्य दुर्बल हो जाता है।

राज्य का कोश भरा हुआ होना चाहिए। कोश प्रचुर न हो तो राज्य जनता के कल्याण के कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकता। कोश के बिना राज्य न तो विकास कर सकता है और न उन्नति। इस विषय को विस्तार से समझाने की आवश्यकता नहीं।

राज्यकोश राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर करता है। और अर्थ-व्यवस्था राज्य की शासन-व्यवस्था पर निर्भर करती है। राज्य को अर्थ का मूल अर्थात् प्रधान कारण इसीलिए कहा जाता है।

जिस देश की शासन-व्यवस्था सुदृढ़ हो, वहां अपराध कम होते हैं और जनता के सब वर्ग निरापद होकर अपना-अपना काम करते हैं। सुदृढ़ शासन-व्यवस्था में उद्योग-धन्धों मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यातायात की सुविधायें होती हैं, राजस्वों की वसूली ठीक ढंग से होती है, राज्याधिकारी तथा कर्मचारी ईमानदारी से अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। इन सब बातों से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। शासन व्यवस्था ढीली या भ्रष्ट होने से

चारों तरफ दुराचार, अनाचार, भ्रष्टाचार और अपराध फैल जाते हैं और इनका बुरा प्रभाव राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है।

आज हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था इसलिए डावांडोल हो रही है कि राज्य की शासन-व्यवस्था बिल्कुल लचर और भ्रष्ट हो गयी है। जब तक यह शासन-व्यवस्था सुदृढ़ और स्वच्छ नहीं होगी, तब तक अर्थ-व्यवस्था में कोई सुधार नहीं हो सकता।

चाणक्य के सूत्र का यही अभिप्राय है।

राज्यस्य मूलं इन्द्रियजयः ।।४।।

राज्य का मूल इन्द्रियों पर विजय है ।।४।।

इस सूत्र का अर्थ है कि शासन-व्यवस्था का आधार इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है।

राज्य एक पारिभाषिक शब्द है। यह कोई नजर आने वाली चीज नहीं। इसकी सत्ता केवल भाति-सिद्ध है। इसलिए राज्य की इन्द्रियों के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं। एक तो राज्य के सात अंग जिनका उल्लेख तीसरे सूत्र की व्याख्या में किया गया है। ये हैं—राजा, अमात्य (मन्त्री), पुर (राजधानी), राष्ट्र (जनता), कोश, दण्ड (न्याय व्यवस्था। और मित्र (सहयोग तथा सहायता देने वाले अन्य राष्ट्र)। दूसरे, शासन व्यवस्था के अर्थ में राज्य का शासन चलाने वाले राजनेता तथा प्रशासन करने वाले अधिकारी और कर्मचारी राज्य के अंग माने जा सकते हैं।

लोकतंत्री शासन-व्यवस्था में राजा के स्थान पर राष्ट्रपति या प्रधान-मन्त्री, मन्त्रिमण्डल और राष्ट्र या जनता इन तीनों को मर्यादित और नियन्त्रित करना आवश्यक होता है। यदि राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री निरंकुश और स्वेच्छा-चारी हो जायें, मंत्रीगण सत्ता का दुरुपयोग करके मनमानी करने लगें और अपना घर भरने लगें, और जनता ऐसी उच्छृंखल हो जाय कि कानून-कायदों की परवाह न करे तो राज्य का आधार कमजोर पड़ जाता है और उसकी दुर्दशा हो जाती है।

धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में राजा के गुणों का वर्णन किया गया है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा को ऐसा प्रजाप्रिय होना चाहिए कि साधारण आदमी भी उसके पास पहुंच सके, कोई उसके भयभीत न हो। उसे वृद्धसेवी, आत्मसंयमी, गुणी और सत्यवादी होना चाहिए। उसमें बौद्धिक तथा साहसिक गुण भी चाहिए। तभी वह राजपद के योग्य समझा जाता था। महा-भारत में राजा के 36 गुण तथा अग्नि पुराण में 21 गुण बताये गये हैं।

धर्मशास्त्रों तथा नीतिशास्त्रों में इसी प्रकार मन्त्रियों के गुण भी बताये गये हैं। मन्त्री को कुलीन, शूरवीर, शास्त्रों का जानने वाला, गुणवान तथा शीलवान होना चाहिए। इन गुणों के होने पर ही राजा और मन्त्रियों का आचरण मर्यादित तथा संयमित हो सकता है। जनता भी तभी सही रास्ते पर चल सकती है, क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। हमारे आज के 'राजाओं' और मन्त्रियों में तो ये गुण ढूंढने पर भी नहीं मिलेंगे। फिर राज्य का आधार कमजोर क्यों न होगा ?

शासन-व्यवस्था के अर्थ में लें तो शासक वर्ग और राज्य के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को संयमी तथा कर्त्तव्य परायण होना चाहिए। यह तभी संभव है जब ये लोग अपनी इन्द्रियों को वश में रखें, विषय भोगों में लिप्त न हों और अपनी सुख-सुविधायें जुटाने में ही न लगे रहें। इन्द्रियों में पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियों के अलावा मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना जाता है। कठोपनिषद में शरीर को रथ की, इन्द्रियों को रथ के घोड़ों की तथा मन को लगाम की उपमा दी गई है। शरीर रूपी इस रथ को बुद्धिरूपी सारथि चलाता है, अर्थात् लगाम उसके हाथ में होती है। इसलिए इन्द्रियों की मनरूपी लगाम बुद्धिरूपी सारथि के हाथ में होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों पर विजय वही पा सकता है जिसका मन बुद्धि के अनुसार कार्य करके इन्द्रियों पर नियंत्रण रखे।

पर आज हम क्या देखते हैं। हमारे राजनेता और राज्य के अधिकारी तथा कर्मचारी मन और बुद्धि दोनों में भ्रष्ट हैं। इसलिए इन्द्रियों को मुंह-जोर घोड़ों की तरह पूरी छूट मिल गयी है। राज्य के सारे अंग अस्त-व्यस्त हो गये हैं। इसका जो परिणाम हो रहा है वह स्पष्ट नजर आ रहा है और चाणक्य का यह सूत्र चरितार्थ हो रहा है।

इन्द्रियजयस्य मूल विनयः ॥५॥

इन्द्रियों पर जय का मूल विनय है ॥५॥

इस सूत्र का अर्थ है कि जितेन्द्रिय वही मनुष्य हो सकता है जो विनयशील हो। विनय से ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकता है। 'हितोपदेश' का एक श्लोक है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥

विद्या विनय देती है और विनय पात्रता (सद्गुणों को धारण करने की क्षमता तथा योग्यता) देती है। पात्रता से धन प्राप्त होता है, धन से धर्म कार्य

होते हैं और धर्मपरायणता से सुख प्राप्त होता है। इस श्लोक के चौथे चरण में चाणक्य के पहले तथा दूसरे सूत्रों का सार है। विद्या का तात्पर्य पुस्तकी विद्या नहीं बल्कि वह ज्ञान है जिसे जीवन का अमृत कहा गया है।

विनय को जब इन्द्रिय-जय का प्रधान साधन कहा गया है, तब इसका मतलब यह होता है कि विनय ऐसा गुण है जिसमें अनेक गुणों का समावेश है। आमतौर पर 'विनय' शब्द नम्रता या अहंकार-शून्यता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। विनयशील मनुष्य को 'विनीत' कहते हैं और 'विनीत' का एक अर्थ जितेन्द्रिय भी है। परन्तु इन अर्थों से विनय शब्द पूरी तरह परिभाषित नहीं होता।

आचार्य तुलसी के पट्टशिष्य युवाचार्य महाप्रज्ञ की 'आभामण्डल' नामक पुस्तक में लिखा है—विनय के प्रति हमारी धारणाएं भ्रान्त हैं। हमने मान लिया है कि विनय दूसरों के प्रति होता है। .... सचाई यह है कि विनय किसी दूसरे के प्रति नहीं होता। विनय स्वयं के प्रति होता है। विनय है अहंकार शून्यता। यह अपनी आत्मा की अवस्था है।.... यह व्यक्ति का अपने लिए अपना धर्म है। किसी दूसरे के लिए नहीं। .. विनय के सात प्रकार हैं—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चरित्र विनय, मन का विनय, वचन का विनय, शरीर का विनय और लोकोपचार का विनय। हाथ जोड़ना वास्तविक विनय नहीं, लोकोपचार विनय है। वास्तव में विनय है मन का विनय। मन को अनुशासित रखना मन का विनय है। मन को अहंकार से शून्य कर देना मन का विनय है। वाणी में उद्दण्डता न होना वाणी का विनय है। शरीर में अकड़ न होना शरीर का विनय है। ज्ञान के प्रति अगाध आस्था समर्पित करना ज्ञान का विनय है। दृष्टिकोण को सरल, ऋजु और अनेकांतमय बनाना दर्शन विनय है। पवित्र आचरण करना चरित्र विनय है।

विनय की इस परिभाषा के बाद अधिक कुछ कहने को नहीं रहता। संक्षेप में कह सकते हैं कि सद्-असद् विवेक, व्यवहार-कुशलता, सुशीलता, सत्य-परायणता, शिष्ट व्यवहार आदि विनय के ही विभिन्न स्वरूप हैं। जिस मनुष्य में ये सारे गुण हों, वह अपनी इन्द्रियों को जीतने में समर्थ होता है। इसीलिए चाणक्य ने विनय को इन्द्रिय-जय का मूल कहा है।

विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ।।६।।

वृद्धों की सेवा विनय का मूल है ।।६।।

इस सूत्र में वृद्धजनों की सेवा को विनयशीलता प्राप्त करने का प्रधान साधन कहा गया है। विचारणीय बात यह है कि वृद्ध किसे माना जाये

और सेवा से क्या तात्पर्य है। वृद्ध दो प्रकार के होते हैं—वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध। वयोवृद्ध तो हर जगह मिल जाते हैं, पर ज्ञानवृद्ध मुश्किल से मिलते हैं। माता-पिता वयोवृद्ध होते हैं और गुरुजन तथा गुणीजन ज्ञानवृद्ध होते हैं।

माता-पिता मनुष्य का जन्म से ही लालन-पालन करते हैं और उसके सबसे अधिक हित-चिंतक होते हैं। इनकी सेवा करना मनुष्य मात्र का धर्म है, कर्तव्य है, विशेषतया वृद्धावस्था में, जब वे अशक्त और पराश्रित हो जाते हैं। यह सेवा मनुष्य को विनय सिखाती है।

परन्तु जिन वृद्धजनों की सेवा को विनय का मूल बताया गया है, वे केवल वयोवृद्ध नहीं हो सकते। मनुस्मृति कहती है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानः तं देवाः स्थविरं विदुः।

वृद्ध वह नहीं होता जिसके सिर के बाल सफेद हो गये हों। युवा भी जो अध्ययनशील है, देव उसे वृद्ध जानते हैं।

शेख सादी ने कहा है —'बुजुर्गी-ब-अक्लस्त न बसाल' अर्थात् बुजुर्गी अक्ल से होती है उम्र से नहीं।

'महाभारत में वृद्ध की बहुत गंभीर परिभाषा है।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

जिस सभा में वृद्ध न हों, वह सभा नहीं होती। जो वृद्ध धर्म की बात न कहें वे वृद्ध नहीं होते। जिस धर्म में सत्य न हो वह धर्म नहीं होता। जिस सत्य में छल मिला हुआ हो, वह सत्य नहीं होता।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि सभा कहलाने के योग्य वही सभा होती है जिसमें ऐसे वृद्धजन हों जो छल रहित सत्य से भरपूर धर्म की बात कहने वाले हों। चाणक्य का अभिप्राय ऐसे ही वृद्धजनों से है और मनुस्मृति में इनकी सेवा के चार फल बताये गये हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

अभिवादन करने योग्य वृद्धों का उपसेवन करने वाले के चार बहुत बढ़ते हैं—आयु, विद्या, यश तथा बल। अभिवादनशील वृद्ध वे ही हो होते हैं जो ज्ञानवृद्ध हों।

वयोवृद्ध माता-पिता, प्रियजनों, परिजनों, बान्धवों आदि की शारीरिक सेवा भी की जाती है। जैसे हाथ-पांव दबाना, भोजन कराना, कपड़े धोना, और अशक्त हों तो उठाना-बैठाना आदि। परन्तु ज्ञानवृद्धों की कोरी शारीरिक सेवा नहीं की जाती। इसलिए चाणक्य के सूत्र में और मनुस्मृति के श्लोक में 'उप-सेवा' शब्द का प्रयोग हुआ है। उप का अर्थ है निकट और सेवा का अर्थ है पूजा और प्रतिष्ठा। इसलिए उपसेवन का अर्थ होता है निकट बैठकर पूजा या प्रतिष्ठा करना। ज्ञानवृद्धों के निकट बैठने से और आदर पूर्वक उनके उपदेश तथा व्याख्यान सुनने से विद्या प्राप्त होती है और विद्या से मनुष्य विनयशील बनता है, अर्थात् उसमें अनेक सद्गुणों का विकास होता है।

प्राचीनकाल के गुरुकुलों में गुरुओं की इसी प्रकार सेवा की जाती थी। गुरु की शारीरिक सेवा तथा आश्रम की सेवा, इसी उपसेवा का अंग होती थी और यह भी शिष्यों को विनय सिखाती थी। गुरुकुल में अध्ययन करने वाले राजपुत्रों और धनिकपुत्रों को भी यह सेवा करनी पड़ती थी। वृद्धों की सेवा तो विनय का मूल इसीलिए कहा गया है।

वृद्ध सेवया विज्ञानम् ॥७॥

वृद्धों की सेवा से विज्ञान प्राप्त होता है ॥७॥

विज्ञानेनात्मानं संपादयेत् ॥८॥

विज्ञान से अपने को व्यवहार कुशल बनाये ॥८॥

संस्कृत और हिन्दी भाषाओं में ज्ञान शब्द बहुत प्रचलित है। इस शब्द का साधारण जानकारी, बहुज्ञता तथा आध्यात्मिक ज्ञान इन तीन अर्थों में प्रयोग होता है। कहा जाता है: उसे अमुक विषय या भाषा का ज्ञान है, वह ज्ञानवान है, अर्थात् बहुत विषयों के ज्ञान वाला है, वह अज्ञानी है, अर्थात् मूर्ख है। परन्तु ज्ञानी वही कहा जाता है जिसे आध्यात्मिक ज्ञान हो। इसे ब्रह्मज्ञान कहा गया है। वेदों के तीन कांड हैं: ज्ञानकांड, उपासना कांड तथा कर्मकांड। ज्ञानकांड में सभी विषयों के ज्ञान का समावेश है।

विज्ञान शब्द ज्ञान शब्द में 'वि' उपसर्ग लगाने से बना है। इसका अर्थ होता है विशेष ज्ञान। वेदों में यह शब्द नहीं मिलता, परन्तु उपनिषदों में और गीता में बहुत बार आया है। गीता में 'ज्ञान' विज्ञानमास्तिक्यं' अर्थात् ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता (ईश्वर की सत्ता में विश्वास) को ब्राह्मणों का स्वभाव बताया गया है।

आजकल विज्ञान शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'सायन्स' शब्द के पर्याय के रूप में हो रहा है। परन्तु संस्कृत के ज्ञान और विज्ञान शब्दों की कई प्रकार की व्याख्यायें की जाती हैं। गीता कहती है:

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तत् ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ।।
पृथक्त्वेन तु यत् ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तत् ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।

जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब पदार्थों में एक ही अव्यय तत्व है, उसे सात्विक ज्ञान जानो ।

जिस ज्ञान से पृथकता का बोध होता है, कि सारे पदार्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव हैं, उसे राजस ज्ञान जानो।

इन श्लोकों से यह तात्पर्य निकलता है कि अनेकता में एकता का दर्शन वास्तविक ज्ञान है। एकता में अनेकता देखना रजोगुण का स्वभाव है। रजोगुण ही सब वस्तुओं को गति देता है। विश्व की कोई भी वस्तु नित्य, निश्चल तथा अपरिवर्तनीय नहीं। इसे ही विज्ञान कह सकते हैं।

'सर्व खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् इस संसार में सब कुछ ब्रह्म ही है। सारा संसार ब्रह्म का विवर्त है अथवा माया है। यह बोध ज्ञान है। इसके विपरीत संसार के पदार्थों का ज्ञान विज्ञान है। विज्ञान मनुष्य को अहं का बोध कराता है। विज्ञानवाद के अनुसार वस्तुओं की सत्ता विज्ञान रूप है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ज्ञान आत्मविद्या अथवा अध्यात्म विद्या है और विज्ञान पदार्थ विद्या है। यही पदार्थ विद्या 'सायन्स' है।

विज्ञान की इस परिभाषा के प्रसंग में चाणक्य के सूत्र का अर्थ यह होता है कि ज्ञानवृद्धों की सेवा से मनुष्य को पदार्थ विद्या प्राप्त होती है, अर्थात् उसे संसार के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। सांसारिक पदार्थों के ज्ञान से मनुष्य के विचार तथा कार्य वैज्ञानिक ढंग के हो जाते हैं। उसके विचार तथा कार्य सुसंगत तथा सुगठित हो जाते हैं। ठीक ढंग से विचार तथा कार्य करने वाला मनुष्य व्यवहार-कुशल हो जाता है। वह गलतियां नहीं करता तथा उसका जीवन सफल हो जाता है। फिर विज्ञान ज्ञान प्राप्त करने का साधन बन जाता है। न्याय, सांख्य तथा वैशेषिक दर्शनों में विज्ञान को ही ज्ञान का आधार माना गया है।

आधुनिक विज्ञान भी अब ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है। वह उस एकमात्र मौलिक तत्व की खोज में है जो अखिल विश्व का कारण है।

संपादितात्मा जितात्मा भवति ।।९।।
योग्य तथा व्यवहार-कुशल मनुष्य ही अपने को जीतने वाला होता है ।।९।।

जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते ।।१०।।
अपने को जीतने वाला सब प्रकार की संपत्तियां जुटा लेता है ।।१०।।

सातवें और आठवें सूत्रों के अनुसार ज्ञानवृद्धों की सेवा से मनुष्य कार्य-कुशल और व्यवहार-कुशल बन जाता है ।

इस योग्यता को प्राप्त करके मनुष्य अपने को जीत लेता है । वह अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, अर्थात् स्वतंत्र हो जाता है । स्वतंत्र शब्द का आजकल जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, वह उपयुक्त नहीं । स्वतंत्र होने का अर्थ मुक्त होना लगाया जाता है । स्वतंत्र शब्द 'स्व' और 'तंत्र', इन दो शब्दों का यौगिक है । इसका अर्थ होता है अपने ऊपर शासन तथा अनुशासन । स्वतंत्र मनुष्य वह होता है, जो किसी दूसरे की इच्छा या आदेश के अनुसार नहीं चलता, बल्कि अपने आदर्शों तथा विचारों के अनुसार कार्य और व्यवहार करता है । वह स्वच्छन्द नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियों की मनरूपी लगाम उसकी बुद्धि के हाथों में होती है । ऐसा मनुष्य ही जितात्मा हो सकता है । जितात्मा मनुष्य सत्यनिष्ठ, संयमी, कर्त्तव्य-निष्ठ और विवेकशील होता है ।

जितात्मा मनुष्य सारी संपत्तियां जुटा लेता है । इस सूत्र का अभिप्राय यह नहीं कि वह सब संपत्तियां अपने लिए जुटाकर धन-संपन्न हो जाता है । सूत्र में अर्थ शब्द आया है । तीसरे सूत्र में अर्थ को राज्य का मूल बताया गया है । इसलिए यहां अर्थ का तात्पर्य अर्थ-व्यवस्था लगाना उचित प्रतीत होता है । चौथे सूत्र से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है । चाणक्य के सूत्र सामान्य नीति तथा राजनीति से संबंध रखते हैं और इसी प्रसंग में निर्देश देते हैं । इसलिए दसवें सूत्र का यही अभिप्राय है कि जितात्मा लोग राज्य की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ तथा संपन्न बनाते हैं । दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि राज्य तभी धन-संपन्न तथा समृद्ध होता है जब उसका शासन जितात्मा लोगों के हाथों में हो ।

आज के सन्दर्भ में देखें तो दशा इसके बिल्कुल विपरीत नजर आती है । शासन की बागडोर ऐसे लोगों को सौंप दी जाती है, जो जितात्मा होना तो दूर, गुणवान और चरित्रवान भी नहीं होते । इन लोगों का ध्येय स्वार्थ होता है,

अर्थात् अपने लिए अर्थ संचय करना, राज्य के अर्थ की इन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। परिणाम यह होता है कि जहां एक तरफ कुछ लोग प्रचुर धन-संपन्नता का उपभोग करते हैं, वहां दूसरी तरफ जनता गरीबी के बोझ से दबती रहती है।

अर्थसंपत् प्रकृतिसंपदं करोति ।।११।।

अर्थ संपत्ति जनता को संपदायुक्त करती है ।।११।।

इस सूत्र में प्रकृति तथा संपदा ये दो शब्द विवेचनीय हैं।

'प्रकृति' का अर्थ है 'स्वाभाविक' सो 'प्रकृति' का अर्थ होता है 'स्वभाव'। साधारणतया प्रकृति शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। किसी वस्तु के स्वभाव को उसकी प्रकृति कहते हैं।

प्रकृति का दूसरा प्रयोग अंग्रेजी के 'नेचर' शब्द के पर्याय के रूप में किया जाता है। सारा दृश्यमान जगत प्रकृति है। उर्दू में इसे कुदरत या कायनात कहते हैं।

इस शब्द का तीसरा अर्थ दार्शनिक है। सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व रचना के दो मूल तत्व हैं : पुरुष तथा प्रकृति। पुरुष चेतन हैं और प्रकृति जड़। इन दोनों के संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अर्थात् उसमें सत्व, रज तथा तम, ये तीन गुण होते हैं। इन गुणों में बुद्धि, मन, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी नामक तत्वों की रचना होती है।

चाणक्य के इस सूत्र में प्रकृति शब्द का प्रयोग राज्य के नागरिकों अथवा राज्य की जनता के लिए किया गया है। शुक्रनीति में मन्त्रियों तथा राजाधिकारियों को भी प्रकृति की संज्ञा दी गई है।

'अष्टप्रकृतिभिर्युक्तोनृतः' अर्थात् राजा को आठ प्रकृतियों से युक्त होना चाहिए। प्रकृति की इस राजनीतिक परिभाषा का मूल क्या है, सो तो संस्कृत के विद्वान ही बता सकते हैं। किन्तु प्राचीनकाल में ऋषियों तथा विद्वानों की भाषा संस्कृत थी, और जन साधारण की भाषा प्राकृत थी। प्रकृति की भाषा होने के कारण प्राकृत कहलाई, इसलिए प्रकृति शब्द जनता का वाचक माना जा सकता है।

संपदा का अर्थ केवल भौतिक धन-संपत्ति नहीं। गीता में दैवी तथा आसुरी संपदाओं का वर्णन है। तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर और मन की पवित्रता, किसी से द्रोह न करना और अहंकार शून्यता, ये लक्षण जिस मनुष्य में होते हैं वह दैवी संपदा से युक्त होता है।

प्रकृति और संपदा के इन अर्थों के सन्दर्भ में इस सूत्र की यह व्याख्या की जा सकती है कि जब राज्य आर्थिक रूप में संपन्न होता है, तब उसकी जनता को संपदा प्राप्त हो जाती है। राज्य की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ होने से राष्ट्र समृद्ध होता है। उसमें धन-धान्य की कमी नहीं रहती और इसका प्रभाव समूची जनता पर पड़ता है। जब जीवन की आवश्यक वस्तुओं की कमी नहीं रहती, तब सब लोग सुखी और संतुष्ट रहते हैं। परिणाम यह होता है कि अपराध और अनाचार बहुत कम हो जाते हैं। लोग धर्मपरायण, कर्त्तव्य और नीति परायण हो जाते हैं।

तीसरे सूत्र में राज्य को अर्थ का मूल कहा गया है। इसलिए अब यों कह सकते हैं कि जब राज्य के शासन की बागडोर जितेन्द्रिय और व्यवहार-कुशल लोगों के हाथों में होती है तब राष्ट्र धन-संपन्न हो जाता है और जनता को सारी संपदायें प्राप्त हो जाती हैं। इसके विपरीत, जब शासन-व्यवस्था का संचालन करने वाले चरित्रहीन तथा भ्रष्ट होते हैं तब अर्थ-व्यवस्था डांवाडोल हो जाती है और जनता में आसुरी संपदा के लक्षण आ जाते हैं।

प्रकृति संपादाह्यनायकमपि राज्यं नीयते ।।१२।।

जनता संपदा युक्त हो तो नायक के न रहने पर भी राज्य कायम रहता है ।।१२।।

इस सूत्र में आज के लोकतंत्र की पूर्व रेखा है। प्राचीन काल में यह व्यवस्था थी कि राजा के मरने पर या अयोग्य सिद्ध होने पर राज्य का शासन यथापूर्ण चलता रहता था। उसमें कोई व्यवधान नहीं होने पाता था। इसका कारण यह था कि राजा के मन्त्री, राज्य के अधिकारी और राज्य की जनता, तीनों संपदा-युक्त होते थे। यह संपदा किस प्रकार की होती थी, सो ग्यारहवें सूत्र की व्याख्या में बताया जा चुका है। राजा के अभाव में मन्त्री और राज्याधिकारी राजकाज चलाते थे और प्रजा भी अनुशासन में रहती थी। जिन राष्ट्रों में राजा की आनुवंशिक परम्परा होती थी, वहां राजा के मरने पर या रोग-ग्रस्त होने पर या अयोग्य सिद्ध होने पर मंत्री गुण उसके ज्येष्ठ पुत्र को राजा बना देते थे। यदि ज्येष्ठ पुत्र योग्य नहीं होता था तो जो पुत्र योग्य होता उसे गद्दी पर बिठाया जाता था। जिन राष्ट्रों अथवा जनपदों में गणराज्य की व्यवस्था थी, वहां मंत्रिपरिषद राजा का चुनाव करती थी।

चाणक्य नीति कहती है: 'वरं न राज्यं न कुराज्य राज्यं' अर्थात् राज्य न होना अच्छा है, पर बुरा राज्य होना अच्छा नहीं। इससे प्रतीत होता है कि

उस समय लोग कुराज्य को बर्दाश्त नहीं करते थे और अत्याचारी राजा को हटा देते थे।

लोकतंत्री पद्धति में देश का राष्ट्रपति या प्रधान-मन्त्री निर्वाचित होता है। एक का कार्यकाल समाप्त होने पर दूसरा उसकी जगह लेता है। इस अदला-बदली में राज्य बदस्तूर बना रहता है, और राजकाज बिना किसी व्यवधान के चलते रहते हैं। निर्वाचित सदस्यों में से ही राज्य के अन्य मन्त्रियों का चयन होता है। चुनाव की यह सारी प्रक्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि जनता किसे अधिक मत प्रदान करती है। यहां चाणक्य के सूत्र का महत्व सामने आता है। यदि जनता संपदा-युक्त हो तो वह अच्छे लोगों को अपने प्रतिनिधि चुनती है। इसी प्रकार राष्ट्रपति या प्रधान-मंत्री का पद रिक्त होने पर मंत्रि-परिषद या सत्तारूढ़ पार्टी नया नेता चुनती है। यहां भी दैवी या आसुरी संपदा का प्रभाव पड़ता है। आसुरी संपदा की प्रधानता वाले निर्वाचन से राजकाज तो चलता रहता है, पर वह सुराज्य न होकर कुराज्य बन जाता है और जनता त्रस्त हो जाती है।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि राज-व्यवस्था सुचारू रूप में चलती रहे, इसके लिए जनता का चरित्रवान होना आवश्यक है। जब जनता का ही चरित्र भ्रष्ट हो तो उसके चुने हुए प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसीलिए एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ ने कहा है कि जनता को वैसे ही शासक मिलते हैं जैसा उसका माजना होता है।

वही राज्य स्थिरता से उन्नति करता है जिसकी प्रकृति में, अर्थात् मंत्रीगण, राज्याधिकारी तथा जनता तीनों में संपदा के लक्षण हों।

प्रकृतिकोपः सर्वकोप्येभ्यो गरीयान् ॥१३॥

जनता का कोप सारे कोपों से अधिक भारी होता है ॥१३॥

यह सूत्र राजाओं को चेतावनी देता है कि प्रजा का कोप बहुत भयंकर होता है। इससे होशियार रहो और प्रजा को सुखी तथा संतुष्ट रखो। यह चेतावनी संसार भर के शासकों पर लागू होती है, शासन-प्रणाली चाहे जैसी हो। आज के युग में इसका जितना महत्व है उतना पुराने जमानों में नहीं था।

पुराने इतिहास में ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं कि अयोग्य तथा अत्याचारी राजा को गद्दी से उतार दिया गया अथवा मार दिया गया। परन्तु प्रजा के रोष से राज्यक्रान्ति का उदाहरण नहीं मिलता। कृष्ण ने अत्याचारी कंस का वध किया था। राजा लोग देश-विजय के लिए युद्ध किया करते थे और जो

जीत जाता था वह स्वामी वन जाता था। परन्तु जनजीवन पर इसका वहुत कम प्रभाव पड़ता था, क्योंकि शासन-तन्त्र आज जैसा विकसित नहीं था और भारत के गांवों में तो पंचायती राज की व्यवस्था थी, जो लोकतन्त्र का छोटा-सा रूप था।

लोकतन्त्र की आधुनिक संसदीय प्रणाली का उद्भव सवसे पहले इंगलैण्ड में हुआ, ऐसा माना जाता है। वहां के राजा चार्ल्स प्रथम ने जनता को तुष्ट करने के लिए पार्लियामेन्ट कायम की थी, पर वह अपनी मनमानी करने से वाज़ नहीं आया। नतीजा यह हुआ कि पार्लियामेन्ट ने उसे देशद्रोही करार दिया और सन् 1649 में उसका सिर काट दिया गया।

अमेरिका आरम्भ में इंग्लैण्ड का उपनिवेश था। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के इस उपनिवेश पर लागू किये गये कुछ कानूनों का अमेरिका के प्रवासियों ने विरोध किया। इंग्लैण्ड ने इसे दवाने के लिए फौजें भेजीं तो अमेरीकावासी भी युद्ध के लिए तैयार हो गये। यह युद्ध, जिसे अमेरिकी क्रान्ति कहा जाता है, सन् 1775 से 1795 तक चली और, अन्त में इंग्लैण्ड को अमेरिका की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

इसके कुछ ही वर्षों वाद फ्रान्स में राज्यक्रान्ति हुई। वहां के राजा सोलहवें लुई के शासन से जनता त्रस्त हो गयी, तो नेशनल असेम्वली ने उसे गद्दी से उतार कर मौत के घाट उतार दिया। क्रान्ति का यह संघर्ष सन् 1749 से 1795 तक चला था।

रूस की क्रान्ति इस युग की सवसे वड़ी क्रान्ति मानी जाती है। वहां की जनता ज़ारों के अत्याचारों से तंग आ गयी थी। लेनिन ने ज़ारशाही से विद्रोह का झंडा उठाया और सन् 1917 में ज़ार निकोलस द्वितीय को गद्दी छोड़नी पड़ी। लेनिन, स्तालिन और त्रातस्की ने वोलशेविक राज्य की घोषणा कर दी। सन् 1918 में ज़ार की हत्या कर दी गई और सारे रूसी साम्राज्य पर सोवियत सोशलिस्ट रिपव्लिक्स नामक सत्ता का शासन हो गया।

भारत में ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फैंकने के लिए सन् 1857 में विद्रोह हुआ परन्तु उसे कुचल दिया गया। किन्तु भारतवासियों की स्वाधीनता की भावना कम नहीं हुई वल्कि वढ़ती ही रही और अन्त में महात्मा गांधी के नेतृत्व में आजादी की लड़ाई में हार कर ब्रिटेन सन् 1947 में भारत छोड़कर चला गया।

सवसे ताजा उदाहरण ईरान का है जहां की जनता ने कुपित होकर शाह को गद्दी छोड़कर भागने पर मजवूर कर दिया।

इन घटनाओं से यही परिणाम निकलता है कि जब शासन में अयोग्यता, अकुशलता तथा भ्रष्टाचार से जनता क्षुब्ध हो जाती है तब उसके रोष का बांध टूट जाता है और वह विद्रोह पर उतारू हो जाती है। इसलिए देश के शासकों को भारवि की यह उक्ति ध्यान में रखनी चाहिए।

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिप्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः॥

जिस प्रकार पेड़ की शाखाओं की रगड़ से उत्पन्न अग्नि सारे पर्वत को जला डालती है, उसी प्रकार प्रजा के छोटे-से-छोटे कोप से उत्पन्न विग्रह सारी प्रभुसत्ता को नष्ट कर देता है।

अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान् ॥१४॥

अविनीत को राजा बनाने से किसी को राजा न बनाना बेहतर है ॥१४॥

जिस मनुष्य में विनय का गुण न हो उसे अविनीत कहते हैं। विनय शब्द की परिभाषा पाँचवें सूत्र की व्याख्या में की जा चुकी है।

राजा को विनयशील होना चाहिए, इस युग के संदर्भ में यों कह सकते हैं कि शासन के अध्यक्ष तथा समूचे शासक वर्ग को विनयशील होना चाहिए। इसलिए शासकों के निर्वाचन में जनता को ऐसे लोगों का चयन करना चाहिए जो विनयशील हों। यह तभी संभव है जब जनता में भी विनय के गुण हों, अर्थात वह विवेकशील और अपने कर्तव्य को अच्छी तरह समझने वाली हो।

प्राचीनकाल में अयोग्य राजा को हटाने पर उसके मंत्री राजकाज संभाल लेते थे और दूसरे योग्य पुरुष को गद्दी पर बिठा देते थे। परन्तु अब ऐसा नहीं होता। किसी सरकार का पतन होने पर राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री और उसके नियुक्त किये हुए सब मंत्री अपदस्थ हो जाते हैं और नया चुनाव कराया जाता है। लोकतंत्री पद्धति में चुनाव पार्टी-प्रणाली पर होते हैं। जो पार्टी जीत जाये उसी की सरकार बनती है। इसलिए चुनावों में खड़े किये जाने वाले लोगों की योग्यता गौण हो जाती है, या देखी ही नहीं जाती। चुनावों का भी कोई नैतिक आधार नहीं होता। जीतने के लिए सब तरह के हथकंडे अपनाये जाते हैं। वोटरों को पैसा बांटा जाता है और डराया-धमकाया भी जाता है। जनता भी जातिगत, सांप्रदायिक या अन्य भावनाओं के वशीभूत हो जाती हैं। नतीजा यह होता है कि अविनीत लोगों के हाथों में सत्ता की बागडोर आ जाती है।

इस दृष्टि से आज के संदर्भ में इस सूत्र का यह अर्थ लगाता जा सकता है कि अविनीत जनों को सत्तारूढ़ करना अराजकता से भी बुरा है। अविनीत

शासकवर्ग शासनतंत्र को ठीक तरह नहीं चला सकता। इससे शासन-व्यवस्था बिगड़ जाती है और, जैसाकि पिछले सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है, शासन-व्यवस्था बिगड़ने से देश की अर्थ-व्यवस्था भी डांवाडोल हो जाती है जिसका बुरा परिणाम जनता को भुगतना पड़ता है और वह दुखी हो जाती है। चाणक्यनीति कहती है: कुराज राज्येन कुतः प्रजासुखं अर्थात बुरी शासन व्यवस्था वाले राज्य में प्रजा को सुख नहीं मिल सकता।

सारांश यह है कि जिस देश का शासक वर्ग चरित्रहीन होता है, उस देश में अराजकता जैसी हालत हो जाती है। देश में भ्रष्टाचार, दुराचार और कुकृत्य फैल जाते है और इन पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। ऐसी अवस्था ज्यादा दिन रहे तो जनता कुपित होकर क्रान्ति कर देती है, या हौसलेवाज लोग जवर्दस्ती सत्ता छीन लेते हैं, या सैनिक शासन हो जाता है, या कोई तानाशाह सत्तारूढ हो जाता है।

सम्पाद्यात्मानमन्विच्छेत् सहायान् ॥१५॥

राजा अपने को संपदायुक्त वनाकर सहायकों को नियुक्त करे ॥१५॥

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि सवसे पहले तो राजा या शासक को जितेन्द्रिय, धर्म परायण, कर्तव्य परायण और सव प्रकार से योग्य होना चाहिए। फिर उसे अपनी सहायता के लिए मंत्रियों का चयन करना चाहिए। यदि शासक ही संपदा विहीन हो, चरित्रहीन हो, तो मंत्रियों की नियुक्ति में भी वह अपने जैसे ही लोगों को प्रधानता देगा। वह ऐसे लोगों को अपने मंत्री-मण्डल में शामिल नहीं करना चाहेगा जो उसकी हां में हां मिलाने वाले न हों और निर्भय तथा निष्पक्ष होकर उसे ऐसी सलाह दें जो देशहित में हो।

आज हमारे देश में ऐसी ही हालत नजर आ रही है। जो प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री वन जाता है, उसका उद्देश्य केवल यह होता है कि उसकी कुर्सी सलामत रहे। यह उद्देश्य प्रधान होता है और राज्य का हित गौण होता है। मंत्रियों की नियुक्ति में वह यह नहीं देखता कि ऐसे योग्य पुरुषों को लिया जाये जो उसे उचित परामर्श दे सकें। वह तो अपने जी-हुजूरों को तलाश करता है जो उसके प्रत्येक विचार और कार्य का समर्थन करें। जिनके विरोध का कुछ खतरा होता है उन्हें भी मंत्री वना दिया जाता है और उन्हें नाम मात्र के विभाग सौंप दिये जाते हैं। इस प्रकार नियुक्त किये हुए मंत्री भी अपनी कुर्सी वनाये रखने की जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं, या यह सोचकर कि न जाने कव कुर्सी छिन जाये, वहती गंगा में हाथ धोने लगते हैं। नतीजा यह होता है कि सारा शासन और प्रशासन निकम्मा और भ्रष्ट हो जाता है।

नासहायस्य मंत्रनिश्चयः ।।१६।।

(योग्य मंत्रियों की) सहायता के विना राजा अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय नहीं कर सकता ।।१६।।

राजकाज के बारे में कोई भी निर्णय लेने से पहले शासक को अपने योग्य मंत्रियों से सलाह लेनी चाहिए। यह तभी संभव है जब शासक स्वयं विनयशील हो और अपने मंत्रीमंडल में योग्य जनों को ही शामिल करे। फिर मंत्रियों की उचित सलाह को माने।

कहने को तो शासन के सारे मामलों पर मंत्रीमंडल में विचार किया जाता है, परन्तु बहुत करके प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री की राय को ही निर्णायक माना जाता है। अयोग्य मंत्री तो उचित सलाह दे ही नहीं सकते और देना भी चाहें तो प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री की नाराजगी का खतरा मोल नहीं ले सकते, क्योंकि वही उनका भाग्य-विधाता होता है। कोई मंत्री योग्य भी हो, तो वह स्पष्ट बात कहने में झिझकता है। वह अंधों की महफिल में मशाल दिखाने वाले की तरह पागल समझा जाता है। ज्यादा चीं-चपड़ करे तो उसका पत्ता काट दिया जाता है। स्वाभिमानी हो तो खुद ही इस्तीफा दे देता है।

नैकं चक्रं परिभ्रमति ।।१७।।

अकेला पहिया नहीं घूमता ।।१७।।

यह सूत्र सोलहवें सूत्र का ही विस्तार है। इसका अर्थ यह है कि गाड़ी एक पहिये पर नहीं चल सकती।

राजा और उसकी मंत्री परिषद्, ये राज्य की गाडी के दो पहिये हैं। अकेले राजा या शासक के आधार पर राज्य की गाडी नहीं चल सकती। इसलिए शासक को सारा राजकाज मंत्रियों की सलाह और सहायता से चलाना चाहिए। जब कोई शासक मंत्रियों की राय की परवाह नहीं करता और अपनी मर्जी के मुताबिक चलता है, तब राज्य की शासन-व्यवस्था ठप्प हो जाती है। अर्थ शास्त्र में चाणक्य ने कहा है :

सहायकं साध्यं राज्यं चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ।।

राजकाज (मंत्रियों की) सहायता से ही सधता है। इसलिए शासक मंत्रियों की राय ध्यान से सुनें और तदनुसार आचरण करें।

सहायः समदुःखसुखः ।।१८।।

सहायक अर्थात मंत्री, दुख और सुख दोनों में समान रूप से साथ देता है ।।१८।।

दुनिया में सुख के साथी तो सभी होते हैं, पर दुख में साथ देने वाले बहुत कम मिलते है। यह तो सामान्य व्यवहार है परन्तु इस सूत्र का विषय राजनीति से संबधित है।

पन्द्रहवें सूत्र की व्याख्या में बताया जा चुका है कि राजा अर्थात शासक को स्वयं तो गुणवान और चरित्रवान होना ही चाहिए साथ ही ऐसे ही लोगों को मंत्रीमंडल में शामिल करना चाहिए क्योंकि ये ही सुख और दुख में उसका साथ दे सकते हैं।

आजकल मंत्रियों की नियुक्ति गुणों तथा योग्यता के आधार पर नहीं की जाती। चूंकि चुनावों में जीतने वाली पार्टी की सरकार बनती है, इसलिए मंत्रीमंडल में पार्टी के ही सदस्यों को लिया जाता है। इसके अलावा यह देखा जाता है कि किस आदमी का अपने क्षेत्र या संप्रदाय या वर्ग में कितना प्रभाव है और कितने वोट जुटा सकता है। फिर यह भी खयाल रखा जा सकता है कि मन्त्री बनाया जाने वाला आदमी नेता के आगे सिर झुकाता रहे और उसकी खुशामद करता रहे। ऐसे लोगों की वफादारी पर भरोसा नहीं किया जा सकता। नेता पर कोई विपत्ति आये या वह पंदच्युत हो जाये, तो ये लोग उसका साथ छोड़कर भाग जाते हैं।

हमारे देश की विकृत राजनीति में देखने में आ रहा है कि राजनीति-बाज लोग किसी के वफादार नहीं होते। वे तो केवल पद के भूखे होते हैं और जिधर भरी परात देखी उधर ही दौड़ जाते हैं।

मनुस्मृति ,याज्ञवल्क्य स्मृति, शुक्र नीति, वाल्मीक रामायण आदि ग्रंथों में कहा गया है कि मन्त्री को कुलीन, शास्त्रविद, गुणवान, शीलवान तथा शूरवीर होना चाहिए। आजकल इन बातों को नहीं देखा जाता। यही कारण है कि शासक को उचित सलाह और सहायता नहीं मिलती और राज्य एक पहिये की गाडी की तरह ठेला जाता है।

मानो प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मंत्रमुत्पादयेत् ।।१६।।

अपने को बुद्धिमान मानने वाला राजा प्रतिकूल संभावनाओं पर विचार करके मंत्र उत्पन्न करे। ।।१६।।

संस्कृत भाषा में मंत्र के दो अर्थ हैं : गुप्त भाषण तथा सलाह या परामर्श। इसलिए मंत्री का अर्थ होता है सलाह देने वाला और सलाह करना मन्त्रणा कहलाता है। इस सूत्र में मंत्र शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थो में हुआ है।

शासक वर्ग राज्य की उन्नति और समृद्धि के उपाय करता है और उनकी योजनाएं बनाता है। कुशल और योग्य शासक इन योजनाओं के प्रतिकूल

संभावित परिस्थियों पर भी विचार करता है और मंत्रियों से परामर्श करता है। जैसे किसी वर्ष टैक्सों से वसूली की राशि निर्धारित की गयी। तब यह भी विचार करना चाहिए कि यदि किसी कारण से यह लक्ष्य पूरा नहीं हुआ तो क्या उपाय किया जायेगा। इसी प्रकार अनाज के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करते समय इस बात का भी विचार करना चाहिए कि यदि वर्षा न हुई तो इस समस्या से कैसे निवटा जायेगा।

द्वितीय मंत्र उत्पन्न करने का अभिप्राय यही है कि बुद्धिमान राजनेता पहले तो संभावित विपरीत परिस्थितियों पर विचार करे और फिर मंत्रियों से मंत्रणा करे। कोई कार्य उचित है अथवा अनुचित उसके बारे में भी ऐसा ही करे। जो नेता ऐसा नहीं करता यह बाद में पछताता है। कहा भी है : बिना विचारे जो करे, सो पाछै पछताय।

अविनीतं स्नेहमात्रेण न मंत्रे कुर्वीत ।।२०।।

अविनीत मनुष्य से केवल स्नेही होने के कारण मंत्रणा नहीं करे ।।२०।।

शासनाध्यक्ष चाहे तानाशाह हो, या राष्ट्रपति हो या प्रधानमन्त्री हो या मुख्यमन्त्री हो, राजकाज के गंभीर मामलों पर मंत्रियों से या अन्य लोगों से मंत्रणा करता है। परन्तु इस मंत्रणा में वह उन्हीं लोगों को शामिल करता है जो उसके मुंहलगे हों और उसके स्नेह के पात्र हों। उसे इन्हीं लोगों पर भरोसा रहता है और वह समझता है कि ये ही लोग उसे उचित और उपयुक्त सलाह दे सकते हैं। वह यह नहीं देखता कि ये लोग विनयशील हैं या नहीं।

आज की राजनीति ऐसी विकृत हो गई है कि उसमें स्वार्थी और अविनीति लोग ही आगे आते हैं और इन्हीं की पूछ होती है। ये लोग निरे मौकापरस्त होते हैं। न किसी के दोस्त होते हैं, न दुश्मन। इनकी दोस्ती और दुश्मनी मौके-मौके पर उनके अपने मतलब के अनुसार बदलती रहती है।

जाहिर है कि ऐसे अविनीत लोग कोई भी उचित और उपयुक्त सलाह नहीं दे सकते, क्योंकि ये तो अपने नेता का रुख देखकर बात करते हैं। अपनी चाटुकारिता से ये लोग नेता के स्नेहभाजन भी बन जाते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे लोगों की अध-कचरी या गलत सलाह से नेता के निर्णय भी गलत हो जाते हैं और उसका खमियाजा देश को और राष्ट्र को भुगतना पड़ता है।

तुलसीदास ने कहा है :

मंत्री गुरु अरु वैद जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरम तन तीनि कर होई बेग ही नास ।।

मंत्री, गुरु और वैद्य यदि भय से या लाभ की आशा से ठकुर-सुहाती बात कहते हैं, तो राज्य का या धर्म का या शरीर का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।

श्रुतवंतमुपधाशुद्धं मंत्रिणं कुर्यात ।।२१।।

वेद-शास्त्रों में पारंगत तथा उपधा से शुद्ध जनों को मंत्री नियुक्त करे ।।२१।।

'उपधा-शुद्ध' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक-छल-कपट से रहित जन। दूसरा, ऐसा जन जिसकी लोभ, प्रलोभन, आदि उपायों से परीक्षा की गयी हो और वह उस परीक्षा में खरा उतरे। इसलिए इस सूत्र को बीसवें सूत्र का ही सिलसिला समझा जा सकता है। जिस मंत्री में ये गुण हों, वही नेता को सही सलाह दे सकता है, क्योंकि एक तो वह ज्ञानवान और अनुभवी होता है, और दूसरे उसकी राय निर्भीक, निष्पक्ष, निस्वार्थ और लाग-लपेट से रहित होती है।

इसलिए मंत्रियों की नियुक्ति करते समय इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

मंत्रमूलाः सर्वारंभाः ।।२२।।

भविष्य में आरम्भ किये जाने वाले कार्यों का आधार मंत्र होता है ।।२२।।

कोई भी कार्य आरम्भ करने से पहले उसके सांगोपांग पर पूरी तरह विचार करना चाहिए और उसके बारे में मंत्रणा करनी चाहिए। इस तरह बनायी गयी पूर्वरेखा ही उस कार्य की आधार-शिला होती है। कौटलीय अर्थशास्त्र में कहा है :

कर्मणामारंभोपायः पुरुषद्रव्यसंपत देशकाल विभागो विनिपात प्रतिकारः कार्य सिद्धिश्चेति।

कार्यसिद्धि के लिए चार विषयों पर विचार करना चाहिए : कार्य को आरम्भ करने के उपाय, आवश्यक कार्यकर्ता तथा धन-साधन जुटाना, स्थान तथा समय के बारे में उचित निर्णय तथा विघ्न-बाधाओं को दूर करना।

अंग्रेजी की कहावत है : 'वैल बिगन इज़ हाफ डन', अर्थात् जो काम ठीक तरह शुरू किया जाता है वह आधा तो उसी समय सम्पन्न हो जाता है। इसलिए कोई भी काम जल्दबाजी में या हड़बड़ी में शुरू नहीं करना चाहिए। जिस कार्य में आरम्भ-दोष रह जाता है, उसे पूरा करने में बहुत कठिनाइयां आती हैं।

कार्य आरम्भ करने से पहले उसके लिए जितने आदमियों की जरूरत हो और जितना धन तथा अन्य साधन आवश्यक हों उन सबका प्रबन्ध कर लेना चाहिए। बीच में इनकी कमी पड़ जाये तो काम रुक जाता है।

कौनसा कार्य किस स्थान पर करना है और उसके लिए उपयुक्त समय कौनसा है, इन बातों पर भी विचार करना जरूरी होता है। यदि केवल राजनीतिक कारणों से किसी कार्य के लिए स्थान का चयन किया जाता है और समय निर्धारित किया जाता है, तो वह कार्य या तो अधूरा रह जाता है, या वांछित फल नहीं देता। हमारे देश में बहुत करके ऐसा ही हो रहा है। चुनावों के समय सत्तारूढ़ पार्टी किसी क्षेत्र के लोगों को खुश करके उनके वोट प्राप्त करने के लिए विकास के कार्य आरम्भ कर देती है। बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए भी राजनीतिक आधार पर विशेष स्थानों को प्राथमिकता दी जाती है। जिस मुख्यमन्त्री का राजनीतिक प्रभाव अधिक हो, वह बाजी मार लेता है। यही कारण है कि विकास के क्षेत्र में देश के विभिन्न प्रदेशों में समतुलन नहीं हो पाया है।

प्रत्येक कार्य में बीच-बीच में कुछ विघ्न पड़ जाते हैं और कुछ बाधायें खड़ी हो जाती हैं। इसलिए कार्य को योजना के अनुसार पूरा करने के लिए सब सम्भावित विघ्न-बाधाओं की पहले ही कल्पना कर लेनी चाहिए और उन्हें दूर करने के उपाय भी निश्चित कर लेने चाहिए।

यही वह मंत्र है जो कार्य को सफल बनाता है।

चाणक्यनीति का एक श्लोक है :

कःकालः कानि मित्राणि को देशः को व्ययागमौ।
कस्याहं का च मे शक्तिः इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

समय कैसा है, मेरे मित्र कौन-कौन हैं, स्थान कैसा है, क्या व्यय है और क्या आय है, मैं कौन हूं और मेरी शक्ति कितनी है—इन बातों को बार-बार सोचते रहना चाहिए।

इस श्लोक में बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को कोई भी काम शुरू करने से पहले किन-किन बातों का विचार करना चाहिए।

ये सारी बातें राज्य या राष्ट्र पर भी लागू होती हैं।

इसलिए किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले मंत्रणा कर ली जाती है, तो वह कार्य सफल हो जाता है।

मन्त्र रक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति ।।२३।।

मन्त्र विस्रावी कार्यं नाशयति ।।२४।।

मन्त्र की रक्षा करने से कार्य सिद्ध होता है ।।२३।।

मन्त्र को वाहर निकालने वाला कार्य को नष्ट कर देता है ।।२४।।

इन सूत्रों में प्रयुक्त मंत्र शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं : मंत्रणा और गुप्त वातें।

वाईसवें सूत्र में कहा गया है कि किसी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व उस पर मंत्रणा करनी चाहिए। इस मंत्रणा से कार्य की योजना तथा रूपरेखा वनती है।

मंत्रणा के परिणाम स्वरूप जो निर्णय किये जायें, उनका पूरी तरह पालन होना चाहिए। तभी वह कार्य सिद्ध हो सकता है। परन्तु यदि इन निर्णयों पर ध्यान न दिया जाये और कार्य के लिए जिम्मेदार लोग अपनी मनमानी करने लगें, तो कार्य असफल हो जाता है।

कार्य की योजना की वारीक वातें केवल अधिकारी लोगों तक ही रहनी चाहिए, अर्थात् उनकी जानकारी तकनीकी लोगों को ही होनी चाहिए, क्योंकि वे ही कार्य की वारीकियों को समझते हैं। अकुशल लोगों को मालूम हो जाये तो वे अनधिकार चेष्टा करके हानि पहुंचा सकते हैं। भीतरघाती यानी अन्दरूनी तोड़-फोड़ करने वाले समाज-कंटक या देशद्रोही भी इस जानकारी का लाभ उठा सकते हैं। इसलिए जो मनुष्य कार्य की वारीक तथा अन्तरंग बातों को प्रकट करता है, वह कार्य को हानि पहुँचाता है।

राज्य के किसी कार्य या नीति के वारे में जव मंत्रणा होती है, तव उसमें कई तरह के विचार प्रकट किये जाते हैं। विदेशों के प्रति क्या नीति अपनायी जाये, युद्ध का संचालन किस ढंग से किया जाये, अपराधों को रोकने के लिए प्रशासन को क्या आदेश और निर्देश दिये जायें, ये सव ऐसी वातें है जिन्हें गोपनीय रखा जाता है। इनके प्रकट होने से सारे भेद खुल जाते हैं और विकट स्थिति वन जाती है। इसलिए उन्हें गोपनीय रखा जाता है। मंत्ररक्षा का यही अभिप्राय है। इसी वात को ध्यान में रख कर यह नियम वनाया गया है कि मंत्री-मण्डल में होने वाली चर्चाएं गोपनीय होती हैं। उन्हें प्रकट करना गोपनीयता को भंग करना माना जाता है और यह व्यवहार अनुचित माना जाता है। इन चर्चाओं को प्रकट करने के लिए किसी मंत्री को वाध्य नहीं किया जा सकता। जो मंत्री इस नियम को तोड़ता है वह हानि पहुँचाता है। विदेश नीति तथा रण नीति की

गोपनीय बातें प्रकट होने से तो देश की अपार हानि होती है। ऐसा करने वाला देशद्रोही होता है।

प्रमादाद् द्विषतां वशमुपयास्यति ॥२५॥
सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः ॥२६॥
मन्त्र की रक्षा में असावधानी से राज्य शत्रुओं के
वश में चला जाता है ॥२५॥
मन्त्र को निकलने के सारे द्वारों को रोक कर
उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥२६॥

इन सूत्रों में मंत्र का सम्बन्ध उन बातों से है जो शत्रुओं को मालूम नहीं होनी चाहिए। पुराने जमाने में छोटे-छोटे राज्य होते थे जो आपस में लड़ा करते थे। इसलिए युद्ध सम्बन्धी बातें गोपनीय रखी जाती थीं। सेना की शक्ति कितनी है, अस्त्र-शस्त्र का कितना भण्डार है, किस मोर्चे पर आक्रमण करना है, आदि बातों का शत्रु को पता लग जाये, तो वह जवाबी कार्रवाई कर सकता है।

अब छोटे-छोटे युद्धों का खतरा तो नहीं रहा, पर बड़ी शक्तियों की लाग-डाट ऐसी चल रही है कि कभी भी विश्व-युद्ध भड़क सकता है। इसलिए सब देशों को अपनी प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसकी अनेक बातें गुप्त रखी जाती है। ये बातें हैं : सेना का संगठन और संचालन, सेना के अड्डों तथा शस्त्र-भण्डारों के स्थान, जाने-माने अस्त्र-शस्त्रों के अलावा गुप्त रूप से निर्मित विशेष प्रकार के मारक तथा विनाशक अस्त्र-शस्त्र, गुप्तचर संगठन इत्यादि।

प्रत्येक देश में दूसरे देशों के गुप्तचर रहते हैं जो प्रतिरक्षा सम्बन्धी जानकारी की टोह में रहते हैं। देश के अधिकारी जरा भी असावधान रहें तो गुप्त भेद शत्रु देशों के पास पहुँच जाते हैं।

इसलिए राज्य का कर्तव्य होता है कि मंत्र अर्थात् गुप्त बातों की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करे और उनके प्रकट होने की जितनी भी संभावनाएँ हों, उनका उपाय करें। प्रत्येक देश में ऐसे दुष्ट लोग होते हैं जो किसी कारण सरकार से रुष्ट होने के कारण शत्रु को भेद बता देते हैं। कुछ देश-द्रोही धन के लालच में भी देश की गुप्त बातें शत्रु को बेच देते हैं। ऐसे लोगों पर पूरी निगाह रखना जरूरी होता है। इनके अलावा गुप्त बातों की मंत्रणा में अविश्वनीय तथा संदिग्ध लोगों को शामिल नहीं करना चाहिए। विदुर नीति कहती है :

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन, वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मंत्रं न कुर्यात्, न दीर्घसूत्रैः रभसैश्चारणैश्च॥

पण्डित चार बातों को जाने जो राजा को छोड़नी चाहिए। अल्प-बुद्धि वालों, काम में ढील करने वालों, जानकारी प्राप्त करने में उत्सुकता दिखाने वालों तथा झूँठी प्रशंसा करने वालों से मंत्रणा नहीं करे।

आचार्य बृहस्पति का उपदेश है :

बालं दुष्टमसाहसिकं अज्ञान शास्त्रं मंत्रे न प्रवेशयेत्

बालक, दुष्ट, साहसहीन तथा शास्त्रों से अनभिज्ञ को मंत्रणा में शामिल नहीं करें।

मन्त्र सम्पदा हि राज्यं वर्धते ॥२७॥

श्रेठतमां मन्त्र गुप्तिमाहुः ॥२८॥

मन्त्र की सम्पत्ति ही राज्य को समृद्ध करती है ॥२७॥

मन्त्र की गोपनीयता को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥२८॥

राज्य की गोपनीय बातों को सुरक्षित रखना और मंत्रणा के अनुसार कार्य करके उन्हें सफल बनाना—ये दोनों राज्य की समृद्धि के मुख्य हेतु होते है। इसलिए राजनीति के आचार्यों ने कहा है कि मंत्र ही राज्य की सुरक्षा और उन्नति का उत्तम साधन होता है। विदुर नीति कहती है :

चिकिर्षितं विप्रकृतं च यस्य नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च नाल्पोप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥

जिस मनुष्य के चाहे हुए तथा विगड़े हुए कार्य को दूसरे लोग तनिक भी नहीं जानते, उसका कोई भी काम गोपनीयता तथा मंत्रणा की रक्षा और भली प्रकार अनुष्ठान के कारण, नहीं विगड़ता।

कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्र ॥२९॥

कार्यान्ध मनुष्य के लिये मन्त्र दीपक के समान होता है ॥२९॥

कार्यान्ध उसे कहते हैं जिसे कार्य के सम्पादन का कोई उपाय नहीं सूझता हो, अर्थात् जो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया हो। ऐसे मनुष्य को मंत्र की सहायता लेनी चाहिए। यह मंत्र दो तरह का हो सकता है। पहले तो मनुष्य स्वयं गम्भीर विचार करे और फिर उसके बारे में दूसरों से मंत्रणा अर्थात् परामर्श और विचार-विमर्श करे। नीति शास्त्र कहता है :

'सम्मंत्र्य सुरिभिः सार्धं कर्म कुर्योद्विचक्षणः'

अर्थात् बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह विद्वानों के साथ मिलकर मंत्रणा करके कार्य करें।

राज्य के शासकों के सामने ऐसी समस्यायें आती रहती है कि उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। ऐसी अवस्था में उन्हें स्वयं गूढ़ विचार करना चाहिए और सुयोग्य मंत्रियों से सलाह लेनी चाहिए।

मन्त्र चक्षुषा परछिद्राण्यवलोकयन्ति ॥३०॥

मन्त्र के नेत्रों से शत्रुओं की कमजोरियों को जान लेते हैं ॥३०॥

नीतिशास्त्रों के अनुसार किसी देश का सीमावर्ती पड़ोसी देश शत्रु होता है, पडोसी देश की दूसरी सीमा पर स्थित देश मित्र होता है और उसके परे जो देश हो वह उदासीन माना जाता है। अब यह परिभाषा बदल गयी है और शत्रुता तथा मित्रता के अन्य कारण बन गये हैं। अब संसार के देश गुटों में बंट गये हैं। एक गुट के देश दूसरे गुट के देश के प्रति वैर की भावना रखते हैं। प्रतिपक्षी गुट के देश आक्रमण तो नहीं करते परन्तु युद्ध की सम्भावना बनी रहती है। शीत-युद्ध और आर्थिक युद्ध चलते रहते हैं। इसलिए यह 'आवश्यक हो जाता है कि सब देश एक दूसरे की कमजोरियों का पता लगाते रहें, ताकि युद्ध के समय इनका लाभ उठाया जा सके। इन कमजोरियों का पता राज्य का गुप्तचर विभाग लगाता है। सो शासकों को इस बारे में गुप्तचर विभाग के अधिकारियों तथा मंत्रियों से निरन्तर मंत्रणा करनी चाहिए।

मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः ॥३१॥

मन्त्रणा के समय ईर्ष्या-द्वेष नहीं करना चाहिए ॥३१॥

जब किसी विषय पर मंत्रणा की जाती है, तब कई प्रकार के विचार प्रकट किये जाते हैं। ये विचार परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। शासक को सारी बातें शान्ति और निष्पक्ष भाव से सुननी चाहिए। वाद-विवाद में एक-दूसरे पर दोषारोपण नहीं होना चाहिए। जो हितकारी बात हो उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। कहा है : 'युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि' अर्थात् बालक भी कोई युक्तिसंगत बात कहे तो उसे ग्रहण करना चाहिए।

लोकतन्त्री शासन प्रणाली में शासनाध्यक्ष अपने मंत्रियों से तथा अपनी पार्टी के विश्वसनीय लोगों से मंत्रणा करता है। वह विपक्ष के लोगों से राज्य के गम्भीर मामलों में सलाह नहीं लेता। चाणक्य के इस सूत्र की इस प्रसंग में व्याख्या की जाये, तो यह अर्थ निकलता है कि सत्तारूढ़ पार्टी के नेता को ईर्ष्या-द्वेष की भावना छोड़कर विपक्ष के अनुभवी लोगों से भी सलाह करनी चाहिए। सत्तारूढ़ पार्टी ही देशभक्ति की इजारेदार नहीं होती। वे ऐसी सलाह कभी

नहीं दे सकते जो देश के लिए घातक अथवा हानिकारक हो। तात्पर्य यह है कि देश की गम्भीर समस्याओं के बारे में सत्तापक्ष को विपक्ष को भी विश्वास में लेना चाहिए और उनकी बात बिना ईर्ष्या-द्वेष के सुननी चाहिए। हितकारी बात कभी-कभी अप्रिय भी होती है। इसलिए कोई ऐसी बात कहे तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिए।

त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः ।।३२।।

तीनों का भली प्रकार परस्पर विश्वास करके एकमत होना मन्त्रणा को सफल बनाता है ।।३२।।

शासनाध्यक्ष, उसके मंत्री तथा अन्य अनुभवी जन, ये तीनों ईर्ष्या-द्वेष को छोड़कर एक-दूसरे पर विश्वास करते हुए मंत्रणा करें और एक निर्णय पर सहमत हो जायें तो जिस समस्या के बारे में मंत्रणा की गयी है वह हल हो जाती है तथा जिस कार्य के लिए मंत्रणा की गयी है, वह सफल हो जाती है।

मंत्रणा के समय विभिन्न मत प्रकट किये जाते हैं। उन पर वाद-विवाद के बाद सबको एक निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। कहा है: 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' अर्थात् अलग-अलग मतों पर विचार करने से तत्व का बोध हो जाता है।

मंत्रणा करने वाले तीनों पक्ष यदि अपने पूर्वाग्रहों को त्याग कर तथा केवल राष्ट्रहित को सामने रखकर विचार करें तो किसी निर्णय पर एकमत होने में कोई कठिनाई नहीं होती।

कार्याकार्यतत्वार्थ दर्शिनो मन्त्रिणः ।।३३।।

कार्य और अकार्य के भेद को तथा तत्व की बातों को जानने वाले मन्त्री होने चाहिए ।।३३।।

चौथे सूत्र की व्याख्या में मंत्रियों के लिए आवश्यक गुणों की चर्चा की गयी थी। इन सूत्रों में बताया गया है कि मंत्रियों की योग्यता कैसी होनी चाहिए। इस संबंध में मनुस्मृति कहती है:

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥

राजा ऐसे सात या आठ सचिव अर्थात् मंत्री नियुक्त करे जो सैनिक परम्परा वाले हो, शास्त्रों के ज्ञाता हों, शूरवीर हों, लक्ष्यों को प्राप्त करने वाले हों, कुलीन हों, तथा परखे हुए हों।

शुक्रनीति के अनुसार मंत्रियों को 'कुलगुणशील वृद्धान्, शूरान् भक्तान् प्रियंवदान्' अर्थात् कुलवान, गुणवान, शीलवान, शूरवीर, विश्वासपात्र तथा प्रियभाषी होना चाहिए।

जिन मंत्रियों में ये गुण हों, वे ही अच्छी तरह जानते और समझते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वे ही राज्य के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि सब कार्यों की मूलभूत बातों को जानते हैं और दूरदर्शी होते हैं।

इन सब बातों से पता लगता है कि प्राचीन काल में मंत्रियों की योग्यता को बहुत महत्व दिया जाता था। अब मंत्रियों का सैनिक होना तो आवश्यक नहीं रहा परन्तु उनमें बाकी के सारे गुण होने चाहिए। आजकल तो मंत्रियों की नियुक्ति का कोई माप और आदर्श ही नहीं। केवल राजनीतिक कारणों से ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे मंत्री बना दिये जाते हैं। उन्हें परखने की तो जरूरत ही नहीं समझी जाती।

षट्कर्णाद् भिद्यते मन्त्रः ॥३४॥

छह कानों में गया हुआ मन्त्र फूट जाता है ॥३४॥

दो जनों की गुप्त मंत्रणा तीसरे के कानों में पड़ जाये, तो फिर वह फूट निकलती है। कहावत तो यह है कि दीवारों के भी कान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कोई गुप्त मंत्रणा हो रही हो तो इस इस बात की पूरी सावधानी बरतनी चाहिए कि वह मंत्रणा कक्ष से बाहर न जाने पावे। मनुस्मृति कहती है :

यस्य मन्त्र न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुंक्ते कोशहीनोपि पार्थिवः॥

जिस राजा की गुप्त बातों को दूसरे लोग इकट्ठे होकर भी न जान सकें वह कोशहीन होने पर भी पृथ्वी पर राज करता है।

गुप्त मंत्रणाओं का महत्व आज के युग में भी कम नहीं हुआ है। राज्य की बहुत बातें ऐसी होती हैं जिनके बारे में मंत्री-मण्डल में गुप्त मंत्रणा की जाती है। इनका पता दुष्ट लोगों को, देशद्रोहियों को तथा अन्य राष्ट्रों के गुप्तचरों को लग जाये तो अनर्थ हो जाता है। (देखो चौबीसवें सूत्र की व्याख्या)।

आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम् ।।३५।।

आपत्ति और विपत्ति में स्नेह रखने वाला मित्र होता है ।।३५।।

मनुष्य का या राष्ट्र का सच्चा मित्र वही होता है जो विपत्ति के समय काम आये और आंख न चुराये । चाणक्य नीति कहती है :

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ।।

जो बीमारी में, आपत्ति में, अकाल में, शत्रु की ओर से उत्पन्न संकट में, राजसभा तथा न्यायालय में और श्मशान में अपना कर्तव्य पालन करता है, वह बन्धु अर्थात् मित्र होता है । 'मित्रं आपत्ति काले जानीयात्' अर्थात् मित्र की आपत्तिकाल में परीक्षा होती है । तुलसीदास ने कहा है : 'धीरज धरम मित्र अरु नारी, आपतकाल परखिये चारी' । शेखसादी का कलाम है :

दोस्त मशुमारां कि दर नेअमत जनद लाफ यारी ओ विरादर ख्वांदगी ।
दोस्त आं दानम् कि गीरद दस्त दोस्त दर परेशांहाली ओ दर मांदगी ।।

मैं दोस्त उसे नहीं गिनता जो सम्पन्नता में भाईचारे की डींग मारे । मैं दोस्त उसे मानता हूं जो परेशानी और बीमारी की हालत में हाथ थामे ।

सच्चा मित्र सदा हित की बात कहता है और हितकारी सलाह देता है, भले ही वह अप्रिय हो ।

विदुर नीति में मित्र के आठ गुण बताये हैं :

शुचिता त्यागिता शौर्यं सामान्य सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्य चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्‌गुणाः ।।

मन, वचन और कर्म में निष्कपटता, मित्र के लिये त्याग करने में शौर्य, सुख-दुख में समान व्यवहार, मित्र के हित-साधन में चतुरता, स्नेह तथा सच्ची बात कहना, ये मित्र के आठ गुण हैं ।

संस्कृत में एक सुभाषित है :

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत् सुखदुःखयोः सहभवेन् मित्रेण तद्‌दुर्लभम् ।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धि समये द्रव्याभिलाषाकुलास् ।
ये सर्वत्र मिलन्ति तत्वनिकष ग्रावा तु तेषां विपत् ।।

नयनों को स्नेह रस तथा चित्त को आनन्द देने वाले, और मित्र के सुख-दुख को अपना सुख-दुख मानने वाले मित्र दुर्लभ होते हैं । समृद्धि के समय

धन की अभिलाषा से आकुल होने वाले मित्र तो संसार में बहुत मिलते हैं परन्तु विपत्ति ऐसे मित्रों की कसौटी बन जाती है।

बहुत लोगों को हित की कड़वी बात अच्छी नहीं लगती और खुशामदियों से घिरे राजनेताओं को तो कड़वी बातें जरा भी नहीं सुहातीं। इसीलिए महाभारत में कहा है : 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः' अर्थात् अप्रिय तथा हितकारी बात कहने वाले और सुनने वाले बहुत मुश्किल से मिलते है।

मनुस्मृति में राज्य के जो सात अंग बताये गये हैं, उनमें सुहृद अर्थात् मित्र भी हैं। इस मित्र सम्पत् के बारे में अर्थशास्त्र में लिखा है, मित्र सम्पत् से अभिप्राय उस मित्र-वर्ग से है जो वंश परम्परा से चला आता हो, राज्य का नित्य हितैषी हो और सब कामों में सहायता करने वाला हो। इसके विपरीत आचरण करने वाला अमित्र-वर्ग होता है।

इसी बात को लक्ष्य करके कहा गया है :

स किं सखा साधु शास्ति यो धियं हितान्न यः संश्रुते स किं प्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्व सम्पदः ।।

वह मंत्री मित्र नहीं होता जो राजा को सदुपदेश नहीं देता। जो राजा हित की बात नहीं सुनता वह खोटा होता है। जब राजा और मंत्री दोनों हित की बात कहने और सुनने वाले होते हैं, तब राज्य समृद्ध होता है।

राष्ट्रों की आपसी मित्रता भी इसी कसौटी पर परखी जाती है। जो राष्ट्र आपत्ति और विपत्ति में और शत्रु से युद्ध के समय साथ देता है वही सच्चा मित्र होता है। आजकल की राजनीति ऐसी विकृत हो गई है कि यह पहचानना बहुत मुश्किल है कि कौनसा राष्ट्र अपना सच्चा मित्र है और निस्वार्थ भावना से अपना साथ दे रहा है।

मित्र संग्रहणे बलं संपद्यते ।।३६।।

मित्रों के संग्रह से बल प्राप्त होता है ।।३६।।

मित्र का तात्पर्य सच्चे मित्र से है, जिसकी परिभाषा पैंतीसवें सूत्र में दी गयी है।

जिस मनुष्य के जितने अधिक सच्चे मित्र हों वह उतना ही अधिक बलवान होता है, क्योंकि ये मित्र उसकी हरदम सहायता को तत्पर रहते हैं। उसका बल इसी में होता है कि वह आपत्तियों तथा शत्रुओं से नहीं डरता क्योंकि मित्र उसकी रक्षा करते हैं।

परन्तु इस सूत्र का अभिप्राय राज्य के सातवें अंग मित्र-सम्पदा से है। 'बल' शब्द का प्रयोग राज्य की शक्ति के अर्थ में किया गया है।

जिस राज्य या राष्ट्र के अनेक मित्र होते हैं, उसकी ओर कोई शत्रु आंख उठा कर नहीं देख सकता। राष्ट्र पर किसी भी प्रकार का दैवी अथवा आर्थिक संकट आये, तब उसके मित्र उसकी सहायता को दौड़ पड़ते हैं।

आजकल विभिन्न देशों अथवा राष्ट्रों की आपसी मित्रता गुटों पर निर्भर हो गयी है। एक गुट में शामिल होने वाले राष्ट्र एक-दूसरे के मित्र समझे जाते हैं। परन्तु गुटों के प्रति राष्ट्रों की निष्ठायें समय-समय पर बदलती रहती है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र के अपने हित तथा स्वार्थ होते हैं। द्वितीय महायुद्ध के दौरान और उसके बाद मित्रता की अदला-बदली खूब देखने को आयी थी और आ रही है। रूस पहले जर्मनी का मित्र और ब्रिटेन तथा अमेरिका का शत्रु था। पर जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया, तब रूस इन दोनों का मित्र बन गया। जापान पहले जर्मनी का मित्र था, अब अमेरिका का सबसे बड़ा मित्र है। जर्मनी के दो हिस्से हो गये हैं। एक अमेरिकी गुट में है दूसरा रूसी गुट में। फ्रान्स जो ब्रिटेन का शत्रु था, अब मित्र है। चीन पहले रूस का घनिष्ट मित्र था, अब उसका शत्रु बन गया है, और अमेरिका से मित्रता कर रहा है। मतलब यह है कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में न कोई किसी का स्थायी मित्र है और न स्थायी शत्रु। वही हाल हमारे देश की अन्दरूनी राजनीति का है। कौनसी पार्टी किस पार्टी की मित्र है, यह निश्चय पूर्वक कोई नहीं कह सकता क्योंकि राजनीति स्वार्थ-प्रधान और नेता-प्रधान बन गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस अब तक हमारे देश का मित्र प्रमाणित हुआ है। परन्तु यह मित्रता निस्वार्थ नहीं कही जा सकती। रूस और अमेरिका इन दो महाशक्तियों की चौधरायत जमाने की जो होड चल रही है, उसमें रूस भारत को अमेरिका से अलग-थलग रखना चाहता है और उसकी कोशिश यह है कि भारत पूरी तरह उसके गुट में शामिल हो जाये। हमारे नेता और राजनेता भी इस बात को समझते हैं।

ऐसी हालत में कोई भी राष्ट्र दावे के साथ नहीं कह सकता कि अमुक राष्ट्र उसका सच्चा मित्र है। फिर मित्रों का संग्रह कैसे किया जाये, यह सबके सामने समस्या है। इसलिए सब अपना-अपना निजी बल बढ़ाने में संलग्न हैं और इसी कारण मित्रों के संग्रह की बजाय शस्त्रास्त्र की होड़ मच रही है।

बलवान् लब्धलाभे प्रयतते ॥३७॥

अलब्धलाभो नालसस्य ॥३८॥

अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते ॥३९॥

न चालसस्य रक्षितं विवर्धते ॥४०॥

न भृत्यान प्रेषयति ॥४१॥

न तीर्थं प्रतिपादयति ॥४१–क॥

बलवान (राजा) अप्राप्त को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है ॥३७॥

आलसी अप्राप्त को प्राप्त नहीं कर सकता ॥३८॥

आलसी प्राप्त की हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता ॥३९॥

आलसी की रक्षित (सम्पदा) में वृद्धि नहीं होती ॥४०॥

आलसी अपने सेवकों (अधीनस्थ कर्मचारियों) को
काम करने की प्रेरणा नहीं देता ॥४१॥

आलसी पूजनीय ज्ञानीजनों, विद्वानों तथा गुरुजनों से
बोध प्राप्त नहीं करता ॥४१–क॥

ये छहों सूत्र राजाओं या शासकों को लक्ष्य करके कहे गये हैं।

छत्तीसवें सूत्र के अनुसार मित्रों के संग्रह से राजा को या राज्य को बल प्राप्त होता है। इस प्रकार बल प्राप्त होने पर राजा अप्राप्त को प्राप्त कर सकता है, अर्थात् दूसरे देशों को जीत सकता है। आज के युग में इस सूत्र का यह महत्व नहीं रहा क्योंकि अब कोई भी देश किसी दूसरे देश को जीत नहीं सकता और जीत भी ले तो उसे अधीन नहीं रख सकता। हां, रूस ऐसा देश है जिसने केवल सैन्यबल के आधार पर दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व जमा रखा है।

आगे के पांच सूत्रों में बताया गया है कि जो राजा या राज्य आलस्य करता है उसके क्या दुष्परिणाम होते हैं। आलस्य का अर्थ है सुस्ती, ढिलाई, असावधानी और अकर्मण्यता।

विदुर नीति कहती है :

षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥

अलसो मन्दबुद्धिश्च सुखी च व्याधिपीड़ितः ।
निद्रालु कामुकश्चैव षडेते कर्मगर्हिताः ॥

कल्याण का इच्छुक मनुष्य निद्रा, ऊंघना, भय, क्रोध, आलस्य और काम में ढील-ढाल, ये छह दोष छोड़ दे ।

आलसी, मन्दबुद्धि, सुख में आसक्त, रोगी, सोनेवाला तथा कामासक्त—ये छह लोग निन्दनीय कर्म करने वाले होते हैं ।

इन श्लोकों में जो बात कही गयी है वह शासकों पर भी लागू होती है । जिस राज्य के शासकों में आलस्य का दुर्गुण हो वह उन्नति नहीं कर सकता । न तो वह अपनी सम्पदा की रक्षा कर सकता है और न उसे बढ़ा सकता है । जब शासक या राजनेता ही आलसी हो, तब राज्य का सेवक वर्ग तथा कर्मचारी वर्ग भी आलसी और प्रमादी हो जाता है । क्योंकि इन वर्गों को उचित प्रेरणा नहीं मिलती ।

तीर्थ शब्द का प्रयोग आजकल धार्मिक दृष्टि से पवित्र स्थानों के लिए किया जाता है । परन्तु पूजनीय विद्वानों तथा गुरुजनों को भी तीर्थ कहते हैं । आलसी शासक प्रमाद के वश होकर विद्वानों तथा गुणीजनों का आदर नहीं करते और उनके ज्ञान तथा अनुभव से वंचित रह जाते हैं ।

अलब्धलाभादिचतुष्टयं राजतन्त्रम् ॥४२॥

अलब्ध का लाभ आदि चार बातें राजतन्त्र कहलाती हैं ॥४२॥

जो साधन तथा पदार्थ उपलब्ध नहीं उन्हें प्राप्त करना, प्राप्त की हुई सम्पदा की रक्षा करना, उपलब्ध और रक्षित सम्पदा को बढ़ाना तथा राज्य के अधिकारियों और कर्मचारियों का समुचित विनियोग करना—ये चार बातें राजतन्त्र कहलातीं हैं । तन्त्र शब्द का प्रयोग यहां शासन-व्यवस्था के अर्थ में किया गया है । शासक वर्ग तथा प्रशासक वर्ग ये दोनों मिलकर राजतन्त्र नामक संस्था का निर्माण करते हैं । राजतन्त्र तभी सफल, सुगठित और सुदृढ़ होता है जब ये वर्ग निरालस होकर अपने कर्तव्यों का चुस्ती, मुस्तैदी, फुर्ती और ईमानदारी से पालन करें ।

राजतन्त्र वास्तव में इस सूत्र में बतायी गयी चार बातों पर निर्भर करता है ।

उदाहरण के लिए ऊर्जा को ले सकते हैं जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है क्योंकि इस औद्योगिक युग के सारे काम ऊर्जा पर निर्भर हैं । तो सबसे पहले देश को ऊर्जा के स्रोत या साधन प्राप्त करने चाहिए । फिर इनकी

इस प्रकार रक्षा करनी चाहिए कि ऊर्जा का उत्पादन ठीक ढंग से होता रहे, उसे अनावश्यक कार्यों में खर्च न किया जाये और उसका दुरुपयोग तथा अपव्यय रोका जाये। फिर ऊर्जा के स्रोतों तथा साधनों को निरन्तर बढ़ाने का प्रयत्न जारी रहना चाहिए क्योंकि इनकी खपत दिन पर दिन बढ़ती जाती है।

चौथी बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य के सारे कामों में योग्य कुशल, कर्तव्यपरायण तथा ईमानदार लोगों को लगाना चाहिए। जिस देश का शासन अयोग्य, अकुशल, कामचोर तथा भ्रष्ट शासक वर्ग, अधिकारी वर्ग तथा कर्मचारी वर्ग के हाथों में चला जाता है, वह राज्य दुर्गति को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि राज्य के राजनेता तथा प्रशासक राज्यश्री प्राप्त करने तथा उसे बढ़ाने में आलस्य और प्रमाद नहीं करें और न उसे नष्ट होने दें। भ्रष्ट राजनेताओं तथा अधिकारियों और बेईमान उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा ठेकेदारों की मिलीभगत से हमारे देश की अपार सम्पदा का उपयोग राष्ट्र की समृद्धि में होने की बजाय, कुछ लोगों को समृद्ध बनाने में हो रहा है। यह राजतन्त्र की विकृति है।

इसे रोकना बहुत मुश्किल है। अर्थशास्त्र कहता है :

अपि शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पतत्रिणाम्।
न तु प्रच्छन्न भावानां युक्तानां चरतां गतिः॥

आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति को जाना जा सकता है, परन्तु राज्य के धन को चोरी-छिपे अपहरण करने वाले कर्मचारियों की मति का पता नहीं लगाया जा सकता।

राज्यतन्त्रायतं नीतिशास्त्रम् ॥४३॥

नीति शास्त्र राज्यतन्त्र के अधीन होता है ॥४३॥

इस सूत्र में नीति-शास्त्र को राज्यतन्त्र के अधीन कहा गया है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या राज्यतन्त्र ही नीतियों का निर्माता होता है और क्या किसी राज्यतन्त्र की निर्धारित की हुई सारी नीतियां उचित निर्दोष तथा सर्वमान्य होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए पहले धर्म और नीति का भेद जानना आवश्यक है। धर्म के तत्व नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनीय तथा सारी मानव जाति के लिए हैं। इन तत्वों पर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार किस प्रकार व्यवहार किया जाये, इसको निर्धारित करने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र

कहलाता है, जो समय-समय पर बदलता रहता रहता है। प्रारम्भ में नीतिशास्त्र का सम्बन्ध केवल राजनीति से था, परन्तु बाद में यह आचरण-शास्त्र या व्यवहार-शास्त्र बन गया। शुक्र नीति में नीति की यह परिभाषा दी गयी है :

सर्वोपजीविकं लोक-स्थिति कृन्नीति शास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥

नीतिशास्त्र सब लोगों की जीविका का साधन, लोक की स्थिति को सुरक्षित करने वाला धर्म, अर्थ और काम का मूल तथा मोक्ष प्रदान करने वाला है। नीतिशास्त्र पर शुक्रनीति के अलावा चाणक्य नीति, विदुर नीति, कामन्दकीय नीतिसार, विदुरनीति, भर्तृहरि का नीतिशतक आदि ग्रन्थ है। महाभारत तथा वाल्मिकीय रामायण में भी नीति के उपदेश हैं।

आदिकाल में कोई नीति नहीं थी क्योंकि तब राज्य-व्यवस्था नहीं थी। पहले समाज-व्यवस्था स्थापित हुई और फिर उसे मर्यादित तथा नियन्त्रित करने के लिए राज्य-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। राज्य-व्यवस्था ने लोक व्यवहार के जो नियम बनाये, वे ही नीतिशास्त्र कहलाये। आज भी सरकारें लोकहित तथा लोक-व्यवहार के लिए जो कानून-कायदे बनाती है, वे सब राज्य की नीति के ही अनुरूप होते है। इसी नीति को राजधर्म भी कहा गया है। महाभारत कहता है :

सर्वे भोगाःराजधर्मे निवद्धाः सर्वे योगाःराजधर्मे प्रयुक्ताः।
सर्वाविद्या राजधर्मे प्रसिद्धाः सर्वे धर्मा राजधर्मे प्रविष्टाः॥

सारे भोग अर्थात् दुख-सुख, भोजन-वस्त्र, इन्द्रियों के विषय आदि राजधर्म में बंधे हुए हैं। सभी योग अर्थात् कार्य साधन, उपाय आदि राजधर्म में प्रयोग किये जाते हैं। सारी विद्यायें राजधर्म में ही प्रसिद्धि प्राप्त करती हैं। सारे धर्म राजधर्म में समा जाते हैं।

इसका अर्थ यह है कि मनुष्यों का सम्पूर्ण जीवन राजधर्म के अनुसार संचालित होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राजतन्त्र मनमानी नीतियां बनादे या ऐसी नीतियां निर्धारित करदे जो अनीतियां हों। नीतियों का आधार धर्म होता है। इसलिए सारी नीतियां धर्मानुसार होनी चाहिए अर्थात् उनका आधार सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रिय-निग्रह, इन मूल धर्म तत्वों पर होना आवश्यक है। यदि राज्यतंत्र ही भ्रष्ट हो तो उसकी नीतियां भी भ्रष्ट होंगी जिसका दुष्प्रभाव समाज पर पड़े विना नहीं रह सकता।

धर्म नीति तथा राजधर्म पर पहले सूत्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है।

राजतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापो ॥४४॥

तन्त्रं स्वविषय कृत्येष्वायत्तम् ॥४५॥

आवापो मंडल निविष्टः ॥४६॥

सन्धि विग्रह योनिर्मंडलः ॥४७॥

राष्ट्र व्यवस्था (तन्त्र) तथा पर-राष्ट्रनीति (आवाप) राजतन्त्र के अधीन होती है ॥४४॥

राष्ट्र व्यवस्था स्वराष्ट्र सम्बन्धी कर्त्तव्यों के अधीन होती है ॥४५॥

पर-राष्ट्र नीति मण्डल में समायी हुई होती है ॥४६॥

सन्धि और विग्रह की उत्पत्ति मण्डल से होती है ॥४७॥

प्रत्येक राष्ट्र अपनी शासन-व्यवस्था तथा परराष्ट्रों से सम्बन्धित नीति अपने हितों को ध्यान में रखकर बनाता है। इन दोनों का दायरा आज के युग में बहुत विस्तृत हो गया है और ये दोनों बहुत जटिल समस्यायें भी बन गयी हैं। देश में अशान्ति न होने देना, देश के चतुर्मुखी विकास की योजनायें बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना, जनता के कल्याण के उपाय करना, अपराधों की रोक-थाम करना, अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ बनाना, इत्यादि राष्ट्र-व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग है। इस लिए कहा है कि राष्ट्र-व्यवस्था स्वराष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों के अधीन होती है, अर्थात् उन कर्त्तव्यों का पालन करती है जो देश की उन्नति तथा समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाले हों।

पड़ोसी देशों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना और सीमा-विवादों, जल-विवादों आदि की सद्भावना से हल करना, अन्य देशों से मित्रता बढ़ाना तथा संधियां करना, आपसी हितों के बारे में संसार के राष्ट्रों से विचार-विमर्श करना, अन्य देशों के गुप्तचरों की गतिविधियों पर निगाह रखना तथा अपने गुप्तचर संगठन का कारगर ढंग से संचालन करना, इत्यादि पर-राष्ट्र नीति के अंग है।

पर-राष्ट्र नीति का सम्बन्ध मण्डल से होता है। नीति शास्त्रों में 'मण्डल' एक पारिभाषिक शब्द है। मनुस्मृति के अनुसार पर-देशों की चार श्रेणियां होती हैं। किसी राज्य के सीमावर्ती राज्य स्वाभाविक शत्रु होते हैं क्योंकि सीमा आदि के मामलों में इनसे झगड़ा रहता है। सीमावर्ती राज्यों के परे स्थित राज्य स्वाभाविक मित्र होते हैं क्योंकि बीच का राज्य दोनों का शत्रु होता है। मित्र राज्यों से परे के राज्य उदासीन माने जाते हैं। क्योंकि इनसे किसी लड़ाई-झगड़े की सम्भावना नहीं होती। उदासीन राज्यों के परे के राज्य माध्यम कहलाते

हैं। इन चारों प्रकार के राज्यों का घेरा मण्डल कहा जाता है। इसलिए पर-राष्ट्र नीति यह निर्णय करती है कि कौनसा राष्ट्र शत्रु की कोटि में आता है, कौनसा मित्र की कोटि में, कौनसा उदासीन की कोटि में और कौनसा माध्यम की कोटि में। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सीमावर्ती राज्यों से सदा विवाद ही रहे। उनसे भी मित्रता और सहयोग किये जा सकते हैं। किसी तीसरे प्रबल शत्रु के मुकाबले में दोनों एक हो सकते हैं, तथा अन्य कारणों से भी सन्धि कर सकते है। इसलिए मण्डल को सन्धि तथा विग्रह (युद्ध) का कारण कहा गया है।

अर्थ शास्त्र में राज्य की षड्गुण नीति के छह अंगों का वर्णन है। ये अंग है : सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय तथा द्वैधीभाव।

षड्गुण नीति

संधि

दो राज्यों के कुछ शर्तों पर परस्पर मेल को सन्धि कहते हैं। सन्धि करने से पहले दोनों राज्यों को उससे होने वाले लाभों तवा हानियों पर पूरी तरह विचार कर लेना चाहिए। चाणक्य ने सन्धि के छह प्रकार बताये हैं : हीन सन्धि पणबन्ध सन्धि, मित्र सन्धि, भूमि सन्धि, कर्म सन्धि तथा अनवसित सन्धि।

हीन संधि : यह भी चार प्रकार की होती है। आत्ममिष सन्धि में शत्रु को पूरा आत्म-समर्पण किया जाता है। दंडोपनत सन्धि में सेना का समर्पण होता है। कोशोहनत सन्धि में शत्रु को धन या कोश दिया जाता है। देशोपनत सन्धि में देश का कुछ भाग शत्रु को अर्पण कर दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विजेता मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी तथा उसके युद्ध-साथी देशों को ऐसी ही सन्धियां करने पर विवश किया था।

पणबन्ध सन्धि : इसमें दोनों राज्य परस्पर युद्ध न करने तथा शान्ति पूर्वक रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसे आजकल 'नो-वार पैक्ट' अर्थात् अनाक्रमण सन्धि कहते हैं।

मित्र सन्धि : इसके द्वारा दोनों राज्य या राष्ट्र परस्पर मित्रता की घोषणा करते हैं। इसके अन्तर्गत आपत्ति में एक-दूसरे की सहायता करते हैं। रूस के साथ भारत की ऐसी ही सन्धि है।

भूमि सन्धि : जब दो राज्य मिल कर किसी तीसरे राज्य को युद्ध में जीत लेते है तो वे उस राज्य की भूमि को आपस में बांट लेते हैं।

कर्म सन्धि : इस सन्धि के अन्तर्गत दो राज्य मिल कर दुर्ग, सेतुबन्ध (पुल) तालाब, बांध, जल मार्ग तथा थल मार्ग का निर्माण करते हैं। दोनों राज्य

आपस में तय कर लेते हैं कि किसके लिए कौनसा कार्य अधिक उपयोगी तथा लाभदादक है।

अनवसित सन्धि : इस सन्धि के अनुसार दो राज्य निर्जन स्थलों को बसाने का निश्चय करते हैं। जो राज्य पहले बस्तियां बसा लेता है और उजाड़ खण्ड को उपयोगी बना लेता है वह लाभ में रहता है।

चाणक्य का कथन है कि यदि युद्ध में पराजय की सम्भावना हो, तो हीन सन्धि कर लेनी चाहिए। यदि प्रतिद्वन्द्वी राज्य समान बलशाली हो, तब भी सन्धि करलेना उचित है, क्योंकि ऐसी अवस्था में यह निश्चित नहीं होता कि विजय किसको होगी। बुद्धिमानी इसी में है कि दोनों युद्ध बन्द करदें और कोई सम्मान-पूर्ण अस्थायी अथवा स्थायी सन्धि कर लें। इससे दोनों राज्य सर्वनाश से बच जाते हैं।

शुक्रनीति तथा अन्य नीति ग्रंथों में सन्धि के और भी सोलह प्रकार बताये गये हैं।

कपाल : समान बल वालों की पारस्परिक सन्धि।

उपहार : उपहार आदि देकर सन्धि।

सन्तान : कन्या देकर सन्धि।

संगत : परस्पर मैत्री भाव से सन्धि। यह सन्धि किसी भी अवस्था में नहीं टूटती।

उपन्यास : अपने लाभ की सिद्धि के लिए सन्धि।

प्रतिकार : किसी राज्य पर उपकार किया हो तो उसके साथ इस आशा में सन्धि कि समय पर वह उपकार का बदला चुकायेगा।

संयोग : किसी राज्य पर चढ़ाई करने के लिए दो राज्यों की सन्धि।

पुरुषान्तर : समय पर दो राज्यों की सेनायें एक दूसरे की सहायता करें। आजकल ऐसी सन्धियां हो रही हैं। एक पश्चिमी राष्ट्रों तथा अमेरिका का 'नेटो गुट' है दूसरा रूस और उसके वशवर्ती नाष्ट्रों का 'वारसा गुट' है।

अदृष्ट : इस सन्धि में शत्रु यह शर्त रख कर सन्धि करता है—तुम्हें अकेले ही मेरा काम पूरा करना होगा।

आदिष्ट : राज्य का कुछ भाग देकर बलवान शत्रु से सन्धि।

आत्मादिष्ट : सेना समर्पण करके सन्धि।

उपग्रह : सम्पूर्ण आत्मसमर्पण।

परिक्रम : बचे हुए राज्य की रक्षा के लिए धन या कोश देकर सन्धि ।

उच्छिन्न : खनिज सम्पदा के युक्त भूमि देकर सन्धि ।

परभूषण : वनस्पति सम्पदा वाली भूमि देकर सन्धि ।

स्कंधोपनेय : कई किस्तों में हर्जाना देने की प्रतिज्ञा करके सन्धि ।

कपाल सन्धि के सिवाय बाकी सारी सन्धियां उपहार के ही भेद होती है—ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि हमारे नीतिकारों ने कितना सूक्ष्म परिवेक्षण किया था और कैसे-कैसे सार्थक पारिभाषिक शब्दों की रचना की थी ।

विग्रह

अपराधी विग्रह : इस सूत्र के अनुसार जब कोई राज्य दूसरे राज्य के प्रति अपराध करता है, तब दोनों के बीच विग्रह खड़ा हो जाता है । सीमावर्ती भूमि पर कब्जा करना, जलस्रोतों तथा जल और थल मार्गों कों अवरुद्ध करना, अशान्ति फैलाना, तोड़-फोड़ कराना आदि अपराध विग्रह के कारण होते हैं । परस्पर विचार-विनिमय तथा वाद-विवाद से समस्याओं का समाधान न हो जाये अथवा सन्धि न हो जाये, तो यह विग्रह युद्ध का रूप धारण कर लेता है । नीतिकारों का कथन है कि युद्ध का आश्रय अन्तिम उपाय के रूप में ही लिया जाना चाहिए जब साम, दाम, दण्ड और भेद नीतियां असफल हो जायें ।

प्राचीनकाल में युद्ध के नियम भी धर्मानुकूल थे । मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों में इन नियमों का वर्णन है । मनुस्मृति में ऐसे सैनिकों तथा अन्य लोगों को युद्ध में मारने का निषेध है जिनका वाहन नष्ट हो गया हो, जो आत्म-समर्पण करदें, जो घायल हो गये हों, जो सो रहे हों, जो भाग रहे हों तथा जो घिरे हुए हों । युद्धरत सैनिकों के सिवाय नागरिकों, प्रेक्षकों आदि को मारने का भी निषेध है ।

अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग पर भी नियंत्रण था । युद्ध में सामान्य अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भी नैतिक नियमानुकूल माना जाता था । कूट-आयुध का प्रयोग वर्जित था । कूट-आयुध ऐसे शस्त्रों को कहते थे जिनमें भयंकर विनाश छिपा हुआ हो, ऐसे बाण जो विष में बुझे हों अथवा आग लगाने वाले हों । 'यतो धर्मस्ततो जयः' का सूत्र सबको मान्य था । महाभारत में अपवाद स्वरूप धर्मयुद्ध के कई नियमों का उल्लंघन हुआ था, जैसे अकेले अभिमन्यु से कौरवों के अनेक महारथियों का युद्ध, भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य का छल से वध तथा विरथ और शस्त्र-रहित

कर्ण का वध। मनुस्मृति कहती है: 'न कूटैरायुधैर्हन्यात् युद्धमानो रणे रिपून्' अर्थात् युद्ध में शत्रु को कूट-आयुधों से नहीं मारना चाहिए।

चाणक्य ने 'अर्थशास्त्र' में धर्मयुद्ध का समर्थन किया है, परन्तु विशेष अवस्था में कूट-युद्ध को भी उचित बताया है, क्योंकि शत्रु और अग्नि को पूरी तरह नष्ट किया जाना चाहिए।

आजकल तो युद्ध की परिभाषा ही बदल गयी है और धर्म-अधर्म का विचार ही नहीं किया जाता। युद्ध को 'टोटल वार' अर्थात् समग्र युद्ध कहा जाता है और दोनों पक्ष थल, जल तथा नभ के युद्ध-साधनों से एक दूसरे का समग्र विनाश करने पर उतारू हो जाते हैं। निरीह नागरिकों पर भी बम बरसाये जाते हैं। एक दूसरे पर रात दिन आक्रमण होते रहते हैं। आधुनिक युद्धों में तो सारे कूट-आयुधों का ही प्रयोग होता है।

आसन

आवश्यकता अथवा परिस्थितियों से मजबूर होकर युद्ध को टालते रहना और चुप मारकर बैठ जाना आसन कहलाता है। जब कोई राज्य युद्ध में पराजित हो जाये या अन्य किसी कारणों से उसकी शक्ति क्षीण हो जाये तो उसे आसन की नीति का अवलम्बन करना चाहिए, अर्थात् किसी न किसी बहाने से युद्ध को टालते रहना चाहिए और चुप बैठ जाना चाहिए। इस बीच अपनी शक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए। दूसरा आसन यह है कि जब शत्रु पर चढ़ाई करने का समय आये और अपना मित्र राज्य साथ देने में असमर्थ हो, तब भी युद्ध को टालना चाहिए। जब दो राज्य कुछ समय युद्ध करके देखते हैं कि कोई किसी को नहीं हरा सकता, तब वे व्यर्थ के विनाश से बचने के लिए युद्ध बन्द करके बैठ जाते हैं। यह भी आसन का एक प्रकार है जिसे विगृह्यासन कहते हैं। सन्धि करके चुप बैठ जाना सन्धायासन कहलाता है।

यान

युद्ध के लिए चढ़ाई करने को यान कहते है। मनु ने इसके दो प्रकार बताये हैं। एक चढ़ाई केवल अपने बलबूते पर की जाती है। दूसरी मित्र राज्य को साथ लेकर की जाती है। अकेले चढ़ाई उस अवस्था में की जाती है जब शत्रु पर कोई विपत्ति आयी हुई हो या वह संकट-ग्रस्त हो। बलवान शत्रु पर मित्र राज्यों के सहयोग से योजना बनाकर चढ़ाई की जाती है।

संश्रय

आवश्यकता पड़ने पर किसी राज्य का आश्रय लेना संश्रय कहलाता है। जब कोई राज्य शत्रु के मुकाबले में अपने को कमजोर समझे, तब उसे किसी प्रबल

राज्य का आश्रय लेना चाहिए। दूसरी अवस्था यह है कि जिसमें कोई राज्य तात्कालिक आवश्यकता न होने पर भी भविष्य में अपनी सुरक्षा निश्चित करने के लिये किसी प्रवल राष्ट्र का आश्रय लेता है। तव किसी को उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता। आजकल विश्व की दो महाशक्तियों के अलग-अलग गुट इसी संश्रय नीति के आधार पर बने हुए हैं। किसी की पीठ पर प्रवल रूस है, और किसी की पीठ पर प्रवल अमेरिका।

द्वैधीभाव

दो भागों में विभक्त होने को द्वैधीभाव कहते हैं। इसके अर्थ के विषय में आचार्यों में मतभेद है। मनुस्मृति के अनुसार द्वैधीभाव उसे कहते हैं कि राजा अपने सेनापति तथा सेना को एक स्थान में रखें और स्वयं किले में अपनी रक्षा का प्रवन्ध करे। शुक्रनीति के अनुसार सेना के दो भाग करके उन्हें अलग-अलग स्थानों पर नियुक्त करना द्वैधीभाव है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में एक राज्य से सन्धि तथा दूसरे से विग्रह को द्वैधीभाव कहा गया है। कामन्दक ने इसका अर्थ यह किया है कि ऊपर से तो शान्ति और सन्धि की वात करता रहे पर भीतर से आक्रमण की तैयारी करता रहे। इस प्रकार धोखे से आक्रमण करदे जैसा जापान ने पर्ल हार्वर पर किया था।

सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव, पड्गुण नीति के इन छह अंगों के वारे में अर्थशास्त्र कहता है,

एवं पड्भिर्गुणैरेतैः स्थितः प्रकृति मण्डले।
पर्येपेत क्षयात् स्थान स्थानात् वृद्धि च कर्मसु॥

(राज्य) अपने प्रकृति मण्डल में, अर्थात् शत्रु, मित्र, उदासीन आदि राज्यों के घेरे में, स्थित रह कर पड्गुण नीति के द्वारा अपनी क्षीण स्थिति की परीक्षा करें और उस स्थिति को सुदृढ़ वनाने कीचेष्टा करें।

नीतिशास्त्रानुगो राजा ॥४८॥

राजा नीतिशास्त्र का अनुगामी होता है ॥४८॥

तेतालीसवें सूत्र की व्याख्या में नीति तथा नीतिशास्त्र को परिभाषित किया जा चुका है। जिस तरह धर्म के सामान्य तथा विशेष, ये दो रूप होते हैं, उसी प्रकार नीति के भी यही दो रूप होते हैं। राजनीति विशेष नीति है। राजा या राज्य के सम्वन्ध में जव नीति शब्द का प्रयोग होता है तो उसका अभिप्राय राजनीति ही होता है।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि राजा अर्थात् शासकों को नीतिशास्त्र के अनुसार राजकाज चलाना चाहिए। अथवा यों कह सकते हैं कि राजनीति नीतिशास्त्र के अनुसार होनी चाहिए। मनुस्मृति का कथन हैं कि राजनीति की तीन विद्यायें होती हैं : त्रयी, वार्ता तथा दण्ड नीति। आचार्य वृहस्पति दो ही विद्याएं मानता है : वार्ता तथा दण्ड नीति। शुक्राचार्य का मत है कि विद्या केवल एक ही है : दण्डनीति। अन्य विद्याओं का इसी में समावेश होता है क्योंकि राज्य-व्यवस्था का यही मुख्य आधार होती है। परन्तु चाणक्य के अर्थशास्त्र में चार विद्याओं का उल्लेख है : आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। इन्हीं चारों से धर्म-अधर्म तथा अर्थ-अनर्थ का ज्ञान हो सकता है जो शासकों के लिए आवश्यक है।

सांख्य, योग तथा न्याय दर्शन आन्वीक्षिकी के मुख्य अंग हैं। इसलिए यह विद्या सब विद्याओं की दीपक, सब कार्यों की साधक तथा सब धर्मों की आश्रय मानी जाती है। इस विद्या से तर्कशक्ति, वाक् चातुर्य, बुद्धिमता तथा कार्य-कुशलता आदि गुण प्राप्त होते हैं।

साम, ऋक और यजु—इन तीनों वेदों को त्रयी विद्या कहते हैं। अथर्ववेद, पुराण तथा वेद के छह अंग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष भी त्रयी विद्या के अन्तर्गत हैं। इस विद्या से सामान्य धर्म तथा चार वर्णों और चार आश्रमों के विशेष धर्मों का बोध होता है। इससे राज्य-व्यवस्था वैदिक मर्यादाओं के अनुसार चलने में सहायता मिलती है।

वार्ता सम्पत्ति शास्त्र का नाम है जिसे आजकल की भाषा में अर्थशास्त्र (इकानामिक्स) कहते हैं। यह विद्या राज्य की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है जिस पर राज्य की भौतिक समृद्धि निर्भर करती है।

दण्डनीति पर सभी आचार्यों ने जोर दिया है और इसकी विशद व्याख्या की है। मनुस्मृति में दण्ड को देवरूप बताया है जिसका रंग काला और आंखें लाल है। प्रजापति ने इसे धर्म के अवतार के रूप में जन्म दिया है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डएवाधिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डः धर्मं विदुर्बुधाः ॥

दण्ड प्रजा का शासन करता है। दण्ड ही रक्षा करता है। जब सब सोते हैं तब दण्ड ही जागता रहता है। बुद्धिमानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है।

महाभारत में आख्यान है कि सतयुग में बहुत काल तक कोई राजा नहीं था। कालान्तर में जब प्रजा अधर्माचरण करने लगी तब देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों का दण्डनीति नामक ग्रंथ रचा। यह ग्रंथ तो लुप्त हो गया, पर इसके आधार पर बाद में आचार्यों ने नीति शास्त्र के ग्रन्थ लिखे।

उद्धत वेषधरो न भवेत् ॥५०॥

उद्धत वेष धारण नहीं करें ॥५०॥

उद्धत का अर्थ उजड्ड या गंवार है। सो उद्धत वेश उसे कहते हैं जिसमें उजड्डपन या गंवारपन हो, अर्थात् जो सभ्य समाज में पसन्द न किया जाता हो। उद्धत वेश ऐसे वेश को भी कह सकते हैं जो सौम्य न हो, वलिक वहुत भड़कीला और चटकीला हो।

आदमी की पोशाक ऐसी चीज है जिस पर लोगों की निगाह सबसे पहले जाती है। जब देश में कोई विदेशी मेहमान आता है तो अखबारों में यह जिक्र जरूर होता है कि उसने कैसी पोशाक पहन रखी थी। सभ्य कहलाने वाले समाज में कोई गन्दे, मैले-कुचले, फटे-टूटे और वेढंगे कपड़े पहन कर आ जाये तो सब उसकी तरफ उंगलियां उठाते हैं। अगर जाना-पहचाना न हो तो उसे दुतकार कर भगा देते हैं। इस लिहाज से समाज में पोशाक का वहुत महत्व है।

मनुष्य की वेश-भूषा देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल हुआ करती है। जिस देश की जैसी भौगोलिक स्थिति हो, जो वस्तुएं वहां उपलब्ध हों और जैसी वहां की जलवायु हो, इन्हीं के अनुकूल उस देश के निवासियों की साधारण पोशाक होती है। ठंडे और गर्म देशों के लोगों की पोशाकें अलग-अलग किस्म की होती हैं। एक ही देश में ऋतुओं के अनुसार भी पोशाक में परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग तरह की पोशाकें पहनने के भी रिवाज होते हैं।

लेकिन अब सब कुछ वदलता जा रहा है। अब तो पोशाक के सिर पर फैशन का भूत सवार हो गया है जो देश, काल और परिस्थिति किसी की परवाह नहीं करता। हमारे देश में तो फैशन के मामले में पश्चिम की भोंडी नकल ने ऐसी हालत पैदा करदी है कि एक तमाशा वन गया है। अखबारों में वस्त्रों के जो विज्ञापन निकलते हैं, उनके अनुसार तो पोशाक ही जीवन के हर क्षेत्र में सफलता की कुंजी है। वढ़िया पोशाक सारे ऐवों को ढक देती है। वढ़िया पोशाक पहनने वाले के अफसर खुश रहते हैं और मातहतों पर उसका रोव छा जाता है। और आज के जमाने में सबसे वड़ी वात यह है कि युवतियां उस पर फिदा हो जाती हैं और उसकी तरफ हसरत भरी निगाहों से देखती हैं। नौजवानों को इससे ज्यादा क्या चाहिए ? फैशन की इस दौड़ में नारियां पुरुषों से भी आगे निकल गयी है। कपड़ों के विज्ञापनवाज उद्योगपति और विज्ञापन के 'कैम्पेन' चलाने वाली एडवरटाइजिंग एजेंसियां खूव चांदी काट रही हैं, यह सारा खर्च

तानाशाही। अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के देशों में बार-बार सत्ताएं बदलती रहती हैं। एक गुट का नेता दूसरे गुट के नेता को हटा कर या मार कर सत्ता हथिया लेता है। बंगला देश में भी ऐसा ही हुआ है। कई देशों में सैनिक तानाशाही है, जैसे पाकिस्तान में। कम्यूनिस्ट देशों में पार्टी की तानाशाही होती है क्योंकि वहां पार्टी और सरकार में कोई भेद नहीं होता। इन देशों में तो पार्टी के किसी कार्य या नीति की आलोचना करना या उससे असहमति प्रकट करना भी राजद्रोह माना जाता है।

ईरान में एक नई किस्म की मजहबी तानाशाही पैदा हुई है जो सबसे ज्यादा खतरनाक है। वहां मजहब के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह इन्सानियत पर कलंक है।

हमारे देश में अंग्रेजों के राज में राजद्रोह संगीन अपराध माना जाता था। 1857 के विद्रोह के बाद हजारों लोगों को राजद्रोह के अपराध में फांसी पर चढ़ा दिया गया था। उसके बाद भी देश की स्वाधीनता की आवाज उठाने वाले नेताओं को 'काला पानी' भेज दिया जाता था। कालापानी कहलाने वाले अंडमान और निकोबार द्वीपों की जेलों में सैंकड़ों देशभक्तों को यातनाएं दी गयीं। सशस्त्र क्रांति के नेताओं को फांसियां दे दी गयीं। कई नेताओं को निर्वासित कर दिया गया और उन्होंने विदेशों में शरण ली। राजद्रोह के अपराध में बाल गंगाधर तिलक को छह साल मांडले की जेल में रखा गया और गांधीजी को भी छह साल की जेल की सजा दी गयी।

अंग्रेजी राज में राजद्रोह (सिड़ीशन) की जो धारा इण्डियन पिनल कोड में रखी गई थी, वह आज भी ज्यों की त्यों है। भारतीय दण्ड संहिता की धारा १२४-ए के अनुसार जो कोई सरकार के प्रति घृणा या बदगुमानी फैलाता है या उनके विरुद्ध लोगों को भड़काता है, उसे आजीवन कैद की सजा दी जा सकती है। स्वाधीनता के बाद ऐसा कोई मामला सामने नहीं आया है पर तानाशाही प्रवृत्ति की कोई भी सरकार इसका उपयोग कर सकती है।

इस युग में देशद्रोह राजद्रोह से भी अधिक जघन्य अपराध है। धन के लालच में अपने देश के गुप्त भेद दूसरे देशों को बताना, विदेशी गुप्तचर एजेंसियों से सम्बन्ध रखना, विदेशों के एजेन्ट बनकर देश में भीतरघाती कार्रवाईयां करना या उपद्रव करना—ये कार्य देशद्रोही की श्रेणी में आते हैं।

चुगलखोरी, बलात्कार, द्रोह, ईर्ष्या, द्वेष, दूसरे का धन हरण तथा वाणी और दंड की कठोरता— ये आठ बातें क्रोधजनित व्यसनों में गिनी जाती है।

अपने देश के राजनेताओं तथा शासकों पर निगाह डालें तो चिराग लेकर ढूंढ़ने पर भी शायद ही कोई मिले जिसमें एक भी व्यसन न हो। कामज तथा क्रोधज, दोनों प्रकार के व्यसनों में आसक्त ढेरों मिल जायेंगे। देश की दुर्दशा का यह एक प्रमुख करण है।

नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य ।।५२।।

मृगयापरस्य धर्मार्थौ विनश्यत ।।५३।।

अर्थेषु पानव्यसनी न गण्यते ।।५४।।

न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ।।५५।।

जुआरी कोई काम नहीं कर सकता ।।५२।।

आखेट (शिकार) के व्यसनी के धर्म और अर्थ नष्ट हो जाते हैं ।।५३।।

मदिरा पान का व्यसनी किसी काम के योग्य नहीं होता ।।५४।।

कामासक्त मनुष्य किसी काम का सम्पादन नहीं कर सकता ।।५५।।

इक्यावनवें सूत्र की व्याख्या में दस प्रकार के कामज तथा आठ प्रकार के क्रोधज व्यसनों का उल्लेख हो चुका है। इन सूत्रों में छह कामज व्यसनों के परिणाम बताये गये हैं।

जुए की लत बहुत बुरी होती है। जो मनुष्य इस लत में फंस जाता है उसका सारा ध्यान हार-जीत की चिन्ता में लगा रहता है। किसी अन्य काम में उसका मन नहीं लगता। द्यूत के दुष्परिणाम का ज्वलन्त उदाहरण महाभारत में है। इसके चक्कर में फंसकर पांडवों ने सारा राज-पाट खो दिया, द्रौपदी तक को दाव पर लगा दिया और बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास भोगा।

मृगया अर्थात् शिकार भी ऐसा ही व्यसन है। जिन लोगों को शिकार का शौक हो जाता है वे सारे काम-काज छोड़ कर जंगलों में पड़े रहते हैं। यह व्यसन अहिंसा धर्म के भी प्रतिकूल है। केवल मनोरंजन की खातिर निरीह प्राणियों की हत्या क्रूर और नृशंस कर्म है, जो मनुष्य के स्वभाव को भी निर्दय और हिंसक बना देता है। मनु ने कहा है कि अपने सुख की इच्छा से जो जीवों की हिंसा करता है उसे इस लोक में तथा परलोक में सुख नहीं मिलता।

कपड़ों की कीमत के रूप में ग्राहकों से वसूल किया जाता है। फैशन न तो यह देखता है कि हमारे देश की संस्कृति और परम्परा क्या है, न यह सोचता है कि देश की जलवायु में कौनसी पोशाक उपयुक्त होती है, और न यह विचारता है कि किस अवसर पर कैसे वस्त्र पहनने चाहिए।

चाणक्य के सूत्र का वास्तविक तात्पर्य यही है कि मनुष्य की पोशाक सौम्य होनी चाहिए, न बेढंगी हो और न तड़क-भड़क वाली। अपने देश की संस्कृति और भौगोलिक आवश्यकताओं के अनुकूल भी होनी चाहिए। साफ-सुथरा सादा वेश सात्विक होता है और गुण-ग्राहकों के समाज में भड़कीली पोशाक से ज्यादा आकर्षण तथा आदर का पात्र होता है।

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्ति ॥५१॥

व्यसनासक्त का कार्य सफल नहीं होता ॥५१॥

व्यसन शब्द का प्रयोग यहां भ्रंश या गिरावट के अर्थ में किया गया है। जो कार्य या कर्म मनुष्य के चरित्र को गिराते हैं, वे व्यसन कहलाते हैं।

जो मनुष्य व्यसनों में आसक्त हो जाता है वह उत्साह, दृढ़ता, संकल्प तथा आत्मविश्वास से हीन हो जाता है, सो उसके कर्म निष्प्राण हो जाते हैं। व्यसनी मनुष्य की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। ये बातें मनुष्यमात्र पर लागू होती है, परन्तु यह सूत्र राजाओं अथवा शासकों को लक्ष्य करके रचा गया है। राजा या शासक व्यसनी हो जाये तो वह राजकाज नहीं चला सकता और राज्य की दुर्दशा हो जाती है।

चाणक्य के लगभग सभी सूत्र मनुस्मृति के आधार पर हैं। मनुस्मृति में राजा के अठारह व्यसन बताये हैं :

दश काम समुत्थानि तथा अष्टौ क्रोधजनानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥

काम से उत्पन्न दस तथा क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसनों को (राजा) यत्नपूर्वक त्याग दे। ये व्यसन दुरन्त अर्थात् अन्त में बुरा फल देने वाले हैं।

काम से उत्पन्न हुए व्यसनों में आसक्त हुआ राजा धर्म और अर्थ से वंचित रहता है और क्रोध से उत्पन्न व्यसनों से आप ही नष्ट हो जाता है।

मृगया (शिकार), जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा, व्यभिचार, मद्यपान, गाना-बजाना और नाचना तथा वृथा भाषण, ये दस बातें कामज व्यसनों की गिनती में आती हैं।

अड़तालीसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया था कि दंडनीति का प्रयोग सोच-समझ कर करना चाहिए। इस सूत्र में कठोर दंड को जनता की नाराजी का कारण बताया गया है। पूर्व प्रसंग के अनुसार कठोर दंड का यही अर्थ लगाना चाहिए कि क्रोध में आकर किसी को कठोर दंड नहीं देना चाहिए। यह अन्याय है।

मनुस्मृति में दंड के चार प्रकार बताये गये हैं :

वाग्दण्ड प्रथमं कुर्यात् धिदंण्डं तदन्तरम् ।
तृतीयं घनदण्डंतु वध दण्डमतः परम् ॥

अपराधी को पहले वाक्दण्ड देना चाहिए, अर्थात् उसे फटकारना चाहिए और आगे अपराध न करने की चेतावनी देनी चाहिए। यदि इसका प्रभाव न पड़े तो अपराधी को धिक्कारना चाहिए और शर्मिन्दा करना चाहिए। धनदंड अर्थात् जुर्माना या धन-सम्पत्ति जब्त करना तीसरा दंड है। यह पहले दोनों दंडों से प्रभावी होता है। यदि ऐसा प्रतीत हो कि ये तीनों प्रकार के दंड अपराधी को अपराध से रोकने और सन्मार्ग पर लाने में कारगर नहीं है, तो उसे वधदंड देना चाहिए। वधदंड का मतलब यह नहीं कि अपराधी को फांसी दी जाये। अंगच्छेद, यानी जिस अंग से अपराध किया हो उसे काट देना, कोड़े लगाना, या अन्य कोई शारीरिक यंत्रणा देना, वधदंड की श्रेणी में आते हैं। आवश्यकतानुसार इन चारों में से एक, दो, तीन या चारों दंडों का प्रयोग किया जा सकता है। मालूम होता है कि प्राचीन काल में कैद की सजा नहीं दी जाती थी।

मनुस्मृति कहती है :

तं देश कालौ शक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः ।
यथाहर्तः संप्रणेयन् नरेष्वु न्याय वर्तिषु ॥
तंराजा प्रणयत् सम्यक् त्रिवर्येणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषय क्षुद्रो दण्डनैव निहन्यते ॥

देश, काल, शक्ति, विद्या आदि तत्वों का विचार करके अन्याय करने ले मनुष्य पर दंड का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए।

दंड का यथोचित प्रयोग करने वाला राजा, धर्म, अर्थ काम में वृद्धि प्त करता है। व्यसनी, क्रोधी और नीच-प्रकृति, राजा उस दंड से नष्ट हो ता है।

इस सूत्र का अभिप्राय यही है कि क्रोध या बदलने की भावना से जो दिया जाता है वह अन्याय होता है और जनता में उसके प्रति रोप उत्पन्न जाता है।

मद्यपान यानी शराबखोरी भी बहुत बुरा व्यसन है। शराब पीने वाले को शारीरिक हानि तो होती ही है, उसकी बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। मद्यपान का सभी धर्मों, सम्प्रदायों तथा मजहबों में निषेध है। वैदिक कर्मकांड में सुरा का सेवन यज्ञ कर्म में मर्यादित कर दिया गया है। वैसे मदिरापान मनुष्य का स्वभाव भी बताया गया है क्योंकि मनुष्यों की लगभग सभी जातियां किसी न किसी रूप में नशे का सेवन करती हैं। ठंडे देशों में तो बच्चे और स्त्रियां भी मदिरापान करते हैं। हमारे देश में शराब का उपयोग बहुत हो रहा है। इसके दो कारण हैं—एक गरीबी दूसरा सम्पन्नता। गरीब लोग अपनी परेशानियों, तकलीफों और मुसीबतों को भुलाने के लिए शराब पीते हैं और सम्पन्न लोगों में शराब पीना फैशन बन गया है। मजदूर लोग थकावट मिटाने के लिए शराब पीते हैं। शराबखोरी के दुष्परिणाम तभी प्रकट होते हैं जब अति हो जाती है। इसी अति ने यदुवंश का नाश कर दिया था। मद्यनिषेध आवश्यक है परन्तु इसे कारगर ढंग से लागू करने का उपाय अभी तक किसी को नहीं सूझा है। केवल कानून से शराबबन्दी नहीं हो सकती।

कामासक्त मनुष्य तो सारा विवेक खो बैठता है। कहा है : 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' अर्थात् काम के वशीभूत मनुष्यों को न कोई भय होता है और न लज्जा होती है। नारियों पर बलात्कार के कांड इसी कामशक्ति के कारण होते हैं। आजकल 'सुरा और सुन्दरी' लोगों को भ्रष्ट करने के साधन बन गये हैं।

अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् ॥५६॥

दण्ड पारुष्यात् सर्वजन द्वेष्यो भवति ॥५७॥

वचन की कठोरता अग्नि से भी अधिक जलाने वाली होती है ॥५६॥

दण्ड की कठोरता सब लोगों के द्वेष का कारण होती है ॥५७॥

वाणी की कठोरता और दंड की कठोरता—ये दोनों क्रोधज व्यसन हैं।

मनुष्य कठोर वचन तभी बोलता है जब उसे किसी पर गुस्सा आता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य की बुद्धि चंचल हो जाती है और जबान काबू में नहीं रहती। वह नहीं सोचता कि कठोर शब्दों का दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ेगा। कहावत है कि तीर का घाव भर जाता है, पर तीखे वचन-बाणों का घाव कभी नहीं भरता। इसका नतीजा यह होता है कि कभी-कभी दोस्त भी दुश्मन बन जाता है। तुलसीदास ने कहा है : 'वशीकरण यह मंत्र है, तजि देहु वचन कठोर'।

मेरे जनपद में न कोई चोर है, न कोई कंजूस है, न कोई शरावी है। ऐसा कोई नहीं जिसके घर में यज्ञ की अग्नि न हो और जो विद्वान न हो। न कोई व्यभिचारी पुरुष है और न व्यभिचारिणी स्त्री।

इसका तात्पर्य यह है कि काले धन का भोजन खाने वालों पर भी उसका कुप्रभाव पड़े विना नहीं रहता।

जुआ, व्यभिचार, मद्यपान, ऐशो-आराम आदि में खर्च करना धन का दूषण है। धन के संचय को रोकने के लिए हमारे शास्त्रों ने दान की व्यवस्था की है। इससे धन का जरूरतमन्द लोगों में और जनकल्याण के कार्यों में वंटवारा हो जाता है। किन्तु आजकल तो दान भी दूषित हो गया है।

यह सूत्र कहता है कि अर्थ दूषकों को लक्ष्मी छोड़ जाती है। परन्तु व्यवहार में यह नजर आ रहा है कि लक्ष्मी का निवास अर्थदूषकों के यहां ही है। इसे पूर्व जन्म के कर्मों का फल कहा जाता है। परन्तु इस फल के क्षय के वाद वहुधा इसी जीवन में ऐसे लोगों की दुर्दशा हो जाती है और उनकी सन्तान दीन-हीन होकर दर-दर भटकती है।

अमित्रो दण्डनीतित्यामायत्त ॥५९॥

दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति ॥६०॥

दण्डः सम्पदा योजयति ॥६१॥

दण्डाभावे मंत्रीवर्गाभावः ॥६२॥

न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति ॥६३॥

दण्डनीत्यामायत्रमात्मरक्षणम् ॥६४॥

शत्रु दंडनीति के अधीन होते हैं ॥५९॥

दंडनीति की प्रतिष्ठा से प्रजा सुरक्षित रहती है ॥६०॥

दंड से राज्य सम्पदा युक्त हो जाता है ॥६१॥

दंड के अभाव में राजा को अच्छे मंत्रियों का अभाव हो जाता है ॥६२॥

दंड के भय से लोग अकार्य नहीं करते ॥६३॥

दंडनीति के आश्रय से ही आत्मरक्षा होती है ॥६४॥

अर्थदूषकं श्रीः परित्यजति ।।५८।।

धन को दूषित करने वाले को लक्ष्मी छोड़ जाती है ।।५८।।

अर्थदूषक के दो अर्थ हैं : पहला वह मनुष्य जो दूषित, कुत्सित और गर्हित उपायों से धन कमाता है। दूसरा वह जो अपने धन को बुरे कामों में खर्च करता है।

दूषित उपायों से अर्जित धन कलुषित धन कहलाता है जिसे कृष्ण धन या काला धन भी कहते हैं। जमाखोरी, मुनाफाखोरी, कालाबाजारी, मिलावट, कम तोलना और घूसखोरी ये सब दूषित उपाय हैं। मनुस्मृति कहती है :

नान्येयदन्न संसृष्ट-रूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ।।

एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिला कर नहीं बेचनी चाहिए। कोई भी वस्तु कम तोल कर या खराब को अच्छी बता कर या दूर से ही दिखा कर नहीं बेचनी चाहिए।

प्राचीनकाल में ये सब अपराध दंडनीय थे और आज भी हैं पर हमारे देश के कुछ लोगों को इन अपराधों की छूट मिली हुई है। ये लोग हैं राजनेता, सत्तारूढ़ पार्टी के नेता, इन नेताओं के चमचे और इन्हें घूस या चन्दा देने वाले उद्योगपति और व्यापारी। इन सबको काला धन जमा करने और खर्च करने की पूरी आजादी है और कानून में इतनी हिम्मत नहीं कि इन्हें अपने दायरे में ले आवे।

यह दूषित धन यानी काला धन देश की अर्थ-व्यवस्था को तो छिन्न-भिन्न कर ही रहा है, इसने धर्म, नीति और सदाचार को भी ठोकर मारदी है। काले-धन के सहारे मौज उड़ाने वालों के दिल भी काले हो गये हैं।

कलुषित धन के आध्यात्मिक पहलू के बारे में छान्दोग्य उपनिषद में एक गाथा है।

एक बार ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु कुछ ऋषि अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए राजा अश्वपति के पास गये, जो उस समय उत्तम ब्रह्मज्ञानी माना जाता था। अश्वपति ने इनके ठहरने आदि का प्रबंध कर दिया, परन्तु इन्होंने भोजन नहीं किया। जब यह बात अश्वपति को मालूम हुई, तो उसने कहा : आपको यह शंका है कि मेरे राजकोष में कलुषित धन आता है, सो आप मेरा कलुषित अन्न नहीं खाना चाहते। परन्तु आप इस शंका को निकाल दें क्योंकि :

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।।

आत्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति ॥६५॥

आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ ॥६६॥

दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते ॥६७॥

दुर्बलोपि राजा नावमन्तव्यः ॥६८॥

नास्त्यग्नेर्दौर्बल्यम् ॥६९॥

दण्डे प्रतीयते वृत्तिः ॥७०॥

अपनी रक्षा से सबकी रक्षा होती है ॥६५॥

अपनी उन्नति और विनाश अपने ही अधीन होते हैं ॥६६॥

दंड का प्रयोग समझ-बूझ कर करना चाहिए ॥६७॥

दुर्बल राजा की भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए ॥६८॥

अग्नि कभी दुर्बल नहीं होती ॥६९॥

(राजा की) वृत्ति दंड से ही प्रकट होती है ॥७०॥

ये सूत्र राजा को लक्ष्य करके रचे गये हैं, परन्तु वर्तमान युग में सभी शासकों पर लागू होते हैं।

शासक अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है, तो सारे राज्य की रक्षा हो जाती है। आत्मरक्षा का कोरा यह मतलब नहीं कि शासक अपनी प्राण-रक्षा को ही सबकी रक्षा समझ ले। शासकों को षड्यंत्रकारियों से अवश्य सावधान रहना चाहिए परन्तु वास्तव में सुरक्षित वही शासक होता है जो धर्म और नीति के अनुसार शासन करता है। ऐसे शासक के शासन में जनता भी सुरक्षित रहती है, अर्थात् सब प्रकार के समृद्ध और सुखी होती हैं।

इसी बात को अगले सूत्र में स्पष्ट किया गया है। जो शासक धर्म और नीति के अनुसार आचरण करता है, वह अपनी तथा राष्ट्र की उन्नति कर सकता है। इसके विपरीत अधर्मी, अन्यायी तथा व्यसनी शासक स्वयं ही अपने विनाश का कारण होता है।

समझ-बूझ कर दंडनीति का प्रयोग जनता को संतुष्ट रखता है। समाज-कंटकों को कठोर दंड देने से अथवा घोर अपराध करने वालों को नरम दंड देने से जनता में असन्तोष फैल जाता है।

पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्या में दंडनीति का कई बार उल्लेख हो चुका है। इन सूत्रों में दंडनीति की विवेचना की गई है। ये सूत्र हमारे देश की वर्तमान शासन-व्यवस्था पर घटित होते हैं।

राज्य या देश के शत्रु दो प्रकार के होते हैं : भीतरी और बाहरी। भीतरी शत्रु वे होते हैं जो देशद्रोही कार्रवाइयां करते हैं। बाहरी शत्रु अन्य राज्य होते हैं जो किसी देश को अपना पिछलग्गू बनाये रखना चाहते हैं। ये राज्य देशद्रोहियों को सहायता देते हैं। इसलिए राज्य की दंडनीति ऐसी होनी चाहिए कि इन भीतरी तथा बाहरी शत्रुओं का सफाया करने में समर्थ हो।

जब देश में समाज-कंटकों की हलचलें और कार्रवाईयां बढ़ जाती है, तब जनता त्रस्त हो जाती है। सामाजिक तथा आर्थिक अपराध करने वालों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था होने से ही जनता सुखी रह सकती है।

दंडनीति के उचित प्रयोग से राज्य की संपदा में वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह है कि राज्य की संपदा को नष्ट करने वालों और हानि पहुंचाने वालों को कठोर दंड दिया जाना चाहिए। हमारे देश में सरकारी सम्पत्ति का दुरुपयोग हो रहा है और भ्रष्टाचार के कारण योजनाओं में धन का अनाप-शनाप गबन हो रहा है। यह दंडनीति की शिथिलता के ही कारण है।

जिस देश में मंत्री भ्रष्टाचारी हो जायें और उन्हें दंड देने का कोई प्रावधान न हो, बल्कि उन्हें भ्रष्टाचार की खुली छूट मिली हुई हो, उस देश का भगवान ही मालिक है।

अपराधों को रोकने का सबसे कारगर उपाय उनके लिए उचित दंड की व्यवस्था है। दंड के भय से अपराध कम होते हैं। ऐसा भय वही दंड उत्पन्न कर सकता है जिससे अपराधी को शारीरिक या आर्थिक कष्ट उठाना पड़े। कैद की या जुर्माने की सजायें इस उद्देश्य को पूरा नहीं करतीं। बल्कि अब तो जेलों को भी होटलों जैसा रूप दिया जा रहा है। जुर्माना तो वास्तव में कोई सजा ही नहीं, जब तक कि वह अपराधी की सारी संपत्ति को जब्त न करे। दूसरी तरफ कानूनों में ऐसी पेचीदगियां और खामियां है कि इनका फायदा उठाकर अपराधी अदालतों से बरी हो जाते हैं।

देश की आर्थिक तथा राजनीतिक दृढ़ता दंडनीति पर ही निर्भर करती है। जिस देश की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ होती है तथा जहां राजनीतिक स्थिरता होती है, उसकी तरफ कोई आंख उठा कर नहीं देख सकता।

चाणक्य की इस विचारधारा में मार्क्स के अर्थवाद (इकोनोमिक डौक्ट्रिन) का पूर्वाभास नजर आता है। मार्क्सवाद के अनुसार अर्थ-व्यवस्था ही मनुष्यों की परिस्थितियों का तथा इतिहास का निर्माण करती है। चाणक्य ने भी कहा है कि मनुष्यों की धार्मिक तथा भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति धन से ही हो सकती है और सारे कार्य भी धन से ही संपन्न होते है।

वर्तमान युग तो ठेठ अर्थ-प्रधान युग है। धनहीन मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की बुनियादी जरूरतें ही पूरा नहीं कर सकता। धर्म और कर्म की बातें सोचने की उसे फुर्सत ही नहीं रहती। उसे तो हर समय जीविका की चिन्ता सताती रहती है। यह चिन्ता लोगों को चोरी, डकैती, लूटमार, घूसखोरी और हत्या जैसे अपराध करने को मजबूर कर देती है। एक उक्ति है : 'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्' अर्थात भूखा आदमी कौनसे पाप नहीं करता। भर्तृहरि ने कहा है :

तानेन्द्रियाण्य विकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहित: पुरुष: स एव त्वन्य: क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥

वे ही अविकल इन्द्रियां हैं, वही नाम है, वही अकुंठित बुद्धि है, वही वाणी है, फिर भी कैसी विचित्र बात है कि धन की गर्मी के बिना मनुष्य क्षण भर में कुछ का कुछ हो जाता है।

यही हाल राष्ट्रों का है। निर्धन राष्ट्र उन्नति की दौड़ में पिछड़ जाते हैं। अपनी योजनाएं और अपने कार्य पूरे करने के लिए उनके पास पर्याप्त धन नहीं होता, सो ये सब अधूरे रह जाते हैं या देर में पूरे होते हैं। मजबूर होकर इन्हें धनवान राष्ट्रों से कर्ज लेने पड़ते हैं या भीख मांगनी पड़ती है। इसकी कीमत उन्हें अपना आत्म-सम्मान गंवाकर या स्वतंत्रता खोकर चुकानी पड़ती है।

यत्प्रयत्नात् कार्यसिद्धिर्भवति स उपाय ॥७४॥

उपायपूर्व न दुष्करं स्यात् ॥७५॥

अनुपायपूर्वं कार्यं कृतमपि विनश्यति ॥७६॥

कार्यार्थिनामुपाय एव सहाय: ॥७७॥

जिस प्रयत्न से कार्य सिद्ध हो वही उसका उपाय होता है ॥७४॥

उपायपूर्वक किया हुआ कार्य दुष्कर नहीं होता ॥७५॥

उपाय सोचे बिना आरम्भ किया हुआ कार्य नष्ट हो जाता है ॥७६॥

मनुस्मृति कहती है :

अदंड्यान्दंडयन्राजा दंड्यांश्चैवाप्यदंडन ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।।

जो दंड के योग्य नहीं उन्हें दंड देने से और जो दंड के योग्य है उन्हें दंड नहीं देने से राजा को बहुत अपयश प्राप्त होता है और वह नरक में जाता है।

हमारे देश में यही हालत हो रही है। अत्याचार और भ्रष्टाचार करने वाले मंत्रियों तथा अधिकारियों को दंडित नहीं किया जाता, परन्तु गरीबी, भूख और अन्य मजबूरियों से छोटे-छोटे अपराध करने वालों की धर-पकड़ होती है। राजनेताओं तथा उनके चट्टे-बट्टे उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा अफसरों के यहां छापे नहीं डाले जाते।

यदि कोई शासक धर्म और नीति के अनुसार शासन करता है, तो उसकी दुर्बलता पर ध्यान नहीं देना चाहिए और उसके आदेशों का पालन करना चाहिए। शासक में अग्नि के समान शक्ति होती है जिसकी जरासी चिनगारी भी भयंकर रूप धारण कर सकती है।

वृत्ति मूलमर्थ लाभः ।।७१।।

अर्थ मूलौ धर्म कामौ ।।७२।।

अर्थ मूलं कार्यम् ।।७३।।

वृत्ति आर्थिक समृद्धि का मूल है ।।७१।।

धर्म और काम का मूल अर्थ है ।।७२।।

कार्य का मूल अर्थ है ।।७३।।

राजा अथवा शासक की योग्यता और सफलता उसकी दंडनीति पर निर्भर करती है। दंडनीति के समुचित प्रयोग से सामाजिक तथा आर्थिक अपराध कम हो जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप राज्य में शान्ति-व्यवस्था रहती है और देश समृद्ध हो जाता है।

दूसरे सूत्र (धर्मस्य मूलमर्थः) की व्याख्या में बताया जा चुका है कि अर्थ अर्थात् धन को धर्म का मूल क्यों कहा गया है। इस सूत्र में धर्म के साथ काम को भी जोड़ दिया है, और आगे के सूत्र में अर्थ को कार्य का भी मूल कहा है। इस प्रकार धर्म, काम और कार्य, इन तीनों का मूल धन ही होता है।

सारे कार्य उपाय से ही सिद्ध होते हैं। इसलिए कार्यार्थी अर्थात कार्य-सिद्धि के अभिलाषी को अपना उद्देश्य प्राप्त करने में उपाय ही सहायक होते हैं।

कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यम् संपद्यते ।।७८।।

पुरुषकारमनुवर्तते दैवम् ।।७६।।

दैवं विनाति प्रयत्नं करोति यत्तद्विफलम् ।।८०।।

पुरुषार्थ बन जाने पर कार्य लक्ष्य बन जाता है ।।७८।।

दैव पुरुषार्थ के पीछे चलता है ।।७६।।

दव अनुकूल न हो तो प्रयत्न करने पर भी कार्य विफल हो जाता है ।।८०।।

भारतीय नीतिकारों ने चार पुरुषकार माने हैं: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हें पुरुषार्थ भी कहते हैं। मनुष्यों को जो प्राप्त करने योग्य है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। धर्म की व्याख्या की जा चुकी है। अर्थ से तात्पर्य धन से है जिससे जीवन के भौतिक साधन प्राप्त होते हैं। काम का अर्थ है जीवन की सुख-सुविधाओं की कामना तथा मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति। मनुष्यों के सारे कार्य किसी न किसी पुरुषार्थ के लिए होते हैं। किसी की धर्म में रुचि होती है। कोई धन कमाने में संलग्न रहता है। कोई जीवन की सारी सुख-सुविधाएं जुटाने में लगा रहता है। कोई मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना करता है। मनुष्य का जो कार्य पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है, वह कार्य ही उसका लक्ष्य बन जाता जो है। फिर वह उस लक्ष्य को प्राप्त करने में जी-जान से जुट जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तक किसी कार्य को लक्ष्य न बनाया जाये, तब तक वह सिद्ध नहीं होता।

दैव का अर्थ होता है प्रारब्ध अर्थात् पुनर्जन्म के कर्मों का भोग। दैव के बारे में एक भ्रांत धारणा यह है कि मनुष्य के सारे कर्म प्रारब्ध के अनुसार होते हैं। कर्म सिद्धांत का यह अटल नियम माना जाता है। यदि इस पर विश्वास किया जाये तो यह अर्थ निकलता है कि मनुष्य को कर्म करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं। जब सारे कार्य दैव के अधीन हैं तो मनुष्य को अपने-आप कुछ सोचने-विचारने या काम करने की जरूरत ही नहीं। दैव या भाग्य या प्रारब्ध के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना चाहिए। परन्तु दूसरा मत यह है कि जो मनुष्य पुरुषार्थ करता है वह दैव के भरोसे नहीं रहता। वह प्रारब्ध को भी बदल सकता है।

कार्य पूरा करने की इच्छा रखने वालों का सहायक उपाय ही होता है ॥७७॥

पूर्ववर्ती सूत्र में अर्थ को कार्य का मूल कहा गया है, अर्थात् सभी कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती है। बहुतसे काम शारीरिक श्रम से भी हो जाते हैं। परन्तु श्रम भी एक प्रकार का धन है। मार्क्सवाद के अनुसार तो श्रम ही एकमात्र धन है क्योंकि श्रम ही धन उत्पन्न करने का हेतु होता है।

किसी कार्य के लिए धन की व्यवस्था होने के बाद उसे पूरा करने क उपाय किये जाते हैं। कार्यसिद्धि के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते हैं वे ही उपाय बन जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रयत्न के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। केवल योजना बनाने से कुछ नहीं होता, जब तक कि उस पर अमल न किया जाये। कहा है :—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

सारे कार्य उद्यम से ही सिद्ध होते हैं केवल मनोरथ से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में पशु अपने-आप नहीं चले जाते।

कार्यसिद्धि के लिए जो प्रयत्न किये जायें वे फलदायक तथा आवश्यकता के अनुरूप होने चाहिए। प्रयत्न अथवा साधन दो प्रकार के होते हैं: शुद्ध और अशुद्ध। एक मत यह है कि यदि कार्य अच्छा है तो उसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध होने चाहिए। दूसरा मत यह है कि कार्य सिद्धि के लिए शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के साधनों का उपयोग किया जा सकता है। राजनीति में दूसरे मत को ही प्रधानता दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति में तो सभी तरह के हथकंडे अपनाये जाते हैं। गांधीजी तो साध्य और साधन, दोनों की पवित्रता पर जोर देते थे।

जो कार्य उपायपूर्वक किया जाता है, वह सुकर अर्थात् आसान हो जाता है, इस तथ्य को सभी जानते हैं। परन्तु उपायों का विचार किये बिना जो कार्य किये जाते हैं वे कभी सफल नहीं होते। ऐसा भी होता है कि उपाय तो सोच लिए जाते हैं पर वे या तो बेढंगे होते हैं या अव्यावहारिक। हमारे देश में ऐसा ही कुछ हो रहा है। देश की कानून-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए सरकार जो उपाय करती है वे निष्फल हो रहे हैं। क्योंकि उन उपायों के पीछे न तो दृढ़-संकल्प होता है और न दृढ़ प्रयत्न। वे केवल 'मनोरथ' सिद्ध हो रहे हैं।

देशे काले च कृतम् फलवत् ।।९२।।

दैवहीनं कार्यं सुसाधमपि दुःसाधं भवति ।।९३।।

नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत ।।९४।।

परीक्ष्यकारिणी श्रीश्चिरं तिष्ठति ।।९५।।

डांवाडोल चित्त वाले मनुष्य में व्यवहार की भावना नहीं होती ।।८१।।
पहले पूरी तरह निश्चित करके कार्य आरंभ करे ।।८२।।
कार्य के बीच में ढील-ढाल और टालम-टोल नहीं करनी चाहिए ।।८३।।
चलायमान चित्त वाले के कार्य सफल नहीं होते ।।८४।।
उपलब्ध साधनों का उपयोग न करने से कार्य बिगड़ जाता है ।।८५।।
दोष-रहित कार्य दुर्लभ होते हैं ।।८६।।
बुरे परिणाम वाले कार्य आरंभ न करे ।।८७।।
समय को पहचानने वाला कार्य सिद्ध कर लेता है ।।८८।।
समय निकल जाने पर समय ही कार्य के फल को पी जाता है ।।८९।।
सब कामों में क्षण भर का भी विलंब न करे ।।९०।।
परिस्थिति तथा परिणाम पर विचार करके कार्य आरंभ करे ।।९१।।
अनुकूल परिस्थिति तथा समय में किये गये कार्य सफल रहते हैं ।।९२।।
दैव के प्रतिकूल होने पर सुख साध्य कार्य भी कठिन हो जाते हैं ।।९३।।
नीति को जानने वाला देश और काल की परीक्षा
करके कार्य आरंभ करे ।।९४।।
परीक्षा करने वाले के पास सदा सफलता रहती है ।।९५।।

इन सारे सूत्रों में बताया गया है कि कोई भी कार्य आरंभ करने से पहले किन-किन बातों पर विचार कर लेना चाहिए और कौन-कौन सी बातें कार्य को विफल कर देती है।

इन सबका सार यह है:

कोऽहं को देशकालौ सम-विषम गुणाः कोऽरयः
के सहायः। का शक्तिः कोऽभ्युपायः फलमहि
च कियत् की दृशी दैव संपत्। संपतौ को निबन्धः

इन दोनों परस्पर–विरोधी मतों के बारे में दो सूक्तियां हैं :—

पूर्वजन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते

तस्मात् पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

पूर्व जन्म के कर्मों को दैव कहते हैं। इसलिए दैव के विना कोई भी पुरुषार्थ सफल नहीं होता।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी : दैवं प्रधानमिति कापुरुषा: वदन्ति।

दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

उद्योग करने वाले निर्भय मनुष्य के पास लक्ष्मी आ जाती है, अर्थात् उसके सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग दैव को प्रधान कहते हैं, वे कायर हैं। इसलिए दैव को छोड़कर भरसक प्रयत्न करना चाहिए। यदि प्रयत्न करने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो यह देखना चाहिए कि प्रयत्न में क्या दोष रह गया।

इन तीनों सूत्रों में प्रयत्न तथा पुरुषार्थ पर ही बल दिया गया है, परन्तु यह भी कहा गया है कि यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य सफल न हो तो यह मानकर संतोष कर लेना चाहिए कि दैव अनुकूल नहीं। कार्य को प्रारम्भ करते समय दैव का विचार नहीं करना चाहिए।

असमाहितस्य वृत्तिर्न विद्यते ॥८१॥

पूर्व निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत ॥८२॥

कार्यान्तरं दीर्घसूत्रिता न कर्त्तव्य ॥८३॥

न चलचितस्य कार्यावाप्ति ॥८४॥

हस्तगतावमाननात् कार्य व्यतिक्रमो भवति ॥८५॥

दोष वर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि ॥८६॥

दुरनुबंधं कार्या नारभेत ॥८७॥

कालवित् कार्या साधयेत ॥८८॥

कालातिक्रमात् काल एवं फलं पिवति ॥८९॥

क्षणं प्रति काल विक्षेपं न कुर्यात सर्वकृत्येषु ॥९०॥

देशफल विभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत ॥९१॥

है, बछड़ा गाय का दूध पीता है और भ्रमर फूलों का रसपान करता है) शुक्र नीति कहती है :

पौराणां राष्ट्रजातानां ग्राह्यं सान्मानचान्यया ।
दर्शयित्वा तथा दायान ग्राह्यं वित्तं ततो नृपैः ।।

राजा अपने राष्ट्र के पुरजनों की सहमति से ही कर वसूल करे, उन्हें नाराज करके नहीं । जो कुछ वसूल करे, वह उन्हें दिखाकर ही ले ।

कर लगाने का वर्तमान सिद्धान्त भी यही है ।

राज्य की संपदा में वृद्धि तभी हो सकती है जब उसके अपचय के रास्ते बंद कर दिये जायें । यह तभी हो सकता है जब राज्य के कर्मचारी ईमानदार हों । अर्थशास्त्र में राज्य कर्मचारियों के भ्रष्टाचार की विवेचना की गयी है :

यथाह्यनास्वादयितुं न शक्यं जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा ।
अर्थस्तवाह्यर्थचरेण राज्ञः स्वल्पोऽप्यनास्वादयितुं न शक्य ।।
मत्स्याः यथान्तः सलिलं चरन्तो ज्ञातु न शक्या सलिलं पिबन्त ।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः ।।

अपि शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां से पतत्रिणाम ।
न तु प्रच्छन्नभावानां युक्तानां चरतां गतिः ।।

जैसे जीभ पर रखे हुए मधु या विष का स्वाद लिये बिना नहीं रहा जा सकता, इसी तरह धन एकत्र करने वाला अधिकारी थोड़ासा धन चाटे बिना नहीं रह सकता ।

जैसे पानी में रहने वाली मछली पानी पीती हुई नजर नहीं आती, इसी तरह धन संग्रह के कार्य पर नियुक्त लोग धन का गबन करते हुए जाने नहीं जाते ।

आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति का पता लगाया जा सकता है, परन्तु गुप्तरूप से धन का अपहरण करने वाले राज्य कर्मचारियों की गति का पता नहीं लग सकता ।

हमारे देश में आजकल ऐसी हालत हो रही है कि सार्वजनिक अथवा राष्ट्र के धन का चोरी-छिपे नहीं बल्कि चौड़े-धाड़े अपहरण किया जा रहा है । राज्य के छोटे-बड़े कर्मचारी ही नहीं, बल्कि राजनेता और शासक वर्ग के लोग भी इस भ्रष्टाचार में लिप्त है । इससे देश की संपदा को अपार हानि हो रही है । अर्बों की धनराशि राज्यकोश में जमा होने की बजाय कालाधन बन रही है ।

प्रवदित वचनस्योत्तरं किं नु मे स्यात । इत्येवं
कार्यसिद्धाववहित मनसो हस्तगाः संपद स्युः ।।

मैं कौन हूं, देश और काल कैसा है, साधक और वाधक गुण कौनसे हैं, कौन शत्रु है, कौन सहायक है। मेरी शक्ति क्या है, कार्य का फल क्या है, कार्य का फल क्या होगा, दैव और संपदा कैसे नजर आते हैं। संपदा के साधनों का क्या प्रबंध है। जो बात पूछी गई है उसका मैं क्या उत्तर दूं। कार्य सिद्धि की इच्छा करने वाला इन बातों पर मनन करता है तो संपद अर्थात सफलता उसके हाथ में आ जाती है।

सर्वाश्च संपदः सर्वोपायेन परिग्रहेत ।।९६।।

सारी सम्पदा को सभी प्रकार के उपायों से प्राप्त करे ।।९६।।

इस सूत्र में राज्य के शासक को संबोधन है कि वह राज्य की संपदा को बढ़ाने के लिए सभी प्रकार के उपाय करे। राज्य का कोश सबसे अधिक महत्वपूर्ण संपदा होता है। जलस्रोत, वन, खानें आदि प्राकृतिक साधन भी देश की संपदा होते हैं।

राज्यकोश के लिए धन प्राप्त करने के मनुस्मृति ने चार साधन बताये हैं: भाग, दण्ड, आकर कर तथा शुल्क।

राज्य कृषि की उपज का कुछ भाग किसानों से लेता था, सो इसे भाग कहा जाता था। आजकल यह कर जोतों पर लिया जाता है और लगान कहलाता है। अर्थदंड अर्थात जुरमाने से प्राप्त धन भी राज्यकोश की वृद्धि करता है। आकर कर खानों, वृक्षों, मांस, मधु, तेल, गंध, औषधि, रसपुष्प, मूलफल, शाक, घास, चमड़े तथा मिट्टी की वस्तुओं से होने वाली आय से वसूल किया जाता था। व्यापारियों के क्रय-विक्रय पर लगाया गया कर शुल्क कहलाता था।

आज भी राज्यकोश के लिए धन प्राप्त करने के मूल साधन लगभग ये ही हैं, केवल इनका विस्तार हो गया है और नाम बदल गये हैं।

इन करों की वसूली में क्या नीति अपनानी चाहिए, इसके बारे में मनुस्मृति कहती है:

यथा-अल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्यो गोवत्स षट्पदाः ।
तथा अल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाऽब्दिकः करः ।।

जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा मद खाते हैं उसी प्रकार राजा भी राष्ट्र से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करे। (जोंक खून पीती

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणं छेदन ताप ताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।।

जिस प्रकार रगड़ कर (कसौटी पर), काट कर तपा कर और कूट-पीट कर स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, इसी प्रकार त्याग, शील, गुण और कर्म से मनुष्य की परीक्षा की जाती है ।

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव नियोजयेत ।।९९।।

जो जिस कार्य में कुशल हो, उसे उसी प्रकार के कार्य में लगाना चाहिए ।।९९।।

यह जानी-मानी बात है कि जो आदमी जिस काम को जानता हो और उसे कुशलता से कर सकता हो, उसे उसी काम में लगाना चाहिए । इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि प्रत्येक कार्य में ऐसे लोगों को नियुक्त करना चाहिए जो उस कार्य में कुशल हों ।

चाणक्य नीति कहती है :

स्थानेष्वेव नियोज्यानि भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः प्राज्ञैः पादादौ प्रतिबध्यते ।।

भृत्यों अर्थात् कर्मचारियों तथा आभूषणों का विनियोग उचित स्थान पर करना चाहिए । बुद्धिमान जन चूडामणि (सिर का आभूषण) को पांव में नहीं बांधते । अथवा पायजेब को सिर पर नहीं बांधते ।

शेखसादी ने कहा है :

बकार हाये गिर ।
मर्देकार दीदा फिरिस्त ।।

न दिहन्द होशमन्द रोशनराय बा फरोमाया कारहाय खतीर ।
बोरिया बाफ गर्चे बाफन्दास्त न बुरंदश व कारगाहे खतीर ।।

महत्वपूर्ण कार्य के लिये प्रत्यक्ष अनुभव वाले आदमी को भेज ।

जागरूक और बुद्धिमान आदमी महत्वपूर्ण कार्य नीच को नहीं सौंपता । चटाई बुनने वाला हालांकि बुनना जानता है, पर उसे रेशम के कारखाने में नहीं ले जाते ।

दुनिया का कोई भी काम ऐसा नहीं जो योग्यता और कुशलता की अपेक्षा न रखता हो । झाड़ू लगाने जैसा मामूली काम भी किसी फूहड़ को सौंप दिया जाये तो पूरी सफाई नहीं हो पाती । लेकिन हमारे देश में एक काम ऐसा है जिसके लिए न योग्यता देखी जाती है और न कुशलता । वह है, शासन और

भाग्यवन्तम परीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥९७॥

ज्ञानानुमानैश्च परीक्षा कर्त्तव्या ॥९८॥

परीक्षा किये विना कार्य करने वाले भाग्यवान को लक्ष्मी छोड़ जाती है ॥९७॥

ज्ञान और अनुमान के आधार पर परीक्षा करनी चाहिए ॥९८॥

परीक्षा करके, अर्थात खूब देखभाल कर कार्य करने वाले के यहां लक्ष्मी निवास करती है। अब इसी बात को उलट कर दोहराया गया है। परीक्षा का अर्थ है चारों ओर देखभाल कर जांच करना, अर्थात किसी कार्य के सारे पहलुओं पर विचार करना। जो मनुष्य ऐसा नहीं करता उसके कार्य सफल नहीं होते और वह अपनी धन-संपत्ति गंवा देता है। धन-संपत्ति मनुष्य को भाग्य से ही मिलती है, ऐसी मान्यता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य बिना सोचे-विचारे कोई कार्य करता है तो भाग्य भी उसका साथ नहीं देता। उसके भाग्य में लिखी धन-संपत्ति भी नष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को केवल भाग्य के भरोसे नहीं रहना चाहिए। भाग्य का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अकर्मण्य होकर बैठ जाये, या मूर्खता के काम करने लगे। पुरुषार्थ के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। भाग्य का ही दूसरा नाम दैव है। इसके बारे में लिखा जा चुका है।

परीक्षा के दो उपाय हैं : ज्ञान तथा अनुमान। ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त होता है और अनुमान का आधार व्याप्ति ज्ञान होता है। जैसे, जहां धुआं हो वहां आग अवश्य होती है। इसलिए कहीं धुआं निकल रहा हो तो वहां आग का अनुमान किया जा सकता है। न्याय शास्त्र में प्रत्यक्ष तथा अनुमान को प्रमाण माना गया है। इसलिए कोई कार्य आरंभ करने से पहले इन दोनों का सहारा लेना चाहिए। पहले कोई कार्य किया हो और उसमें जो अनुभव हुए हों, उनका उपयोग करके साधक और बाधक परिस्थितियों का विचार करना चाहिए। अनुमान से यह जानना चाहिए कि इसी प्रकार के कार्य में दूसरे लोगों को क्या अनुभव हुए हैं और उनके मार्ग में क्या-क्या कठिनाईयां आयी है। या क्या-क्या सुगमतायें हुई हैं।

परीक्षा का अर्थ यह भी है कि कार्य के लिये जिन लोगों को नियुक्त करना है या जिनकी सहायता लेनी है उन्हें भी परख लिया जाये। खोटे आदमियों को साथ लेने से कार्य सफल नहीं हो सकता। चाणक्य नीति में मनुष्यों को परखने के चार पद बताये है :

सकता। अगर इस सफलता के आधार पर अनाड़ी को दूसरे काम सौंप दिये जायँ, तो हानि हो सकती है, क्योंकि अनाड़ी तो अनाड़ी ही रहेगा।

इसी बात को कीड़े के दृष्टान्त से समझाया गया है। इसे 'घुणाक्षर न्याय' कहते हैं। घुन का कीड़ा लकड़ी पर तरह-तरह की आकृतियां बना देता है। कोई आकृति अक्षर जैसी भी हो सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कीड़े को अक्षर-ज्ञान है या उसने जान बूझकर अक्षर बनाया है। यह केवल आकस्मिक या संयोग की बात होती है जिसे प्रमाण या उदाहरण नहीं माना जा सकता। इसी आशय के दो न्याय और हैं : 'अंध चटक न्याय' और 'काक तालीय न्याय'।

कोई अंधा ताली बजा रहा है। अकस्मात् ही एक बटेर चिड़िया उसके हाथों के बीच में आ गयी और उसने उसे पकड़ लिया। 'अंधे के हाथ बटेर लगना'—हिंदी का यह मुहावरा 'अंध चटक न्याय' का ही रूपांतर है।

'काक तालीय न्याय' का दृष्टांत यह है कि ताड़ का एक पेड़ जड़ से उखड़ा हुआ खड़ा था। एक कौवा आकर उस पर बैठा, उसी समय वह पेड़ गिर गया। देखने वाले ने समझा कि कौवे ने पेड़ को गिरा दिया।

इसी प्रकार अनाड़ी के हाथों कोई काम सिद्ध हो जाये, तो उसे संयोग ही या आकस्मिक घटना समझना चाहिए।

सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्त्तव्यम् ॥१०३॥

कार्य सिद्ध हो जाने पर ही उसे प्रकाशित करना चाहिए ॥१०३॥

यह उस समय की बात है जब छोटे-छोटे राज्य शत्रुओं से घिरे रहते थे। उन्हें इन शत्रुओं की ओर से आशंका बनी रहती थी कि राज्य के कार्य में विघ्न न डाल दें या तोड़-फोड़ न करवा दें। इसलिए महत्त्वपूर्ण कार्य गुप्त रखे जाते थे और उनके पूरा होने पर ही उनकी जानकारी दी जाती थी।

आजकल भी कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी कार्य के बारे में पहले से ढिंढोरा पीट दिया जाता है, पर विपरीत परिस्थितियों के कारण वह पूरा नहीं हो पाता। इससे जग-हंसाई होती है।

ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति ॥१०४॥

दैवं शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम् ॥१०५॥

पूरी जानकारी और समझदारी से आरम्भ किए गए कार्य दैव या मनुष्यों के दोष से बिगड़ जाते हैं ॥१०४॥

दैव का शान्ति कर्म से निवारण करना चाहिए ॥१०५॥

प्रशासन। मंत्रियों और शासन-अधिकारियों की नियुक्ति का एक मात्र पैमाना है, राजनीति। यह ऐसा हाथी का पांव है जिसमें सारे पांव समा जाते हैं।

मंत्री की नियुक्ति केवल इस आधार पर होती है कि वह किस वर्ग या जाति का है, उसका अपने इलाके में कितना प्रभाव है और वह कितने वोट बटोर सकता है। न तो यह देखा जाता है कि वह कितना पढ़ा-लिखा है न यह देखा जाता है कि जो विभाग उसे सौंपा जा रहा है उसका क-ख भी वह जानता है, न उसके चरित्र और आचरण पर ध्यान दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि या तो वह सिर्फ अंगूठा छाप बन जाता है या बेढंगे काम करता है।

इसी तरह प्रशासनिक सेवा (आई. ए. एस.) के अधिकारियों को हरफन मौला मानकर उन्हें चाहे जहां बिठा दिया जाता है या किसी चहेते अफसर को भारी जिम्मेदारी सौंप दी जाती है, भले ही वह उस पद के लिए अक्षम हो। अफसर की योग्यता इसी में देखी जाती है कि वह सत्ताधारी पार्टी की मशीन का पुर्जा बन जाये।

मंत्रियों और शासन-अधिकारियों की नियुक्ति के मामलों में यह कहावत चरितार्थ हो रही है, 'जिसे पिया चाहे वही सुहागन'।

दुःसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञः ।।१००।।

अज्ञानिना कृतमपि न बहुमन्तव्यम् ।।१०१।।

यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति ।।१०२।।

उपाय को जानने वाला दुष्कर कार्य को भी सुकर बना देता है ।।१००।।

अज्ञानी अर्थात अनाड़ी के सफल कार्य को भी महत्व नहीं देना चाहिए ।।१०१।।

कीड़ा भी अकस्मात् ही तरह-तरह के रूप बना देता है ।।१०२।।

उपाय से कठिन कार्य भी सुकर हो जाता है। यह सूत्र पिचहत्तरवें सूत्र की पुनरुक्ति है, जिसकी व्याख्या की जा चुकी है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई काम अनाड़ी को सौंप दिया जाता है और वह काम सफल हो जाता है। इस सफलता को महत्व नहीं देना चाहिए। हो सकता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियां बन गया हों, जिनके कारण वह कार्य संपन्न हो गया हो। इसलिए उसकी सफलता का श्रेय अनाड़ी को नहीं दिया जा

मंत्र भैषज्य संयुक्ताः योगा मायाकृताश्च ये ।
उपहृत्याहमित्रास्तः स्वजनं चाभि पालयन् ।।

मन्त्र, औषध तथा माया के प्रयोगों से शत्रु का नाश करना चाहिए और अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ।

आधि, व्याधि तथा उपाधि के निवारण के लिये आयुर्वेद में भी मणि, मन्त्र तथा औषधि के प्रयोग का निर्देश है ।

मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विनिवारयेत् ।।१०६।।

कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः ।।१०७।।

कार्यार्थिना दाक्षिण्यं न कर्त्तव्यम् ।।१०८।।

मनुष्यों की गलतियों से कार्य में होने वाले विघ्नों का कौशल से निवारण करे ।।१०६।।

कार्य में विघ्न पड़ने पर मूर्ख लोग उसमें दोष निकालते हैं, या दूसरों पर दोषारोपण करते हैं ।।१०७।।

कार्य को सफल बनाने के इच्छुक को उदारता या दया नहीं बरतनी चाहिए ।।१०८।।

दैवी विपत्तियां तो आकस्मिक होती हैं और इन पर मनुष्य का कोई वश नहीं होता । इनका पहले से कोई अनुमान नहीं होता और इनसे होने वाली क्षति की पूर्ति के उपाय किये जाते है । परन्तु कार्यकर्त्ताओं तथा कर्मचारियों की गलती से भी काम बिगड़ जाते हैं । कार्मिक लोग क्या-क्या गलतियां कर सकते हैं, इसका अनुमान पहले से ही लगा लेना चाहिए और ऐसे उपाय करने चाहिए कि वे गलतियां न हों । या गलतियां हो जायें तो उनको चतुराई से सुधारना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि वैसी गलतियां फिर न होने पायें ।

जब कोई काम बिगड़ जाता है तब लोग उसकी कमियों का बखान करने लगते हैं और अपनी गलती महसूस करने के बजाय दूसरों को दोषी बताने लगते हैं । ऐसे लोगों को मूर्ख इसलिए कहा गया है कि पहले तो वे गलतियां करते हैं और फिर बहाने ढूंढते हैं । अंग्रेजी की कहावत है : 'एवरी बड़ी इज वाइज आफ्टर द ईवेन्ट' अर्थात घटना हो चुकने पर हर आदमी बुद्धिमानी की बात करता है । परन्तु यह बुद्धिमानी नहीं बल्कि मूर्खता होती है । कहा है :

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवेत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ।।

किसी कार्य के बिगड़ने के दो कारण हो सकते हैं : दैव की प्रतिकूलता या कार्यकर्ताओं की त्रुटि। तिरानवेवें सूत्र में जो बात कही गयी है उसी को यहां दोहराया गया है और उसमें एक कारण और जोड़ दिया गया है।

दैव का अर्थ यहां बाढ़, तूफान, सूखा, महामारी, भूकम्प आदि दैवी विपत्तियां भी लगाया जा सकता है। इनके कारण कार्य में विघ्न पड़ जाता है।

मानव त्रुटियां कई प्रकार की होती हैं जिनका वर्णन पिछले सूत्रों में किया जा चुका है। देश, काल और परिस्थिति का विचार नहीं करना, समय पर धन की व्यवस्था नहीं होना, कार्य के लिए आवश्यक साधनों तथा उपायों पर ध्यान नहीं देना, अकुशल लोगों को काम में लगाना—ये सब मानवीय त्रुटियां हैं। राजनीतिक दस्तंदाजी भी काम को बिगाड़ देती है। चाणक्य नीति कहती है :

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपंडितः॥

मूर्ख या नासमझ लोग प्रतिकूल परिस्थितियों को देखकर दैव को कोसते हैं परन्तु अपने उन दोषों को नहीं जानते जिनके कारण कार्य बिगड़ गया हो।

तात्पर्य यह है कि जब कोई काम बिगड़ जाता है तब लोग यह नहीं देखते कि उन्होंने क्या गलतियां की हैं, बल्कि सारा दोष दैवी प्रतिकूलताओं पर मढ़ देते हैं।

दैवी विपत्तियों का शांति के अनुष्ठानों से निवारण करना चाहिए। चाणक्य ज्योतिष विद्या तथा मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र विद्याओं का भी ज्ञाता था। ज्योतिष तथा तन्त्र शास्त्रों में ग्रह-नक्षत्रों के कु-प्रभाव तथा दैवी विपत्तियों की शांति के अनुष्ठान बताये गये हैं। निजी तौर पर बहुत लोग इनमें विश्वास करते हैं, परन्तु सार्वजनिक तौर पर इन्हें अंध-विश्वास माना जाता है। परन्तु फिर भी बहुत से सार्वजनिक कार्य आरम्भ करने से पहले मन्त्र या पूजा के अनुष्ठान किये जाते हैं।

मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र में अपार शक्ति होती है। भारत के तथा अन्य देशों के भी कई मनीषियों ने इसका वैज्ञानिक विवेचन किया है। आर्थर एवैलां (सर जॉन वुडरॉफ) ने अपनी पुस्तक 'गारलैंड आव लैटर्स' में इस विषय की विस्तारपूर्वक विवेचना की है।

चाणक्य की मान्यता है कि मन्त्र आदि के द्वारा शत्रुओं का नाश किया जा सकता है। अर्थशास्त्र में इसने कहा है :

पारिश्रमिक में कटौती की जा सकती है। जिनकी ताड़ना की जाये उन्हें भी बुरा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह ताड़ना किसी द्वेष के कारण नहीं वल्कि कार्य के हित में की जाती है।

जिस कार्य के लिये भरपूर प्रत्यन न किया जाये वह सिद्ध नहीं होता। यह जानी-मानी वात है।

दैव पुरुषार्थ के पीछे चलता है। इसी वात को यहां दोहराया गया है। दैव के भरोसे वैठे रहने से, अर्थात यह सोचने से कार्य सिद्ध नहीं होता कि दैव अनुकुल होगा तो काम वन जायेगा, नहीं होगा तो नहीं वनेगा। इसलिये प्रयत्न और पुरुषार्थ में कमी नहीं करनी चाहिये।

जो आदमी काम से जी चुराता है अर्थात अपना कर्तव्य पालन नहीं करता, वह अपने आश्रितों का भरण-पोषण नहीं कर सकता। काम या परिश्रम ही जीविका का साधन होता है। जो इन साधन का उपयोग नहीं करता उसके आश्रित कुटुम्ब के या अन्य लोग भूखे मरते है।

जो मनुष्य अपने कार्य के महत्व को नहीं समझता और उसे पूरा करने का भरसक प्रयत्न नहीं करता वह अन्धा होता है। उसे यह नजर नहीं आता कि इसका क्या परिणाम होगा। वह अन्धों की तरह ठोकरें खाता है, या किसी गड्ढे में गिर पड़ता है। तात्पर्य यह है कि जो कार्य हाथ में लिया हो, या जो काम सौंपा गया हो, उसे पूरी लगन के साथ और जागरूक रहकर पूरा करना चाहिये।

प्रत्यक्ष परोक्षानुमानैः कार्याणि परीक्षेत ॥११४॥

अपरीक्ष्यकारिणं श्री परित्यजति ॥११५॥

न परीक्ष्यकारिणं कार्यं विपत्तिः ॥११६॥

परीक्ष्य तार्या विपत्तिः ॥११७॥

स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत ॥११८॥

प्रत्यक्ष अनुभव से और परोक्ष के अनुमान से
कार्य की परीक्षा करे ॥११४॥

विना परीक्षा के कार्य करने वाले को सफलता
प्राप्त नहीं होती ॥११५॥

जो मनुष्य परीक्षा करके कार्यारंभ करता है
उसके कार्य में विघ्न नहीं पड़ता ॥११६॥

प्रमाद से कार्य की गति में विघ्न पड़ना अनिवार्य है। दुर्जन तब हंसी उड़ाते हैं और सज्जन उन्हें दूर करने के उपाय सुझाते हैं।

दंडी ने कहा है : 'गुणदोषान शास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः', अर्थात मूढ़ लोग गुण और दोष में भेद करना नहीं जानते।

कार्य तभी सफल होता है जब उसकी योजना पर सख्ती से अमल किया जाये। गलती करने वालों के प्रति उदारता या दया नहीं दिखानी चाहिए। काम में ढील-ढाल को बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। हमारे देश में यह देखने में आ रहा है कि सरकारी कामों में गलतियां, ढील-ढाल या भ्रष्टाचार करने वालों को पकड़ कर सजा देने की बजाय राजनीतिक कारणों से उन्हें बचाया जाता है और जांच भी करायी जाती है तो उस पर लीपा-पोती करदी जाती है। कहावत है: 'सीधी उंगली से जमा हुआ घी नहीं निकलता'।

क्षीरार्थी वत्सो मातुरुधः प्रतिहन्ति ॥१०९॥

अप्रयत्नात् कार्य विपतिर्भवति ॥११०॥

न दैव प्रमाणानं कार्यसिद्धिः ॥१११॥

कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान् ॥११२॥

य कार्य न पश्यतिसोऽधः ॥११३॥

दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माता (गाय) के थनों में टक्कर मारता है ॥१०९॥

प्रयत्न न करने से कार्य में विघ्न पड़ जाता है ॥११०॥

दैव के भरोसे रहने पर कार्य सिद्ध नहीं होता ॥१११॥

कार्य से जी चुराने वाला अपने आश्रितों का पालन-पोषण नहीं कर सकता ॥११२॥

जो कार्य को नहीं देखता वह अन्धा होता है ॥११३॥

दूध पीने वाला बछड़ा थनों में दूध उतारने के लिये मुंह से टक्कर मारता रहता है। गाय भी इस टक्कर से नाराज नहीं होती, क्योंकि वह जानती है कि बछड़े के लिये ऐसा करना जरूरी है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि किसी कार्य में लगे हुए लोग जब ढीले या सुस्त हो जायें तो उन्हें ताड़ना देना जरूरी होता है। यह ताड़ना फटकार के रूप में या किसी सजा के रूप में दी जा सकती है। काम में कोताही करने वालों पर जुरमाना किया जा सकता है, या उनके

सर्वाकार्यनुष्ठानादायमुखानि वर्धन्ते ॥१२०॥

सारे कार्यों के अनुष्ठान से आय के स्रोत बढ़ते हैं ॥१२०॥

पूर्ववर्ती सूत्रों में वताया गया है कि कोई भी कार्य आरम्भ करने से पहले किन-किन वातों का विचार करना चाहिए, उसे पूरा करने के क्या-क्या उपाय और प्रयत्न करने चाहिए और उसमें आने वाली विघ्न वाधाओं का कैसे निराकरण करना चाहिए। इसी को कार्य का अनुष्ठान कहते हैं। अनुष्ठान पूर्वक किये गये कार्य सफल हो जाते है और उनसे राष्ट्र की आय वढ़ती है। कार्य ही आय के स्रोत होते हैं।

नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता ॥१२१॥

डरपोक आदमी को कार्य की चिन्ता नहीं होती ॥१२१॥

भीरु अर्थात डरपोक आदमी वह होता है जिसमें किसी कार्य को करने की हिम्मत नहीं होती। उसे डर लगा रहता है कि कार्य विगड़ न जाये। इसलिए वह किसी कार्य के वारे में सोचता ही नहीं, अकर्मण्य होकर वैठा रहता है।

डरपोक आदमी संशयी होता है, उसे हरदम अनिष्ट की शंका वनी रहती है। गीता में कहा है: 'संशयात्मा विनश्यति', अर्थात संशय करने वाला मनुष्य नष्ट हो जाता है। इसी आशय का एक श्लोक है:

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्येति।
संशय पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

जो मनुष्य इस संशय में पड़ा रहता है कि कोई कार्य करने में उसका इष्ट होगा या अनिष्ट होगा, वह यह नहीं देखता कि उस कार्य से क्या लाभ हो सकता है। परन्तु जो मनुष्य संशय को को दूर करके अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता वह लाभ प्राप्त करता है।

चाणक्य नीति कहती है:

प्रभूतं कार्यमपि वा तन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारंभेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रवक्षते॥

मनुष्य कितना ही वड़ा काम क्यों न करना चाहता हो, उसे सारे विघ्नों की चिन्ता छोड़ कर सिंह के समान निर्भय होकर कार्य करना चाहिए।

गांधीजी यदि इस संशय में पड़े रहते कि ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली साम्राज्यसे टक्कर लेनी चाहिए या नहीं, तो भारत स्वाधीनता प्राप्त नहीं करता।

परोक्षा से विघ्नों का निराकरण हो जाता है ।।११७।।
अपनी शक्ति को पहचान कर कार्य आरंभ करना चाहिए ।।११८।।

इन पाचों सूत्रों में जो बातें कही गयी है, वे सब पूर्ववर्ती सूत्रों में आ चुकी है. इन्हें कुछ शब्दों के हेर-फेर से पुनरुक्तियां ही कहा जा सकता है ।

इनका सारांश यह है कि कोई भी कार्य आरम्भ करने से पहले अपने प्रत्यक्ष अनुभवों और परोक्ष अनुमानों के आधार पर कार्य की योजना तथा उसके परिणाम की पूरी तरह जांच कर लेनी चाहिए । ऐसी जांच के अभाव में कार्य सफल नहीं होता । पूरी जांच के बाद जो काम शुरू किया जाता है, उसमें बाधाएं नहीं आती और वह सम्पन्न हो जाता है । शक्ति को पहचान कर कार्य आरम्भ करने का अर्थ यह है कि पहले यह देख लेना चाहिए कि कार्य के लिए धन, साधन, उपकरण, कर्मी, आदि यथोचित मात्रा में उपलब्ध हैं या नहीं ।

स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषभोजी सोऽमृत भोजी ।।११९।।

स्वजनों को तृप्त करके बाकी बचे हुए को खाने वाला अमृतभोजी होता है ।।११९।।

इस सूत्र का अर्थ बहुत व्यापक है । इसमें चोरी और परिग्रह (संग्रह) का निषेध है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो कुछ अर्जित करे यानी कमावे, उसका अकेले उपभोग न करे । कहा है: 'केवलोघी भवती केवलादी' अकेला उपभोग करने वाला केवल अपराधी होता है ।

भागवत् पुराण में कहा है :

> यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दंडमर्हति ।।

जितने से अपना पेट भर जाये, उतना ही मनुष्य को रखने का अधिकार है । इससे अधिक का जो अभिमान करता है, वह चोर है और दंड के योग्य है ।

तीर्थंकर महावीर का वचन है :

असंविभागी असंगहरुइ अप्पमाण भोई से तारसिए नाराहये वहमिणं ।

जो बांट कर नहीं खाता, अपने लिए संग्रह करता है और मर्यादा से अधिक भोजन करता है या जीवन-साधनों का उपभोग करता है, वह अस्तेय (चोरी न करना) का आराधक नहीं, अर्थात चोर है ।

फ्रान्स के अराजकतावादी दार्शनिक प्रूधों ने कहा है : 'प्रोपर्टी इज थेफ्ट' अर्थात् संपत्ति चोरी है । मार्क्स ने भी यही बात कही है जो हमारे शास्त्रों में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रतिपादित है ।

किसी दूसरे को मत बताना। दूसरा किसी तीसरे से यही कहता है और सिल-सिला चल पड़ता है। गुप्त बात आम बात हो जाती है।

यूनानी मिथक में इसका एक रोचक दृष्टान्त है। अपोलो संगीत और कविता का देवता था। वह संतूर बजाता था। पान गडरियों का देवता था और बांसुरी बजाता था। एक बार दोनों में होड़ हो गयी कि कौन अच्छा संगीतज्ञ है। दोनों फ्रीजिया के राजा मिदास के पास गये और उससे कहा कि वह दोनों के संगीत को सुनकर निर्णय दे। मिदास ने दोनों को सुना और पान के पक्ष में निर्णय दे दिया। इस पर अपोलो ने क्रोध में आकर मिदास को शाप दिया और मिदास के कान गधे के कानों जैसे हो गये। मिदास ने अपने दर्जी को बुलाया और उसे आज्ञा दी वह ऐसी टोपी बना दे जिसमें लंबे कान छिप जायें। दर्जी ने ऐसी टोपी तैयार करके दे दी। तब मिदास ने उससे कहा: अगर तूने यह भेद किसी को बता दिया तो तुझे फांसी दे दी जायेगी। इस चेतावनी को सुनकर दर्जी के पेट में खलबली मच गयी और यह गुप्त बात प्रकट करने को छटपटाने लगा। उसे रात भर नींद नहीं आयी। जब उससे रहा नहीं गया तो वह जंगल में गया। वहां उसने एक गड्ढा खोदा और उसमें मुंह डालकर कहा: राजा मिदास के गधे जैसे कान। फिर उस गढ्डे को मिट्टी से भरकर घर चला गया। कुछ दिन बाद उस गड्ढे में एक पेड़ उगा। जब हवा चलती तब उस पेड़ के पत्तों से ध्वनि निकलती : राजा मिदास के गधे जैसे कान। इस तरह यह बात चारों तरफ फैल गयीं।

विचित्रता यह है कि किसी बात को प्रकट करने की तड़प आदमी के दिल में तभी पैदा होती है जब उसे कहा जाय कि यह गुप्त बात है और किसी को बताने की नहीं। मामूली बात सुनकर ऐसी तरंग मन में नहीं उठती। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिसे 'इन्सटिंक्ट आव कॉन्ट्रा-सजेशन' अर्थात निषेध के प्रतिरोध की सहज मनोवृत्ति कहते हैं। बच्चों की प्रवृत्ति होती है कि जिस काम के लिए उन्हें मना किया जाये, उसे वे करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति बहुत लोगों में पायी जाती है।

आश्रितैरप्यवमन्यते मृदु स्वभावः ॥१२५॥

तीक्ष्णदंडः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति ॥१२६॥

यथार्हदण्डकारी स्यात ॥१२७॥

मृदु स्वभाव वाले मनुष्य की उसके आश्रित भी अवज्ञा करते हैं ॥१२५॥

स्वामिनः शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयति ।।१२२।।

धेनोः शीलज्ञः क्षीरं भुक्ते ।।१२३।।

कार्य में नियुक्त लोग स्वामी के शील को जानकर कार्य सिद्ध करते हैं ।।१२२।।

गाय के शील अर्थात् स्वभाव को जानने वाला दूध पीता है ।।१२३।।

स्वामी शब्द के दो अभिप्राय हो सकते हैं। कोई मनुष्य जिसके नौकर-चाकर हों, या सरकार, संगठन, संस्था, व्यापारिक अथवा औद्योगिक प्रतिष्ठान आदि जिसके अधीन अनेक कर्मचारी, कार्यकर्ता, श्रमिक आदि हों।

जो नौकर अपने स्वामी के स्वभाव को, आदतों को, सनक को, पसन्द-नापसन्द को और रुचि को जानता है, वह उसके सारे काम खूब अच्छी तरह कर सकता है। उसे हर बात बताने की या डाटने-डपटने की जरूरत नहीं होती।

इसी प्रकार जो सरकारी कर्मचारी या किसी संगठन या संस्था के कार्यकर्ता, या व्यापारिक प्रतिष्ठान में काम करने वाले या उद्योग के श्रमिक यह महसूस नहीं करते कि सरकार की क्या मंशा है या अधिकारियों अथवा प्रबन्धकों का क्या उद्देश्य है, वे अपना काम ठीक तरह कर सकते। एक मुहावरा है: 'एक बोली तीन काम,' अर्थात जो नौकर अपने स्वामी के आदेश को समझता है वह उससे सम्बद्ध सारे काम बिना कहे ही कर देता है। परन्तु आजकल तो 'रूलों' की दुहाई दी जाती है। जो काम बताया उसे 'रूल' के मुताबिक कर दिया और मामला खतम। भले ही वह काम अधूरा रह जाये।

इसी बात को गाय के दृष्टान्त से समझाया गया है। जो आदमी गाय के स्वभाव को जानता है, वह उसे अच्छी तरह दोह सकता है। गाय कभी-कभी लात भी मार देती है, पर दोहने वाला उसकी परवाह नहीं करता। एक दोहे की अर्धाली है: 'लात खाय पुचकारिये होय दुधारू धेन'।

मतलब यह है कि किसी कार्य की सफलता के लिए जरूरी है कि काम कराने वाले और काम करने वाले में पुरी तरह सामंजस्य हो।

क्षुद्रे गुह्यप्रकाशन आत्मवान्न कुर्वीत ।।१२४।।

बुद्धिमान मनुष्य गुप्त बातें ओछे आदमी को नहीं बताता ।।१२४।।

ओछा आदमी वह होता है जिसके पेट में कोई बात नहीं पचती। अगर उसे कोई गुप्त बात बता दी जाये तो वह उसे जाहिर किये बिना नहीं रह सकता। तुर्रा यह है कि जिसको वह गुप्त बात बताता है उससे भी कह देता कि

अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहु मन्यते लोकः ॥१२८॥

सारं माहाजनः संग्रहः पीडयति ॥१२९॥

अल्प बुद्धि वाला मनुष्य वेद-शास्त्रों का ज्ञाता हो, तो भी लोग उसका आदर नहीं करते ॥१२८॥

बहुत लोगों के एकत्र होने से वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो जाता है ॥१२९॥

वेद-शास्त्र पढ़ने से या ऊँची शिक्षा प्राप्त करने से मनुष्य को पुस्तकी ज्ञान हो जाता है परन्तु यदि वह बुद्धिहीन हो तो उस ज्ञान का उपयोग नहीं कर सकता। चाणक्य नीति कहती है :

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिसके पास स्वयं बुद्धि नहीं उसको शास्त्र क्या करेगा ? जिसकी आंखें फूटी हों उसके लिए दर्पण किस काम का ?

एक दृष्टान्त है कि ज्योतिष विद्या सीख कर आया एक नवयुवक राजा के दरवार में गया। उसकी परीक्षा लेने के लिए राजा ने हीरे की अंगूठी अपनी मुट्ठी में छिपा कर उससे कहा : वताओ मेरी मुट्ठी में क्या है ? ज्योतिषी ने प्रश्न कुण्डली वना कर उसका फलादेश बताया। बोला : कोई गोल वस्तु है। उसके बीच में छेद है। उसमें पत्थर जैसे कठोर पदार्थ का योग है। राजा ने पूछा : उसका नाम वताओ। ज्योतिषी ने जवाव दिया : चक्की का पाट। उस मूर्ख ने सारी वातें तो ठीक वतायीं पर यह नहीं सोचा कि मुट्ठी में चक्की का पाट कैसे समा सकता है।

बुद्धिमान मनुष्य विद्वान न होने पर भी समझदारी की बातें करता है। गांवों के लोग पढ़े-लिखे नहीं होते, पर व्यवहार-कुशल होते हैं। इसके विपरीत विश्वविद्यालयों से डिग्रियां प्राप्त करने वाले अनेक युवक निकम्मे होते हैं।

बुद्धिहीन विद्वानों को कोई नहीं पूछता क्योंकि उनकी सारी बातें मूर्खतापूर्ण होती हैं।

किसी महत्वपूर्ण कार्य में वहुत लोगों को लगा दिया जाये, या किसी मंत्रणा में वहुत लोगों को सम्मिलित कर लिया जाये तो काम विगड़ जाता है और मंत्रणा कोरी वकवास होकर रह जाती है। सव लोग अपने-अपने ढंग से काम करते हैं या अपनी-अपनी अलग रायें देते हैं। अंग्रेजी की एक कहावत है :

कठोर दण्ड सब प्रकार के उद्वेगों का कारण होता है ॥१२६॥

(शासक को) यथोचित दण्ड देने वाला होना चाहिए ॥१२७॥

ये तीनों सूत्र कुछ पूर्ववर्ती सूत्रों के ही रूपान्तर हैं। इनकी व्याख्या में दण्डनीति की काफी विवेचना हो चुकी है।

जिस शासक व प्रशासक का स्वभाव नर्म होता है, वह अपने अधीन काम करने वालों से बहुत मीठा व्यवहार करता है। किसी को डांटता– डपटता नहीं। कोई गलती भी हो जाये तो समझा देता है और क्षमा कर देता है। अधीनस्थ लोग उसकी इस नर्मी को कमजोरी समझते है और उसका वेजा फायदा उठाते हैं। वे उद्दण्ड और काम-चोर हो जाते हैं क्योंकि उन्हें कोई डर नहीं होता। इसलिए अपने नीचे काम करने वालों को ठीक राह पर चलाने के लिए कठोर अनुशासन आवश्यक होता है। तुलसीदास ने कहा है: 'भय बिनु होइ न प्रीति'।

तीक्ष्ण दण्ड उस सजा को कहते हैं जो अपराध या गलती की अपेक्षा से बहुत ज्यादा हो, यानि चुभने वाली हो। जब कोई शासक दण्ड के मामले में अन्याय और अत्याचार करने लगता है तो लोगों में उत्तेलना फैल जाती है और उपद्रव होने लगते हैं। कहा है :

अधर्म दंडने लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्य च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत्॥

अधर्म से अर्थात न्याय का विचार न करके जो दण्ड दिया जाता है वह यश, और कीर्ति को नष्ट कर देता है। नरक में डालने वाला और परलोक को भी बिगाड़ने वाला होता है। सो, ऐसा दण्ड नहीं देना चाहिए।

इसीलिए कहा है दण्ड यथोचित होना चाहिए, अर्थात अपराध की लघुता या गुरुता के अनुरूप होना चाहिए। दण्ड देते समय अपराधी की अवस्था मानसिक दशा, परिस्थिति आदि का भी ध्यान रखना चाहिए।

किस्सा है कि एक राजा के दरबार में तीन जने पेश गिये गये जिन्होंने एकसे अपराध किये थे। राजा ने एक को तो क्षमा कर दिया, दूसरे को लानत-मलामत देकर छोड़ दिया और तीसरे के लिए आज्ञा दी कि इसका काला मुंह करके और गधे पर बिठाकर शहर में घुमाया जाये। जब एक मन्त्री ने इसका कारण पूछा तो राजा ने कहा : कल इन तीनों का हाल मालूम करना। दूसरे दिन पता कि जिसे क्षमा किया था उसने शर्म के मारे जहर खा लिया, जिसे लानत दी गयी थी उसे इतना पछतावा हुआ कि वह देश छोड़ कर चला गया और जिसे गधे पर बिठाकर घुमाया था वह शराब पीकर ऊधम मचा रहा था।

अति रूपेण वै सीता अति गर्वेण रावणः ।
अति दानाद् बलिर्बद्धोः अति सर्वत्र वर्जयेत् ॥

अति रूपवती होने से सीता का हरण हुआ, अति गर्व से रावण मारा गया, अति दानशीलता से बली को राजपाट छोड़ना पड़ा । इसलिए अति का सर्वत्र त्याग करना चाहिए ।

यः संसदि परदोषं शंसति स स्वदोष बहुत्वं प्रख्यापयति ॥१३१॥

जो मनुष्य संसद में दूसरों के दोषों का बढ़-चढ़कर बखान करता है, वह अपने ही अनेक दोषों को विज्ञापित करता है ॥१३१॥

आजकल यह साधारण बात हो गयी है कि संसद में, विधान सभाओं में, किसी संगठन या संस्था की बैठक और सार्वजनिक सभाओं में लोग दूसरों पर खूब कीचड़ उछालते हैं । खुलकर दोषारोपण किये जाते हैं और लांछन लगाये जाते हैं । ऐसा करने वाले लोग भूल जाते हैं कि उनमें भी अनेक दोष भरे हुए हैं । एक शायर ने कहा है :

गैर की आंख के तिनके पै नजर पड़ती है
अपनी आखों का नजर आता है शहतीर नहीं ।

यह शेर बाइबिल की एक सूक्ति का भाषान्तर है । बाइबिल में एक उपाख्यान है कि येमु जब गैलिली पहुंचे तो कुछ यहूदी एक औरत को उनके सामने ले गये । यहूदियों ने कहाः यह स्त्री व्यभिचार करती हुई पकड़ी गयी है । मूसा के नियम के अनुसार इसे पत्थरों से मारना चाहिए । आप क्या कहते हैं ?

येसु ने पहले तो इसका कोई जवाब नहीं दिया, पर जब यहूदी लोग बारबार पूछने लगे तो येसु ने कहाः तुम में जिसने कोई पाप नहीं किया हो, वह इस स्त्री पर पहला पत्थर फेंके । येसु की बात सुनकर सब सोच में पड़ गये और एक-एक करके वहां से खिसक गये ।

दूसरों के दोष देखना बहुत आसान है, पर अपने दोष कोई नहीं देखता । जब कोई मनुष्य दूसरों के दोष बखानने लगता है तो दूसरे लोग भी उसके दोष का पर्दा उघाड़ने लगते हैं । इस तरह वह खुद ही अपने दोषों के प्रकाशन का हेतु बन जाता है ।

दूसरों का दोष देखना दुष्टजनों का स्वभाव होता है । तुलसीदास ने ऐसे लोगों के लिए कहा हैः 'जे परदोष लखहिं सहसाखी', अर्थात जो दूसरों के दोषों को हजार आंखों से देखते हैं ।

'टू मैनी कुक्स स्पॉइल द ब्रॉथ' अर्थात् बहुत सारे रसोइये कढ़ी को बिगाड़ देते हैं।

अतिभारः पुरुषमवसादयति ॥१३०॥

अति भार से मनुष्य की क्षमता नष्ट हो जाती है ॥१३०॥

अति का अर्थ सीमा या मर्यादा से अधिक, यानी हद से ज्यादा।

यदि किसी मनुष्य पर उसकी क्षमता से अधिक भार डाल दिया जाये, अर्थात् उसे ऐसा काम सौंपा जाये जिसे करने की उसमें क्षमता न हो, तो वह उस काम को नहीं कर सकता। बोलचाल की भाषा में यों कहते हैं कि आदमी अपने बूते से बाहर का काम नहीं कर सकता। अंग्रेजी की एक कहावत है: 'द लास्ट स्ट्रा ब्रेक्स द कैमल्स बैक' अर्थात् आखिरी तिनका ऊंट की पीठ तोड़ देता है। इसका मतलब है कि ज्यादा से ज्यादा जितना बोझ ऊंट उठा सकता है, उसके अलावा एक तिनका भी पीठ पर रख दिया जाये तो उसकी कमर टूट जाती है।

यह सूत्र काम कराने वाले और काम करने वाले, दोनों पर लागू होता है। किसी को कोई काम सौंपने से पहले देखना चाहिए कि उसमें उस काम को पूरा करने की योग्यता, शक्ति, सामर्थ्य और क्षमता है या नहीं। इसी प्रकार किसी काम की जिम्मेदारी उठाने वाले को भी ये ही बातें सोचनी चाहिए।

अक्सर ऐसा होता है कि अयोग्य और अक्षम लोगों को निजी या राजनीतिक कारणों से ऊंचा उठाने के लिए भारी जिम्मेदारी के काम सौंप दिये जाते हैं। इसी प्रकार अपनी शान दिखाने के लिए खुशामदी लोग ऐसे कामों का जिम्मा ले लेते हैं जिन्हें करने की उनमें क्षमता नहीं होती। दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य की शक्ति क्षीण हो जाती है और काम भी नहीं बनता।

मनुष्य तो क्या प्रत्येक पदार्थ पर यह बात लागू होती है। चारपाई पर बहुत लोग बैठ जायें तो उसकी चूल टूट जाती है। मशीन से उसकी क्षमता से ज्यादा काम लिया जाये तो उसके पुर्जे टूट जाते हैं। ट्रक पर बहुत ज्यादा सामान लाद दिया जाये, तो इंजन बेकार हो जाता है। बैल गाड़ी या घोड़ा गाड़ी पर ज्यादा बोझ लाद दिया जाये तो बैल या घोड़ा उसे नहीं खींच सकता। पानी के बांध इसलिए टूट जाते हैं कि उनमें भराव की क्षमता से ज्यादा पानी आ जाता है। ज्यादा खिचाव से रस्सी या जंजीर भी टूट जाती है।

वैसे 'अति' हर काम में हानिकारक होती है। चाणक्य नीति का एक श्लोक है:

नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् ।।१३३।।

सत्यवान के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं ।।१३३।।

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि जो मनुष्य सत्यवर्ती अथवा सत्य-निष्ठ होता है उसे संसार के सारे पदार्थ सुलभ हो जाते हैं। उसके सत्य में इतनी शक्ति होती है कि वह जो चाहे सो प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न होता है कि वह सत्य क्या है जिसकी साधना से मनुष्य को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब सत्य की कोई निश्चित तथा सर्वमान्य परिभाषा हो। परन्तु 'सत्य' को परिभाषित करना उतना ही कठिन है जितना धर्म को। 'सत्य' की व्याख्या धर्म की व्याख्या के समान ही विशद है क्योंकि अलग-अलग सन्दर्भों में इसके अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। इन पर विचार किया जाये तो सत्य के चार रूप सामने आते हैं : परम सत्य, सर्ग सत्य, सत्य धर्म तथा सत्य वचन।

परम सत्यः— सत्य शब्द 'सत्' धातु से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है, 'रहने वाला' अर्थात जिसका कभी अभाव न हो। सत्य वह तत्व है जो त्रिकाला-बाधित है अर्थात जो भूत, वर्तमान और भविष्य में प्रतिष्ठित है और जिसमें कभी कोई विकार नहीं होता। इसी को परम सत्य कहते हैं। आस्तिकों के मतानुसार सत्य वह चेतन तत्व है जो सृष्टि का रचयिता और नियंता है और जो स्वयंभू है, सर्वव्यापक है, सर्वान्तिरयामी है और सर्वशक्तिमान है। वह अजन्मा, अव्यय, अक्षर, अजर और अमर है। वेदान्ती इसे ब्रह्म कहते हैं और जगत को उसकी माया मानते हैं:- सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या। विभिन्न सम्प्रदायों में इसी को ईश्वर अहूर-मज्दा, गॉड, अल्लाह, अलख निरंजन, सत श्री अकाल आदि नामों से पुकारते हैं और इसी की उपासना करते हैं।

यजुर्वेद कहता है: 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात सत्य एक ही है, जिसे विद्वान अनेक नामों से पुकारते हैं। दार्शनिकों ने इसी सत्य की मीमांसा की है और मुमुक्षु जन अर्थात मोक्ष की इच्छा रखने वाले इसी को प्राप्त करने के लिए साधना करते हैं। इसी को सत्य की खोज तथा सत्य की उपासना कहा जाता है।

इसी सत्य के बारे में मुंडकोपनिषद में कहा है:

तदेतत्सत्यं तथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथा-अक्षरा द्विविधाः
सोम्य भावः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।

इसीलिए मनुष्यों को चाहिए कि दूसरों के दोषों को न देखकर अपने दोषों को देखे। यह देखे कि अपना दामन साफ है या नहीं। कबीर ने कहा है:

बुरा जो देखने मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जब मन देखा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

आत्मानमेव नाशयति अनात्मवेतां कोपः ॥१३२॥

आत्मज्ञान से रहित मनुष्य का क्रोध उसी का नाश करता है॥१३२॥

संसार में ऐसा मनुष्य शायद ही कोई हो जिसे कभी क्रोध न आता हो। राग और द्वेष क्रोध के मुख्य कारण होते हैं। जो पदार्थ प्रिय हो वह न मिले या छिन जाये तो क्रोध आता है। जिससे द्वेष हो या लड़ाई-झगड़ा हो, उस पर भी क्रोध आता है। कोइ गाली दे या बुरी बात कहे तो वह भी क्रोध का कारण बन जाती है। सज्जनों को अन्याय पर क्रोध आता है।

क्रोध अपने आप में कोई क्रिया नहीं होता, केवल मानसिक प्रतिक्रिया होता है। यह स्वाभाविक है। किन्तु अनिष्ट तब होता है जब क्रोध में आकर मनुष्य कुछ कर बैठता है। यहीं मनुष्य के धैर्य तथा विवेक की परीक्षा होती है। आत्मज्ञानी मनुष्य वह होता है, जिसने आत्मा को पहचान लिया हो, और उस पर काबू पा लिया हो। वह राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है और सबको अपने में तथा अपने में सबको देखता है। वह समत्व नामक योग की साधना कर लेता है इसलिए किसी पर क्रोध नहीं करता। वह गीता के इस उपदेश का ध्यान रखता है:

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति॥

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है, तब उन विषयों में उसकी आसक्ति हो जाती है। इस आसक्ति से अधिक विषय-भोग की कामना उत्पन्न होती है। यह कामना अतृप्त रहती है, तब क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति के नाश से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि-नाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है।

आत्मज्ञानी मनुष्य यदि क्रोध करता है तो उसका सारा आत्मज्ञान, साधना और सारा विवेक नष्ट हो जाते हैं। वह अपने पावों पर अपने आप कुल्हाड़ी मारता है।

महाभारत में कहा है : 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः' अर्थात् सत्य से ऊपर कोई धर्म नहीं और यह भी कहा गया है :

अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुला धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।।

हजार अश्वमेध यज्ञों को तथा सत्य को तराजू में तोला जाये तो हजार अश्वमेधों से सत्य ही भारी होगा ।

जैन आगमों में भी धर्म के जो दस लक्षण माने गये हैं उनमें सत्य को शामिल किया गया है ।

भगवान बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है— दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् । इस सत्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया है । इस उपदेश का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को उनके उपदेशों को समझ कर उनका पालन करना चाहिए और पाप कर्मों से दूर रह कर पवित्र जीवन विताना चाहिए ।

बाइबिल में इसी सत्य का नाम 'ट्रूथ' है और कुरान में इसे 'सदाकत' कहा गया है । बाइबिल (नया व्यवस्थान) में आख्यान है कि जब यहूदी सिपाही येसु को पकड़ कर कैफस के शासक पिलातस के सामने ले गये तो उसने उनसे पूछा : क्या आप राजा हैं ? येसु ने उत्तर दिया : आप सच कहते हैं । मैं राजा हूँ । मैं इसीलिए जन्मा और संसार में आया हूँ कि सत्य की साक्षी दूँ ।

पातंजल योग दर्शन के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह— ये पांच नियम हैं । जैन दर्शन में इन्हें पंचव्रत कहा गया है । पतंजलि ने सत्य की परिभाषा तो नहीं दी है, परंतु कहा है : 'सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' अर्थात् जिसने सत्य की साधना की हो, उसकी कोई क्रिया निष्फल नहीं होती । सत्य की साधना का अर्थ है मन, वचन, कर्म की शुद्धता तथा एकरूपता । इसी को धर्म कह सकते हैं ।

सत्य वचन : मन, वचन, कर्म की शुद्धता और एकरूपता सत्य धर्म है । सत्यनिष्ठ मनुष्य के चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता । परंतु जब सत्य धर्म की चर्चा की जाती है तब केवल सत्य वचन को ही सत्य धर्म समझा जाता है । सत्य धर्म की व्याख्या करने वाले धर्मोपदेशक भी सत्य वचन पर ही जोर देते हैं । शास्त्रों में भी वाणी के सत्य को महत्व दिया गया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि परम सत्य तथा सत्य धर्म ओझल हो गये हैं ।

वही सत्य है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से एक ही रूप के सहस्रों स्फुलिंग (चिनगारियां) निकलते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर से विविध प्राणी उत्पन्न होते हैं तथा उसी में लौट जाते हैं।

सर्ग सत्य : पुराणों में सृष्टि अर्थात जगत की रचना को सर्ग कहा गया है और इनके पांच विषयों में यह सबसे पहला विषय है। पुराण वेद पर आधारित हैं। ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में जगत की रचना का क्रम वर्णित है। इस सूक्त के पहले मन्त्र का पहला चरण है: ऋतंच सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

(प्रजापति के) प्रचंड तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए।

वैदिक विज्ञान में ऋत और सत्य की ये परिभाषाएं हैं: 'अहृदयं अशरीरं ऋतम्, सहृदयम् सशरीरं सत्यम्, अहृदयम् सशरीरं ऋतसत्यम्।'

हृदय का अर्थ है केन्द्र और शरीर का अर्थ है पिंड। जिन पदार्थों का न तो कोई केन्द्र होता है और न कोई पिंड अथवा आकार होता है, वे ऋत कहलाते हैं। गैसें और गैसीय पदार्थ 'ऋत' हैं। जिन पदार्थों के केन्द्र और पिंड दोनों होते हैं, वे सत्य कहलाते हैं। जिन पदार्थों का पिंड अथवा आकारात्मक शरीर होता है वे 'ऋत-सत्य' कहलाते हैं। द्रव अर्थात् तरल पदार्थ ऋत-सत्य हैं। आधुनिक विज्ञान की भाषा में केन्द्र को गुरुत्वाकर्षण केन्द्र (सैन्टर आव ग्रैविटी) कह सकते हैं।

इस वेद मंत्र का अर्थ यह है कि सृष्टि के आरंभ में जो मूल तत्व था उसमें प्रचंड ताप उत्पन्न हुआ और उसकी पहले गैसीय अवस्था हुई, फिर तरल अवस्था और अन्त में ठोस अवस्था। अन्तरिक्ष की नीहारिकाओं में यह प्रक्रिया देखने में आ रही है। हमारा सौर मंडल भी इसी प्रक्रिया से बना है।

इस परिभाषा के अनुसार विश्व में दृष्टिगोचर होने वाले सारे ठोस पिंड 'सत्य' हैं। सत्य ऋत का ही परिवर्तित रूप है।

ऋत और सत्य को कहीं-कहीं पर्यायवाची भी माना गया है। असत्य के लिये वेदों में अनृत (अन + ऋत) शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनिषद का वचन है: 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं। 'सत्यमेव जयते' हमारे देश का आदर्शवाक्य (मोटो) है।

सत्य धर्म : सत्य धर्म अर्थात् सत्य आचरण और सत्य-व्यवहार की सभी धर्मों, मजहबों तथा संप्रदायों में प्रतिष्ठा है। प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है कि मनुस्मृति के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह—ये मनुष्य के धर्म हैं। धर्म के दस लक्षणों में भी सत्य का उल्लेख है।

और पांचवें का पीठ पर। एक ने उसे सांप जैसा, दूसरे ने पंखे जैसा, तीसरे ने रस्सी जैसा, चौथे ने खम्भे जैसा और पांचवें ने पहाड़ जैसा बताया। सब ने सच कहा, परन्तु यह पूरा सत्य नहीं था। एक सिक्के को खड़ा रख कर देखा जाये तो बिल्कुल गोल नजर आता है, लेकिन मेज पर रख कर दूर से देखा जाए तो दीर्घ वृताकार (इलिप्टिकल) नजर आता है। दृष्टिभ्रम भी अक्सर हो जाता है।

शास्त्रों में सत्य वचन के कुछ अपवाद भी बताये गये हैं। लोकमान्य टिलक ने 'गीता रहस्य' में एक उदाहरण दिया है। वह लिखते हैं: कल्पना कीजिये कि कुछ आदमी चोरों से पीछा किये जाने पर तुम्हारे सामने किसी स्थान में छिप जाते हैं। इसके बाद हाथ में तलवार लिये चोर तुम्हारे पास आकर पूछने लगें कि वे आदमी कहां हैं, तो ऐसी अवस्था में तुम क्या जवाब दोगे? या उन निरापराध मनुष्यों की रक्षा करोगे?

ऐसी अवस्था में मनुष्य को क्या करना चाहिए, इसके बारे में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया था:

अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथंचन।
अवश्य कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तं सत्यादिति विचारितम्।

यह बात विचार पूर्वक कही गई है कि यदि बिना बोले मोक्ष या छुटकारा हो सके तो कुछ नहीं बोलना चाहिए। यदि बोलना आवश्यक ही हो तो सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक प्रशस्त है।

मनुस्मृति कहती है: 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' अर्थात् अप्रिय अथवा अनिष्ट करने वाला सत्य नहीं बोलना चाहिए।

तीर्थंकर महावीर का उपदेश है:

तहेव फरुसा भासा गुरु भूओवघाइणी।
सच्चा विसा न वत्तव्वा जओ पावस्य आगमो॥

(इसी प्रकार) कठोर तथा जीवों का घात करने वाली सत्य भाषा भी नहीं बोले, क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है।

महाभारत शान्तिपर्व में नारद का शुकदेव को उपदेश है:

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥

सत्य वचन को इतना महत्व क्यों दिया गया है इस बारे में मनुस्मृति कहती है :

वाच्यर्थाः नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

मनुष्यों के सारे व्यवहार वचन से प्रकट होने वाले अर्थ से निश्चित किये जाते हैं। वाणी से निकलने वाले शब्द ही वाणी के मूल होते हैं। जो मनुष्य वचन की चोरी करता है, अर्थात् झूठ बोलता है, वह सब वस्तुओं की चोरी करता है।

इसी बात को ध्यान में रखकर मनुस्मृति फिर कहती है : 'सत्य पूतां वदेद्वाचं' अर्थात सत्य से पवित्र किया हुआ वचन बोलना चाहिए। तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार जब गुरुकुल का अन्तेवासी वेदाध्ययन समाप्त कर लेता था, तब गुरु उसे उपदेश देता था: 'सत्यंवद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्माप्रमदः।' सत्य बोलना। धर्मानुसार आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। यहां भी सत्य वचन को प्राथमिकता दी गई है।

यजुर्वेद के एक मंत्र में अग्नि से ऐसी शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना है : 'अहं अनृतात्सत्यमुपैमि' अर्थात मैं असत्य को छोड़कर सत्य को ग्रहण करूं।

इस मंत्र में भी असत्य के लिए 'अनृत' शब्द आया है।

किसी के मन की बात तो कोई नहीं जान सकता, इसलिए जो बात कही जाती है, उसी के आधार पर सच-झूठ का निर्णय किया जाता है। साधारण तौर पर यह माना जाता है कि जैसा देखा या सुना हो या अनुभव किया हो, उसका वैसा ही वर्णन कर देना सचाई है। परन्तु यह परिभाषा दोषपूर्ण है। इसके अलावा, विभिन्न परिस्थितियों में कैसा और कितना सच बोलना चाहिए, इसके बारे में भी बहुत ऊहा-पोह हुई है।

यदि कहा जाय कि जो देखा सुना या अनुभव किया उसे वाणी से प्रकट करना सत्य है, तो अनेक विसंगतियां उत्पन्न हो जाती हैं। मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता या अनुभव करता है, वह सब इन्द्रियों के माध्यम से होता है और इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। इन्द्रियों में विकार होने से यह शक्ति भी विकृत हो जाती है। कोई भी मनुष्य एक क्षण में किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण रूप को नहीं देख सकता है। इसलिए उस एक भाग के आधार पर वस्तु के सम्पूर्ण रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके लिए पांच अन्धों का दृष्टान्त दिया जाता है, जिसे 'अन्ध गज न्याय' कहते हैं। पांच अन्धों ने हाथी के शरीर को टटोला तो एक का हाथ सूंड पर पड़ा, दूसरे का कान पर, तीसरे का पूंछ पर, चौथे का पांव पर

बदल सकता है और उसके कार्य सफल हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी दुष्कर कार्य को सफल बनाने के लिए साहस के अलावा अन्य गुणों की भी आवश्यकता होती है। निरे जोश में आकर या हेकड़ी जताने के लिए किया गया कार्य साहस नहीं दुस्साहस होता है।

व्यसनार्तो विस्मरत्य प्रवेशेन ॥१३६॥

व्यसनासक्त मनुष्य विस्मरण की अवस्था में प्रवेश कर जाता है ॥१३६॥

व्यसन दो प्रकार के होते हैः कामज तथा क्रोधज । इनका उल्लेख इक्यावनवें सूत्र की व्याख्या में हो चुका है। जो मनुष्य व्यसनों में लिप्त हो जाता है, उसे हर समय व्यसनों का ही ध्यान रहता है। वह अपने कर्त्तव्य-कर्मों को भूल जाता है और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

नास्त्यन्तरायः काल विक्षेपे ॥१३७॥

समय को इधर-उधर फेंकने में निर्विघ्नता नहीं होती ॥१३७॥

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य समय को व्यर्थ की बातों में गंवाता है, उसके कार्यों में विघ्न पड़ जाता है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो काम समय पर न किया जाये, और आगे के लिए टाल दिया जाये तो बाद में उसमें विघ्न पड़ जाता है। तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि उपयुक्त समय पर ही कार्य आरंभ करना चाहिए। उपयुक्त समय वह होता है जब परिस्थितियाँ अनुकूल हों।

असंशय विनाशात् संशय विनाशः श्रेयान् ॥१३८॥

असंदिग्ध मृत्यु से संदिग्ध मृत्यु श्रेयस्कर है ॥१३८॥

कर्म-विपाक के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की आयु निश्चित होती है। आयु पूर्ण होने पर मृत्यु अवश्यंभावी है। चाणक्य नीति कहती है :

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च,
पंचैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु, ये पांचों बातें तभी बन जाती हैं जब मनुष्य गर्भ में होता है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि एक दिन उसे मरना है। इसलिए मृत्यु असंदिग्ध है अर्थात इसमें किसी प्रकार के संशय या संदेह की गुंजायश नहीं। किंतु कई कार्य ऐसे जोखिम भरे होते हैं कि उनमें मृत्यु की आशंका रहती है।

सत्य बोलना अच्छा है (परन्तु) सत्य से अधिक अच्छा ऐसा बोलना है जो हितकारी हो। जिसमें सब प्राणियों का अत्यन्त हित हो, वही मेरे मत में सत्य है।

इन सब बातों का यह निष्कर्ष है कि सत्यनिष्ठ मनुष्य वही होता है जिसमें विवेक हो कि किस समय क्या बोलना चाहिए। वह तभी सम्भव है जब उसका हृदय शुद्ध, पवित्र तथा राग-द्वेष से रहित हो। ऐसे सत्यव्रती को सारी सिद्धियां तथा निधियां प्राप्त हो जाती हैं।

साहसे लक्ष्मीर्वसति ।।१३४।।

साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति ।।१३५।।

साहस में लक्ष्मी बसती है ।।१३४।।

साहस से कार्यसिद्ध नहीं होता ।।१३५।।

सरसरी तौर पर ये दो सूत्र परस्पर विरोधी लगते हैं, परन्तु इनके गूढ़ार्थों पर विचार किया जाये तो यह विरोधाभास मिट जाता है।

मनु, नारद, याज्ञवल्क्य आदिक स्मृतियों में तथा कौटलीय अर्थशास्त्र में साहस शब्द का प्रयोग बलात्कार (डाका, अपहरण, स्त्री से बलात्कार) के लिए किया गया है। संस्कृत के शब्दकोश में इस अर्थ के अलावा साहस का अर्थ अविचारित कार्य भी दिया गया है। बिना सोचे विचारे किये गये कार्य को अविचारित कहते हैं।

परन्तु इन सूत्रों में साहस का अर्थ ऐसा कार्य है जो दुष्कर हो तथा जोखिमभरा हो, यानी जीवट का कार्य। हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है।

मनुष्य भौतिक समृद्धि तथा उन्नति तभी प्राप्त कर सकता है जब उसमें साहस हो, अर्थात जोखिम उठाने की शक्ति हो। साहसी मनुष्य अपने निर्दिष्ट कार्य में आने वाली विघ्न बाधाओं की परवाह नहीं करता।

किन्तु कोरे साहस से भी काम नहीं चलता। बिना विचारे जो काम किया जाता है, वह सफल नहीं होता। एक सूक्ति है :

उद्यमं साहसं धैर्यं विद्या बुद्धिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैव सहायकृत ।।

उद्यम, साहस, धैर्य, विद्या, बुद्धि और पराक्रम, ये छह जहां होते हैं वहां भाग्य भी सहायता करता है। अर्थात इन गुणों से मनुष्य अपने भाग्य को भी

इस सूत्र को राजधर्म के प्रसंग में भी लागू किया जा सकता है। सरकारें जनता से टैक्सों के रूप में धन संग्रह करती हैं। यह धनराशि धरोहर ही होती है। इसलिए सरकारों का कर्त्तव्य होता है कि वे इस धन का दुरुपयोग न करें। परन्तु होता यह है कि सरकार में सत्तारूढ़ पार्टियां जनता के इस धन का अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए उपयोग करती है। हमारे देश में तो यह प्रचलित व्यवहार बन गया है। चुनावों में तो जनता की इस धरोहर का खुलकर दुरुपयोग होता है। टैक्सों की वसूली के लिए सरकारों के अनेक विभाग होते है। इनमें काम करने वाले स्वार्थी लोग भी जमा की हुई धनराशि का गबन करते हैं या उसका निजी कामों में दुरुपयोग करते है।

ऐसे लोगों के लिए भर्तृहरि ने कहा है :

जातिर्यातु रसातलं गुणगण: तत्राप्यधो गच्छतात्
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्यं वैरिणि वज्रयाशु निपतत् अर्थोऽस्तु नः केवलं
येनकेन बिना गुणस्तृणलव प्राया: समस्ता इमे॥

जाति रसातल में चली जाय, सारे गुणों का पतन हो जाये, पर्वत की शिला के समान शील गिर जाये, परिजन आग में जल जाये, शत्रु के प्रति शौर्य पर वज्रपात हो जाये, परन्तु हमको तो धन से ही प्रयोजन है क्योंकि धन के बिना सारे गुण तिनके के समान है।

दानं धर्मः ॥१४०॥

दान धर्म है ॥१४०॥

संसारभर के धर्मग्रन्थों, धर्मशास्त्रों, आगमों आदिक में दान की महिमा बखानी गयी है। आधुनिक समाजवाद की भाषा में जिसे धन का वितरण (डिस्ट्रीब्यूशन ऑव वैल्थ) कहते हैं, वही सिद्धान्त प्राचीन काल से दान के रूप में चला आ रहा है।

दान शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का स्वामित्व छोड़कर वह स्वामित्व किसी दूसरे को अर्पण कर देना। दान दो प्रकार का होता है: नित्य तथा नैमित्तिक। दान करना चारों वर्णों का नित्यकार्य बताया गया है। यज्ञ आदि अनुष्ठानों में किया गया दान नैमित्तिक होता है। दान एक पुण्य कार्य माना गया है।

छान्दोग्य उपनिषद्का वचन है :

युद्ध ऐसा ही एक कार्य है। दुर्गम पहाड़ियों की चोटियों पर चढ़ना भी बहुत जोखिम का काम है। खानों में, ऊंची इमारतें बनाने में तथा और भी कई उद्योगों में जान का खतरा रहता है। लेकिन ये सब लोग संदिग्ध मृत्यु के प्रति बिल्कुल उदासीन होते हैं। सेना के अफसर और जवान तो युद्ध में मरने की तैयारी करके ही जाते हैं। वे ऐसी वीरतापूर्ण मृत्यु को साधारण मृत्यु से श्रेयस्कर मानते हैं। सभी धर्मों, मजहबों आदि की पुस्तकों में लिखा है कि युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले स्वर्ग में जाते हैं। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है : 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' अर्थात तू मर कर स्वर्ग प्राप्त करेगा।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को ऐसे शुभ कार्यों से पीछे नहीं हटना चाहिए जिनमें जान-जोखिम हो।

अपरधनानि निक्षेप्तु केवलं स्वार्थम् ॥१३९॥

दूसरे के धन को धरोहर के रूप रखने वाला केवल स्वार्थ देखता है ॥१३९॥

धरोधर या अमानत के कई प्रकार होते हैं।

(१) अपना धन या संपत्ति सुरक्षा के लिए किसी विश्वासपात्र के पास रखना।

(२) अपना धन किसी बैंक में या डाकखाने में जमा करना। इसमें बचत सर्टिफिकेट या बांड खरीदना भी शामिल हैं।

(3) कंपनियों के शेयर खरीदना या उनमें धन जमा करना।

(४) सरकार के या सार्वजनिक अथवा निजी प्रतिष्ठानों के ऋण-पत्र खरीदना।

(५) चल अथवा अचल संपत्ति को रेहन या गिरवी रखना।

(६) अपना धन या संपत्ति किसी परोपकारी न्यास या संस्था को इस शर्त पर देना कि उससे होने वाली आय जनकल्याण के कार्यों में खर्च की जाये।

इन सभी अवस्थाओं में उस मनुष्य या संस्था पर जिम्मेदारी होती है कि जमा कराने वाले के धन या संपत्ति का अपहरण न हो या उसे उपयोगी कार्यों में लगाया जाये। अपहरण को गबन या अमानत में खयानत कहते हैं।

अक्सर देखने में आता है कि धरोहर रखने वाले लोग बेईमान हो जाते हैं। न्यासों, संस्थाओं, प्रतिष्ठानों आदि में गबन के मामले होते रहते हैं। इसका कारण वही है जो इस सूत्र में बताया गया है, अर्थात लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर ऐसा दुष्कर्म करते हैं।

दीन दुखियों के प्रति उपकार का तो यह हाल है कि यदि ऐसा कोई अभागा इनके पास पहुंच जाये तो उसे दुत्कार देते हैं।

न्यायागतो अर्थः ॥१४१॥

तद्विपरीतो अर्थाभासः ॥१४२॥

यो धर्मार्थो न पीडयति स कामः ॥१४३॥

तद्विपरीतः कामाभासः ॥१४४॥

तद्विपरीतो अनर्था सेवी ॥१४५॥

न्याय से उपार्जित धन ही धन है ॥१४१॥

इसके विपरीत, अर्थात अन्याय से उपार्जित धन धोखा है ॥१४२॥

जो धर्म और अर्थ को विकृत नहीं करता वही काम है ॥१४३॥

इसके विपरीत, अर्थात धर्म और अर्थ को विकृत करने वाला काम, धोखा है ॥१४४॥

धर्म तथा अर्थ के विरुद्ध आचरण करने वाला अनर्थ का सेवन करता है ॥१४५॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, मनुष्य के इन चार पुरुषकारों अथवा पुरुषार्थों का उल्लेख पिछले सूत्रों की व्याख्या में किया गया है। अर्थ शब्द की व्याख्या भी की गयी है।

अर्थोपार्जन अर्थात धन कमाना एक पुरुषार्थ है, क्योंकि जीवन-यापन का यही मुख्य साधन है। धन से ही भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा, आदि का प्रबंध होता है और भौतिक तथा शारीरिक सुख के साधन प्राप्त किये जा सकते हैं।

परन्तु यह धन दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है, जिन्हें बोलचाल की भाषा में 'खरी कमाई' और 'खोटी कमाई' कहते है। न्याय अर्थात ईमानदारी से कमाया हुआ धन 'खरा' होता है। अन्याय अर्थात बेईमानी, धोखेबाजी, मुनाफाखोरी, मिलावट आदिक दुष्कर्मों से कमाया हुआ धन 'खोटा' होता है। ऐसा धन वास्तविक नहीं होता, देखने में भले ही विपुल नजर आता हो। यह धन लोक तथा परलोक दोनों को बिगाड़ता है और ज्यादा दिन नहीं टिकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि कोई मनुष्य अन्याय से धनवान बन गया और खुद सारे भौतिक सुख भोग कर मर गया, परन्तु बाद में उसकी सन्तान को घोर कष्ट

तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुः द द द इति
दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति ।।

देवों की दिव्यवाणी बार बार कहती है, द द द, अर्थात अपना दमन करो, दूसरों को दो और सब पर दया करो। सो मनुष्यों को दम, दान तथा दया इन तीनों को सीखना चाहिए।

गीता में सात्विक, राजस और तामस दानों की परिभाषा है।

कर्त्तव्य समझकर जो दान प्रत्युपकार न करने वाले को देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, वह सात्विक होता है।

जो दान प्रत्युपकार की कामना से अथवा फल प्राप्त करने के उद्देश्य से क्लेशपूर्वक दिया जाता है, वह राजस होता है।

जो दान देश तथा काल का विचार न करके अपात्र को तिरस्कार के साथ दिया जाता है, वह तामस होता है।

जैन आगमों में दान के चार प्रकार कहे गये है : भोजनदान, औषधिदान ज्ञानदान तथा अभयदान। भूखों को भोजन देना, रोगियों के लिए औषधियों की व्यवस्था करना, अज्ञानियों को ज्ञान सिखाना और निराश्रितों को आश्रय देना ये उत्तमदान हैं।

बाइबिल में येसु का उपदेश है : जब तुम दान करते हो तो अपना बिगुल मत बजाओ, जैसा कि ढोंगी लोग किया करते हैं। जब तुम दान करते हो, तो तुम्हारा बायां हाथ न जाने कि तुम्हारा दायां हाथ क्या कर रहा है।

कुरान में लिखा है : जो लोग सोना चांदी जमा करके रखते हैं और उसे अल्लाह की राह में खर्च नहीं करते, उन्हें दुख देने वाले अजाब की खबर सुना दो। अपने सदके (दान) को एहसान जता कर उस शख्स की तरह बरबाद मत करो जो लोगों के दिखावे के लिए अपना माल खर्च करता है।

तात्पर्य यह है कि वास्तविक दान वही होता है जो कर्त्तव्य समझकर, त्याग तथा परोपकार की भावना से किया जाता है और उसके बदले में कुछ पाने की कामना नहीं होती। इसे निष्काम कर्म भी कह सकते हैं। यही वास्तविक दान धर्म है।

परन्तु आजकल तो सेठों के धन-दान को ही दान समझा जाता है। उन्हें दानवीरों की उपाधियां दी जाती है। सेठों के ये दान या चन्दे बदले में कुछ पाने के उद्देश्य से या नाम कमाने के लिए दिये जाते हैं। ये 'दानवीर' अपने नाम शिलालेखों में अंकित करवाते हैं। इनमें त्याग की तो कोई भावना ही नहीं होती।

अभयं सत्त्व संशुद्धि : ज्ञानयोग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।

अभय, मन-वचन-कर्म की पवित्रता, ज्ञान-योग की साधना, दान, मनोवृत्तियों पर नियंत्रण, यज्ञ, स्वाध्याय, तप तथा आर्जव—ये दैवी संपदा के लक्षण हैं।

जैन दर्शन में भी धर्म के जो दस लक्षण बताये गये हैं, उनमें 'उत्तम आर्जव' का स्थान है।

ऐसे सरल स्वभाव वाला मनुष्य कोई बिरला ही होता है; संसार में बहुत मुश्किल से मिलता है।

व्यवहार जगत में सरल-स्वभाव अथवा सरल प्रकृति के मनुष्य को लोग मूर्ख और भोला समझते है और उसकी सरलता का फायदा भी उठाते हैं। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है :

टेढ जानि बंदइ सब काहू।
बक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू ।।

टेढ़ा जानकर सब वंदना करते हैं। टेढ़े चन्द्रमा को राहु नहीं ग्रसता। (चन्द्रग्रहण पूर्णिमा को ही होता है)। टेढ़े यानी कुटिल आदमी से सब डरते हैं।

सरल-स्वभाव का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अन्याय और अत्याचार का विरोध न करे और चुपचाप देखता रहे। यह कायरता है, और सरल स्वभाव वाला मनुष्य कायर नहीं होता।

राजनीति में तो सरलता के लिए कोई स्थान ही नहीं। 'आवाप' अर्थात परराष्ट्र नीति तो खालिस कूटनीति होती है। आजकल की राजनीति तो इतनी विकृत हो गई है कि असत्य, छल-कपट, धूर्त्तता और कुटिलता ही इसके आधार बन गये हैं।

अवमानेनागतमैश्वर्यमवमन्यते साधुः ।।१४७।।

अवज्ञा से प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य को साधु ठुकरा देता है ।।१४७।।

ऐश्वर्य अर्थात धन-संपत्ति, प्रभुता, पद आदि के लोभी कुछ मनुष्य इस बात की परवाह नहीं करते कि इन्हें प्राप्त करने में उन्हें अपमान या तिरस्कार सहना पड़े। इन्हें जरा भी लाज-शर्म नहीं होती। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ये लोग खुशामदें करने और तलवे चाटने तक के लिए तैयार हो जाते है। कोई फटकार दे या जूता भी मार दे तो इन पर कोई असर नहीं होता।

उठाने पड़े और वह दर-दर की भिखारी बन गयी। अन्याय से धनोपार्जन करने वाला ऊपर से चाहे जितना सुखी नजर आता हो पर उसके मन को शान्ति नहीं होती। इसी मानसिक तनाव के कारण धनवान लोग ज्यादातर बीमार रहते हैं। बढ़ते हुए हृदय रोगों का यह भी एक कारण है।

चाणक्य नीति कहती है :

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते एकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

अन्याय से कमाया हुआ धन दस वर्ष टिकता है। ग्यारहवें वर्ष में मूलधन के साथ नष्ट हो जाता है।

काम का अर्थ केवल यौन-व्यापार नहीं, इन्द्रियों के विषय तथा भौतिक सुख के साधन भी काम के अन्तर्गत है। इन सब की कामना ही काम है। इन कामनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को धर्म तथा न्यायोचित तरीकों से धन कमाने के सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिए। जो मनुष्य इनकी अवहेलना करके कामनाओं की पूर्ति करता है, वह धोखा खाता है और अनर्थ करता है, अर्थात अपने को तथा दूसरों को हानि पहुंचाता है।

तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ और काम, ये तीनों अलग-अलग पदार्थ नहीं बल्कि एक दूसरे से संबद्ध हैं, अन्योन्याश्रित हैं, और तीनों मिलकर मोक्ष के साधन बनते हैं।

ऋजु स्वभावो जनेषु दुर्लभः ॥१४६॥

मनुष्य में सरल स्वभाव वाला मनुष्य दुर्लभ है ॥१४६॥

ऋजु का अर्थ है सरल अथवा सीधा, जिसमें कोई बाँकपन या टेढ़ापन न हो। सीधी रेखा को ऋजु रेखा कहते हैं। ऋजु शब्द विशेषण है, इससे भाव वाचक संज्ञा बनती है 'आर्जव'। 'ऋजोर्भावः आर्जवम्'।

सत्य को भी आर्जव कहा गया है : 'सत्यं आर्जवम्'। इसका अर्थ यह है कि सत्य भी सीधा और सरल होता है। उसमें छल-कपट नहीं होता। महाभारत में कहा है : 'न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्' अर्थात जिसमें छल मिला हुआ हो वह सत्य नहीं।

इसलिए ऋजु स्वभाव मनुष्य वह होता है जिसमें छल-कपट, दुराव, छिपाव, कुटिलता, धूर्त्तता आदि दुर्गुणों का अभाव होता है।

गीता में आर्जव को दैवी संपदा का एक लक्षण कहा गया है :

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक है। तीन गुण हैं सत्व, रज और तम। प्रकृति के सारे चेतन और अचेतन पदार्थों में ये तीनों गुण होते हैं। इन्हीं तीन गुणों के तारतम्य से पदार्थों के धर्म, लक्षण, स्वभाव और रूप है। कोई पदार्थ सत्वगुण-प्रधान होता है, कोई रजोगुण प्रधान और कोई तमोगुण-प्रधान। परम सत्य के सिवाय ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें एक ही गुण हो।

मनुष्यों में ये ही तींन गुण उसे ऊंचा उठाते है या नीचे गिराते हैं। सद्गुण सत्वगुण के कारण होते हैं और अवगुण तमोगुण के कारण। संसार में ऐसा कोई भी मनुष्य या प्राणी या पदार्थ नहीं जो पूर्णतया निर्दोष हो अर्थात जिसमें तमोगुण का अभाव हो। सो, यों कह सकते हैं कि मनुष्य गुणों तथा अवगुणों का पिटारा है।

कोई मनुष्य चाहे जितना गुणवान हो, उसमें कोई न कोई दोष अवश्य होता है। बहुत से दोष ऐसे छोटे या हलके होते हैं जो गुणों में छिप जाते हैं। परन्तु कोई दोष इतना बड़ा और भारी होता है कि सारे गुणों को दबा देता है। ऐसे ही दोष के लिए कहा गया है : 'एकोहि दोषो गुणराशि नाशी' अर्थात केवल एक दोष गुणों के समूह को नष्ट कर देता है। जैसे, कोई मनुष्य बहुत विद्वान है, शास्त्रज्ञ है या कलाकार है, परन्तु चरित्रहीन है, तो उसकी चरित्र हीनता सारे गुणों को निगल जाती है। कोई मनुष्य राजकाज में कुशल है, परन्तु बेईमान है, रिश्वतखोर है, तो उसकी कुशलता किसी काम की नहीं। कोई शिल्पी, श्रमिक या तकनीकी विशेषज्ञ अपने कार्य में दक्ष है, परन्तु आलसी है तो इस दोष के कारण वह कोई काम अच्छी तरह नहीं कर सकता। किसी वाहन का चालक आलस्य में आकर झपकियां लेने लगे तो भयंकर दुर्घटना हो जाये। किसी ने बहुत सी विद्याएं पढली हों, परन्तु मूर्ख या बुद्धिहीन हो, तो सारी विद्याएं अकारथ हो जाती हैं।

तात्पर्य यह है कि दोष तो थोड़े-बहुत सभी मनुष्यों में होते हैं, परन्तु ऐसे घोर दोष से बचना चाहिए जो मनुष्य के सारे गुणों पर पानी फेर दे।

महात्मना परेण साहसं न कर्तव्यम् ॥१४६॥

आत्मवान तेजस्वी पुरुष दूसरों के साहस पर निर्भर रह कर कार्य नहीं करते ॥१४६॥

मनुष्य को अपने ही साहस अर्थात बलबूते पर कार्य करना चाहिए। दूसरे के बलबूते पर निर्भर रहने से कार्य अपनी इच्छा अथवा उद्देश्य के अनुसार नहीं होता। इसके अलावा जिसके भरोसे काम किया जाये वह हावी हो जाता है

इसके विपरीत सज्जन अर्थात साधु स्वभाव वाले लोग अपना अपमान अथवा अपनी अवज्ञा तनिक भी वर्दाश्त नहीं कर सकते। अपमानजनक व्यवहार या तरीके से विपुल ऐश्वर्य भी मिलता हो तो वे उसे ठुकरा देते हैं।

इसी वात को लक्ष्य करके चाणक्य नीति कहती है :

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥

केवल धन की इच्छा करने वाले अधम अर्थात नीच होते हैं। धन और मान दोनों चाहने वाले मध्यम होते हैं। केवल मान चाहने वाले उत्तम होते हैं, क्योंकि मान ही सबसे वड़ा धन है।

उर्दू में इसी को इज्जत कहते हैं। जिस आदमी को अपनी इज्जत का ख्याल नहीं होता, उसे लोग हिकारत की नजर से देखते है।

रहीम का एक दोहा है :

अमी पियावत मान विनु रहिमन मोहि न सुहाय।
मान सहित मरिवो भलो जो विप देय पिलाय ॥

आदर और सम्मान के विना कोई अमृत भी पिलाये तो वुरा लगता है। मान के साथ विप भी पिलाया जाये तो मरना कवूल है।

संत दादू की वाणी है :

दादू आदर भाव का मीठा लागे मोठ।
विन आदर व्यंजन वुरा जीमण वालां ठोठ ॥

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि अपने मान की रक्षा के लिए लोगों ने प्राण तक त्याग दिये हैं।

शायर अमीर ने तो यहां तक कह दिया है :

किसी रईस की महफिल का जिक्र क्या है अमीर
खुदा के घर भी न जायेंगे वे-वुलाये हुए।

वहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसते ॥१४८॥

वहुत गुणों को भी एक दोप निगल जाता है ॥१४८॥

तुलसीदास ने कहा है : 'जड़ चेतन गुन दोस मय विस्व कीन्ह करतार', विधाता ने विश्व के सारे जड़ और चेतन पदार्थों को गुणों तथा दोपों से युक्त वनाया है।

योजना है और न कोई उपाय। सारी योजनाएं भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बनायी जाती हैं। राजनेताओं के चरित्र पर कोई प्रामाणिक लांछन भी लगाये जायें तो उसे 'चरित्र-हनन' कह कर टाल दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि जब तक चरित्र का संकट नहीं मिटेगा, तब तक सारी योजनाएं धरी की धरी रह जायेंगी।

क्षुधार्तो न तृणं चरति सिंह ॥१५१॥

भूख से व्याकुल शेर घास नहीं खाता ॥१५१॥

हालांकि सिंह हिंसक पशु है, परन्तु इस पशु में कुछ ऐसे गुण होते हैं जो अनुकरणीय हैं। ये हैं वीरता, निर्भयता, आत्म-बल, शारीरिक बल तथा तेजस्विता। इसलिए ऐसे गुणवाले पुरुषों की सिंह से उपमा दी जाती है। सिंह अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। भूखा भले ही मर जाये पर घास नहीं खाता। इसी प्रकार दृढ़व्रती तथा सत्यव्रती पुरुष अपने स्वभाव से कभी नहीं डिगते। मृत्यु का भय भी उन्हें विचलित नहीं करता। ऐसे ही जनों के लिए भर्तृहरि ने कहा है :

निन्दन्तु नीति निपुणाः यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीति-निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी अर्थात धन-सम्पत्ति खूब आये या चली जाये, मृत्यु आज ही हो या बहुत काल बाद, परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।

ऐसे धीर पुरुष अथवा नर-शार्दूल, आजकल चिराग लेकर ढूंढने पर ही शायद कहीं मिलें। लेकिन टुकडखोर और दुम दबाकर भागने वाले कुत्ते तथा धूर्त और चालाक गीदड़ हर जगह मिल जायेंगे। सच्ची निन्दा से लोग घबराते हैं और झूंठी प्रशंसा से फूल कर कुप्पा हो जाते है। धन प्राप्त करने और जमा करने के वास्ते सभी तरह के कुत्सित साधनों का उपयोग किया जाता है। मौत का भय दिखा कर मनुष्य से कुछ भी काम कराया जा सकता है।

चाणक्य नीति में सिंह का एक और गुण बताया गया है :

प्रभूतं कार्यमपि वा तन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारंभेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते॥

मनुष्य कितना ही बड़ा काम करना चाहता हो, उसे वह कार्य सिंह की भांति सारी शक्ति लगा कर करना चाहिए।

और उसकी सारी शर्तें माननी पड़ती है। वह काम में कुछ गलती भी कर दे तो सहनी पड़ती है। जिन कामों में दूसरे लोगों के श्रम या सहयोग की आवश्यकता होती है उनमें भी काम कराने वाले में योग्यता का वल और संचालन तथा मार्ग-दर्शन की क्षमता होनी चाहिए।

कदाचिदपि चरित्रं न लंघयेत ॥१५०॥

चरित्र का कभी भी उल्लंघन न करे ॥१५०॥

इस सूत्र में चरित्र शब्द आया है। इस शब्द का अर्थ वहुत व्यापक है। मनुष्य के सारे गुणों, स्वभावों, आचरणों, व्यवहारों तथा कर्मों से उसका चरित्र वनता है। कोई मनुष्य चरित्रवान है या दुश्चरित्र है इसका पता इन्हीं वातों से लगता है। चाणक्य ने मनुष्य के चरित्र की परीक्षा करने की चार कसौटियां वतायी हैं :

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणं छेदन ताप ताड़नैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥

जिस प्रकार कसौटी पर रगड़ कर, काट कर, तपा कर और कूट-पीटकर स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार त्याग, शील, गुण और कर्म से मनुष्य की परीक्षा की जाती है।

अंग्रेजी की एक सूक्ति है :

व्हेन वैल्थ इज लॉस्ट नथिंग इज लॉस्ट
व्हेन हैल्थ इज लॉस्ट समथिंग इज लॉस्ट
व्हेन कैरेक्टर इज लॉट ऑल इज लॉस्ट

धन खोया तो कुछ नहीं खोया। स्वास्थ्य खोया तो कुछ खोया। चरित्र खोया तो सव कुछ खोया।

चरित्र ही मनुष्य की सवसे वड़ी संपत्ति है। जैन दर्शन का एक सूत्र है :

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः, अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र मोक्ष के मार्ग है। जैन धर्म के ये तीन रत्न कहलाते हैं। सम्यक चरित्र का स्थान वहुत महत्वपूर्ण है।

आज संसार में जो भ्रष्टाचार फैला हुआ है, स्वार्थपरता का वोलवाला है और तरह-तरह के दुष्कर्म, कुकर्म तथा अपराध हो रहे है, उसे चरित्र का संकट कहा जाता है। मनुष्यों का चरित्र गिर गया है, इसलिए ये सारी विकृतियां उत्पन्न हो गयी हैं। परन्तु विडम्वना यह है कि चरित्र को सुधारने की न कोई

अथवा देव-कार्य संपन्न करने के लिए होते थे। इस कारण उन पर पिशुनता का दोष नहीं आता।

गीता में अपैशुन को एक दैवी सम्पदा कहा गया है।

एक दोहा है :

पिसुन छल्यो नर सुजन सों करत बिसास न चूकि।
जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाछहि फूंकि ॥

चुगलखोर से ठगा हुआ मनुष्य भले आदमियों का भूलकर भी विश्वास नहीं करता। जैसे दूध का जला छाछ को फूंककर पीता है।

चुगलखोरों से बहुत होशियार रहना चाहिए। उनकी चुगलियों को बढ़ावा नहीं देना चाहिए। जो आदमी किसी के सामने दूसरे की बुराई करता है, वह उसकी बुराई दूसरे के सामने भी कर सकता है। लेकिन बहुत लोग, खासकर धनवान और सत्तावान लोग, चुगलखोरों को मुंह लगा लेते है और उनसे दूसरों की बुराइयां और अपनी तारीफें सुनकर खुश होते हैं।

हमारे देश की राजनीति में ऐसे चुगलखोरों की भरमार है जो नेताओं को आपस में लड़ाते रहते हैं।

बालादपप्यर्थजातं श्रृणुयात ॥१५४॥

अर्थ उत्पन्न करने वाली बात बालक की भी सुननी चाहिए ॥१५४॥

बाल शब्द अल्पबुद्धि वाले मनुष्य के लिए भी प्रयुक्त होता है।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जो बात अर्थ भरी हो, सार्थक हो, उसे कहने वाला चाहे बालक ही हो, तो भी सुननी चाहिए, अर्थात् उस पर ध्यान देना चाहिए।

योगवासिष्ठ में कहा है :

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अयुक्तियुक्तमग्राह्यं वक्तव्यं पद्मजन्मना ॥

युक्ति संगत बात यदि बालक भी कहे तो उसे ग्रहण करनी चाहिए। किंतु अयुक्ति संगत बात ब्रह्मा भी कहे तो उसे ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

ऐसा ही एक श्लोक है :

युक्तियुक्तं तु गृहणीयात् बालादपि विचक्षणः।
रवेर विषयं वस्तु किं न दीपः प्रकाशयेत् ॥

प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः ॥१५२॥

प्राण देकर भी अपने वचन की रक्षा करनी चाहिए ॥१५२॥

किसी को कोई वचन दे दिया हो, कोई प्रतिज्ञा करली हो या कोई प्रण कर लिया हो, तो प्राणों पर संकट आने पर भी उसे निवाहना चाहिए। तुलसी रामायण में रामचन्द्र का कथन है :

रघुकुल रीति यही चलि आई।
प्राण जायं पर वचन न जाई ॥

आजकल तो ज्यादातर यह देखने में आता है कि 'वचन जाय पर प्रान न जाई'। प्राण देना तो दूर रहा, जरा-सा भी भय होने पर या प्रलोभन होने पर लोग अपने वचन से मुकर जाते हैं। राजनीतिवाजों का तो एक तरह से यह मूल मंत्र वन गया हैं।

पुराणों में तथा इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें लोगों ने अपने वचन की रक्षा के लिए प्राण तक गंवा दिये थे।

पिशुनः श्रोता पुत्रदारैरपि त्यज्यते ॥१५३॥

चुगलखोर की बातें सुनकर उसके पुत्र और उसकी पत्नी भी उसे छोड़ देते हैं ॥१५३॥

चुगलखोर आदमी वह होता है जो इधर की उधर बातें भिड़ा कर और चुगलियां खाकर दो जनों के बीच वैमनस्य पैदा कर देता है या उन्हें लड़ा देता है। इस तरह की गुन्ताडेवाजियों में उसे खुद को कुछ नहीं मिलता, पर यह उसका स्वभाव होता है और इसमें उसे मजा आता है। लेकिन जव उसकी पोल खुल जाती है, तव सव उससे नफरत करने लगते हैं और उसे दुत्कार देते हैं। इसलिए पिशुनता यानि चुगलखोरी वहुत निन्दनीय मानी गयी है।

आल्हा खंड में माहिल नामक ऐसे ही चुगलखोर का वृत्तान्त है जिसने चुगलियां खा-खाकर कई लड़ाइयां करवा दी थीं। इन लड़ाइयों में कितने ही सामन्त मारे गये थे। इस तरह माहिल शब्द चुगलखोर का वाचक वन गया।

पुराणों में नारद को भी पिशुन कहा गया है। नारद का वर्णन हर युग में मिलता है। यह ऋषि वीणा लेकर सारे विश्व में घूमते-फिरते थे और सव लोगों के हाल-चाल देवताओं को सुनाया करते थे। यह लोगों को लड़ा भी देते थे या उन्हें उलटी सलाह देते थे। परन्तु उनके सारे कार्य लोक-कल्याण के लिये

इसमें भी जरासी असावधानी हो जाये तो विजली के करेंट के धक्के का डर रहता है। पर विजली का उपयोग करने वाले इसकी परवाह नहीं करते।

नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते ॥१५७॥

छोटे-से दोष के कारण बहुत-से गुणों को नहीं छोड़ा जाता ॥१५७॥

एकसौ–अडतालीसवें सूत्र में कहा गया है कि एक ही दोष सारे गुणों को निगल जाता है। अब इस सूत्र में उससे उलटी वात कही गयी है। यह भेद विचारणीय है। कोई दोष ऐसा घोर होता है कि सारे गुणों को ढक देता है। परन्तु अल्पदोष यानी छोटा-सा दोष उपेक्षणीय होता है। वह भी उस अवस्था में जव उसके मुकावले में गुणों का वाहुल्य हो। कई दोष ऐसे भी होते हैं जो अनजान में हो जाते हैं या उनके पीछे कोई दुर्भावना नहीं होती। सत्य और अहिंसा जैसे शाश्वत धर्मों में भी अपवाद हैं। इनका विवरण पिछले सूत्रों की व्याख्या में दिया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी मनुष्य में वहुत से गुण हों तो उसकी छोटी-सी भूल या गलती पर ध्यान नहीं देना चाहिए और उसके गुणों का उपयोग करना चाहिए। गुणवान नर अपनी गलती अपने आप समझ जाता है और उसका प्रतिकार करता है।

विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः ॥१५८॥

बुद्धिमान पुरुष में भी दोष देखना आसान है ॥१५८॥

वहुत से जनों का स्वभाव होता है कि वे दूसरों के दोष को ही देखा करते हैं। उनका कोई अच्छे से अच्छा कार्य हो, उसमें भी दोष ढूंढते हैं। ऐसे लोगों के लिए तुलसीदास ने कहा है :

> जे परदोस लखहिं सहसाखी।
> पर हित घृत जिनके मन माखी ॥

जो हजार आंखों से दूसरों के दोष देखते हैं। जिस प्रकार घी में मक्खी गिर कर उसे भ्रष्ट कर देती है, उसी तरह दुर्जन दूसरे के हित में दोष वताते हैं।

निर्दोष तो इस संसार में कोई भी पदार्थ नहीं। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई दोष होता है। देखने और सोचने की वात यह है कि यह दोष भौतिक होता है अथवा मानसिक। किसी कार्य में कुछ त्रुटि रह जाये तो वह भौतिक दोष होता है। यह त्रुटि कई अपरिहार्य कारणों से भी हो सकती है। परन्तु मलीन

चतुरजन बालक की भी युक्तियुक्त बात को ग्रहण कर लेते है। जिस वस्तु पर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता, क्या उसे दीपक प्रकाशित नहीं करता ?

भारवि की उक्ति है :

ननु वक्तृविशेष निःस्पृहां
गुणगृह्या बचने विपश्चितः।

गुण ग्रहण करने वाले चतुरजन इस बात का विचार नहीं करते कि बात कहने वाला कौन है।

सत्यमप्यश्रद्धेयं न वदेत ॥१५५॥

सच बात भी ऐसे मनुष्य से न कहे जिसमें श्रद्धा न हो ॥१५५॥

श्रद्धा रहित मनुष्य वह होता है जिसे किसी पर श्रद्धा नहीं होती, जो किसी पर भरोसा नहीं करता, विश्वास नहीं करता। ऐसे आदमी से कोई सच बात भी कही जाये तो वह उसे मानने को तैयार नहीं होता। श्रद्धा और विश्वास के बल पर संसार के मनुष्यों के सारे काम चलते हैं, परन्तु अध-श्रद्धा तथा अंध-विश्वास घातक होते हैं। अपना इलाज करने वाले वैद्य या डाक्टर की बात पर विश्वास करना पड़ता है। गुरुजन तथा आप्तजन जो बात कहें उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। गीता में कहा है :

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

जिस मनुष्य में ज्ञान नहीं होता, श्रद्धा नहीं होती और हर बात में संशय यानी शंका करता है, उसका नाश हो जाता है।

नाग्निमिच्छता धूमस्त्यज्यते ॥१५६॥

अग्नि की इच्छा करने वाला धुएं से नहीं बच सकता ॥१५६॥

न्याय शास्त्र में प्रमाण चार प्रकार का माना गया है : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अनुमान के प्रमाण में धूम और अग्नि का दृष्टान्त सर्वमान्य है। इसे 'अग्नि धूम न्याय' कहते हैं। जहां धूम है वहां अग्नि अवश्य होती है। एक प्रकार से धूम ही अग्नि का बोधक होता है। दोनों का साहचर्य अनिवार्य है। इसलिए जो मनुष्य अग्नि प्रज्वलित करना चाहे वह धूम से नहीं बच सकता। अर्थात् अभीष्ट कार्य में जो बाधाएं आयें उन्हें अनिवार्य समझ कर सहन करना चाहिए। धुएं के डर से लोग आग जलाना बंद करदें तो दुनिया के बहुत से काम रुक जायें। हां, आजकल बिजली की आग ऐसी है जिसमें धुआं नहीं होता। परन्तु

राजस्व अधिकारी, छत्रधारक, वैश्य आदि के नाम हैं। राज्याभिषेक के अवसर पर इन रत्नियों को महत्त्व दिया जाता था।

विक्रमादित्य की राजसभा के तो नव-रत्न प्रसिद्ध हैं।

धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंह शंकु वैतालभट्ट घटखर्पर कालिदासा: ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतें सभायाम् रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

विक्रमादित्य की सभा में धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकू, वैतालभट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वरहमिहिर, और वररुचि ये नौ रत्न थे।

अकबर के दरबार में भी नौ रत्नों का उल्लेख मिलता है।

मर्यादातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत ॥१६०॥

मर्यादा उल्लंघन करने वाले का विश्वास न करे ॥१६०॥

'मर्यादा' शब्द संस्कृत के 'मर्य्या' शब्द से बना है। मर्य्या का अर्थ है सीमा या हद। इसलिए सीमा में रहना मर्यादा है। आदिकाल में मनुष्य जब जंगल में रहते थे और आखेट से जीवन-यापन करते थे, तब सब स्वच्छन्द थे। किसी तरह की मर्यादाए नहीं थीं। परन्तु मानव जाति जब समाज के रूप में संगठित हुई तो आपस में सहयोग के लिए लड़ाई-झगड़ों और अपराधों को रोकने के लिए कुछ व्यवस्थाएं आवश्यक हो गयीं।

सबसे पहले तो सामाजिक जीवन के ऐसे तत्वों पर विचार किया गया जिनके बारे में कोई मतभेद न हो, अर्थात् जो सब पर समान रूप से लागू हों और जिन्हें सब स्वीकार करें। इन तत्वों को धर्म का नाम दिया गया। फिर देश, काल और परिस्थिति तथा आचार-व्यवहार, कर्त्तव्य-कर्म आदि के अनुभवों के आधार पर इस धर्म की भी कई शाखाएं हो गयीं। इन सबकी विवेचना प्रथम सूत्र की व्याख्या में की जा चुकी है।

धर्म के मूल सिद्धान्त–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं। संसार का कोई भी मजहब, पंथ, संप्रदाय या रिलीजन इन्हें अस्वीकार नहीं करता, बल्कि इनको मानव जीवन का आधार मानता है। सो यह मानव धर्म है। मानव धर्म इसलिए हैं कि सारी मनुष्य जाति एक है। जीव-विज्ञान (बायलोजी) ने इसे सिद्ध कर दिया है।

परन्तु लोक–व्यवहार में धर्म के इन शाश्वत तत्वों का पालन पूरी तरह संभव नहीं। न तो कोई मनुष्य पूरा सत्यवादी या सत्यव्रती हो सकता है और न पूरी तरह अहिंसक हो सकता है। ब्रह्मचर्य का जो अर्थ लगाया जाता है, उस पर लोग चलने लगें तो सन्तानोत्पत्ति के अभाव में मनुष्य जाति का नाम

स्वभाव के लोग इन त्रुटि को ले उड़ते हैं। हां जानबूझ कर जो गलती की गयी हो, वह दोष अवश्य होता है। गुणवान जन ऐसे दोष से रहित होते हैं।

नास्ति रत्नमखंडितम् ।।१५९।।

कोई रत्न ऐसा नहीं जो अखंडित हो ।।१५९।।

खंडित शब्द के तीन अर्थ किये जा सकते हैं। सारे रत्न प्राकृतिक अवस्था में खान से निकलते हैं। वे कचरे में ढके रहते हैं। जौहरियों की भाषा में इसे खरड़ कहते हैं। खरड़ को तोड़ कर उसमें से जो रत्न निकलता है वह अपरिष्कृत होता है। उसे तराशकर, उपयुक्त आकार देकर और सान पर चढ़ाकर मणि बनायी जाती है। इसी को रत्न कहते हैं।

खरड़ को साफ करके जो रत्न बनाये जाते हैं, उनमें बहुत कम ऐसे निकलते हैं जो पूरी तरह निर्दोष हों, यानी पानीदार हों। अधिकतर रत्नों में कुछ न कुछ दोष होता है। इन्हीं के अनुसार रत्न का मूल्य होता है। दोषपूर्ण रत्नों को खंडित रत्न कह सकते हैं।

कोई बड़ा रत्न हो और उसमें कहीं-कहीं कुछ दोष हो, तो उसे खंडित करके निर्दोष टुकड़ा निकाल लिया जाता है। बाकी के टुकड़ों के छोटे-छोटे रत्न बना लिये जाते हैं।

इस प्रकार खंडित रत्न की तीन परिभाषाएं हो जाती हैं। सो वास्तविक रूप में अखड रत्न कोई नहीं होता।

कोई अत्यन्त मूल्यवान पदार्थ हो उसे भी रत्न की उपमा दी जाती है। सद्गुण रत्न होते हैं, सो गुणीजनों को नर-रत्न कहा जाता है।

चाणक्य नीति कहती है :

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितं ।

पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं : जल, अन्न और सुभाषित।

ये सब भी अखंडित नहीं होते, अर्थात् इनमें भी कुछ न कुछ दोष होता है। जल तथा अन्न नितान्त शुद्ध नहीं होते और सुभाषितों में तर्क-वितर्क के द्वारा दोष निकाले जा सकते हैं।

सम्माननीय तथा पूजनीय जनों को भी रत्न की संज्ञा दी गयी है। प्राचीन काल में राज्य के पार्षदों को रत्न कहा जाता था। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता तथा मैत्रायणी संहिता में रत्नों की सूचियां दी हुई है। इन सूचियों में राजपुरोहित, सेनापति, पटरानी, सारथी, ग्राम प्रमुख, कोषाध्यक्ष,

ब्रह्मचर्य की मर्यादा है। अपनी आवश्यकता से अधिक धन या वस्तु का संग्रह नहीं करना अपरिग्रह है।

मर्यादाएं समाज–व्यवस्था का अंग होती हैं और इनके अनुसार चलना मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य होता है। सरकारें जो कानून-कायदे बनाती हैं उन्हें मर्यादा नहीं कह सकते। वे तो निषेधात्मक होते हैं और उनका उद्देश्य अपराधों को रोकना तथा अपराधियों को दण्ड देना होता है।

रामचंद्र को मर्यादा पुरुषोत्तम इसलिए कहा जाता है कि उसने मर्यादाओं का पालन किया। जब राम ने पेड़ की ओट में छिपकर बालि को मारा तब बालि ने उससे कहा–आपने धर्म के लिए अवतार लिया है फिर मुझे व्याध (शिकारी) की तरह क्यों मारा? राम ने उत्तर दिया–जो छोटे भाई की पत्नी, बहन, पुत्र-वधू और कन्या से दुराचार करता है, उसे मारने में पाप नहीं होता।

चाणक्य का यह सूत्र मर्यादा पर इतना जोर देता है कि मर्यादा का उल्लंघन करने वाले पर तनिक भी विश्वास नहीं करना चाहिए। ऐसा मनुष्य समाज-कंटक होता है क्योंकि वह समाज की व्यवस्थाओं को नहीं मानता।

आज के युग में मर्यादाओं का तो जिक्र ही क्या, कानूनों तक का उल्लंघन करने में लोग नहीं हिचकते। उन्हें समाज का कोई भय नहीं होता। ऐसे लोग सभी क्षेत्रों में और सभी वर्गों में पाये जाते हैं परन्तु राजनीति एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें मर्यादाओं का नाम लेना भी मूर्खता की बात है।

अप्रिये कृतं प्रियमपि द्वेष्यं भवति ।।१६१।।

बुरी नियत से किया गया मीठा व्यवहार या बर्ताव भी शत्रुता के समान होता है ।।१६१।।

दुष्ट जनों का स्वभाव होता है कि ऊपर से तो बहुत मीठी और चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, परन्तु भीतर ही भीतर हानि पहुंचाने की घात लगाते हैं। ऐसे लोगों के लिए कहा गया है 'मुंह में राम, बगल में छुरी'। चाणक्य नीति ने ऐसे ही कपटी मित्रों से सावधान किया है:

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुंभं पयोमुखम् ।।

जो पीठ पीछे काम बिगाड़ता हो और सामने मीठी बातें करता हो, ऐसा मित्र उस घड़े के समान होता है जिसमें विष भरा हो और ऊपर दूध डाल दिया हो। ऐसे मित्र को धता बतानी चाहिए।

ही मिट जाये। चोरी भी प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप में करता है। अपरिग्रही तो केवल निर्ग्रन्थ साधु ही हो सकता है। इसलिए शास्त्रकारों और नीतिकारों ने सबकी मर्यादाएं निश्चित कर दी है, अर्थात् सबकी सीमाएं बांध दी हैं कि इनके भीतर रहो, इनसे बाहर मत जाओ। इन्हीं व्यवस्थाओं को मर्यादा कहते हैं। इसका एक उदाहरण भागवत पुराण में मिलता है।

लोके व्यवायामिष मद्य सेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थिस्तितेषु विवाह यज्ञ सुराग्रहैराषु निवृत्तिरिष्टा ॥

संसार में मैथुन, मांस तथा मदिरा का सेवन मनुष्यों का स्वभाव है। इसके लिए किसी को प्रेरणा नहीं देनी पड़ती, अर्थात् किसी से कहना नहीं पड़ता। इसे व्यवस्थित करने के लिए विवाह और यज्ञ की मर्यादा निश्चित कर दी गयी है। परन्तु इनसे छुटकारा पाना अच्छा है।

अत्यन्त प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष के विवाह की प्रथा नहीं थी। उपनिषद में वर्णित एक आख्यान के अनुसार इस प्रथा की स्थापना उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने की थी। इससे पहले पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच मुक्त यौन-संबंध होते थे। छांदोग्य उपनिषद में उपाख्यान है कि सत्यकाम ने अपनी माता जबला से गुरुकुल में प्रवेश की आज्ञा मांगी और पूछा—मेरे पिता का क्या नाम है ? जबला ने उत्तर दिया—मैं ऋषियों के आश्रम में सेवा करती थी। वहीं किसी ऋषि से मुझे गर्भ रह गया। मैं तेरे पिता का नाम नहीं जानती। तू गुरु को अपना नाम सत्यकाम जाबाल बता देना। सत्यकाम ने यही बात गुरु से कह दी और उसने उसकी सत्यपरायणता के कारण उसे शिष्य बना लिया।

विवाह की इस प्रथा को और अधिक मर्यादित करने के वास्ते मनु ने विवाह के भी आठ प्रकार बता दिये। ब्रह्म विवाह उत्तम और पैशाच विवाह अधम।

मनुस्मृति में धर्म के जो पांच मूल तत्व बताये गये हैं उन्हें जैन दर्शन में पंच महाव्रत कहा गया है। चूंकि गृहस्थ जन महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते. सो उनके लिए अणुव्रतों का विधान कर दिया।

सत्य की मर्यादा यह है कि अप्रिय, कठोर तथा अहितकर सत्य नहीं बोलना चाहिए। अहिंसा की मर्यादा है कि हिंसा की भावना से किसी जीव की हत्या नहीं करनी चाहिए। मनुष्यों के दैनिक जीवन में जाने-अनजाने अनेक जीवों की हत्या हो जाती है। भूख से तड़पता आदमी पेट भरने के लिए चोरी कर ले तो वह अपराध नहीं माना जा सकता। इन्द्रियों पर संयम रखना

प्रोत होता है। संसार के सारे अवतार, युग-पुरुष, ऋषि, मुनि, नबी, ज्ञानी, विज्ञानी आदिक इस श्रेणी के महापुरुष होते हैं। ये लोग जो बातें कहते हैं या जो उपदेश देते हैं वे अनुभव तथा अन्तर्ज्ञान से प्राप्त होते हैं और सारी मानव जाति के हितार्थ होते हैं। परन्तु उनके भक्त और अनुयायी उनके नाम को लेकर मजहब, पंथ, सम्प्रदाय आदि बना लेते हैं।

इनमें कोई मौलिक भेद नहीं होता, क्योंकि मानव धर्म के सिद्धान्त सबके एक समान है। भेद केवल धर्म पुस्तकों का, देवी-देवताओं का उपासना-पद्धति का, तथा संस्कारों और कर्मकाण्डों का होता है।

इसलिए इन आप्तजनों के सर्वमान्य सिद्धान्तों तथा उपदेशों का सबको पालन करना चाहिए। इनके अतिक्रमण से ही संसार में पाप कर्म, दुराचार वाद-विवाद और लड़ाई-झगड़े पैदा होते हैं।

तुलसीदास ने कहा है :

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख जो न करै सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होय हित हानि ॥

जो मनुष्य अपने भाई, मित्र, गुरु तथा स्वामी की शिक्षा को शिरोधार्य करके नहीं मानता, वह जी भर कर पछताता है और अपने हित को हानि पहुंचाता है।

यों तो आजकल अनेक धर्मोपदेशक, कथावाचक, वक्ता, साधु-सन्यासी, राजनेता, पण्डित, विद्वान, शास्त्री, आदिकों के ढेरों प्रवचन, भाषण, व्याख्यान आदि होते रहते हैं और सब दूसरों को उपदेश देते फिरते हैं। परन्तु इसका कोई प्रभाव नजर नहीं आता। इसका कारण यही है कि ये लोग वास्तव में सत्यव्रती नहीं होते इसलिए उपदेश देने के अधिकारी नहीं होते। बहुतों ने तो धर्मोपदेश और कथा-वाचन एक धन्धा बना लिया है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'सतां' शब्द इन पर लागू नहीं होता।

गुणवदाश्रयान्निर्गुणोपि गुणी भवति ॥१६४॥

क्षीराश्रितं जलं क्षीरामेव भवति ॥१६५॥

मृत्पिंडोपि पाटलिगंध मुत्पादयति ॥१६६॥

रजत कनकसंगात् कनकं भवति ॥१६७॥

तुलसी रामायण में कालनेमि राक्षस का उपाख्यान है। मेघनाद की शक्ति से आहत लक्ष्मण के लिए जब हनुमान संजीवनी बूटी लाने को आकाश मार्ग से जा रहा था, तब रावण के कहने से कालनेमि ने रास्ते में माया रची। उसने समुद्र के एक द्वीप में सुरम्य आश्रम बनाया। हनुमान वहां थोड़ी देर विश्राम करने को उतरा। कालनेमि ने हनुमान की खूब आव-भगत की और कहा-सरोवर में स्नान करके आओ, मैं तुम्हें मंत्र दीक्षा दूंगा। हनुमान स्नान करने को सरोवर में उतरा तो मकड़ी नामक राक्षसी ने उसका पांव पकड़ कर खींचा। हनुमान ने उसे मार डाला। मरते समय उसने हनुमान को कालनेमि का छल बता दिया। तब हनुमान ने कालनेमि को मार दिया। तुलसीदास ने कहा है; 'उघरे अन्त न होइ निवाहू', अर्थात् ऐसे लोगों की अन्त में पोल खुल जाती है। इसलिए दुर्जनों के पाखंड़ी व्यवहार से सावधान रहना चाहिए।

नमन्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदक क्षयं करोति ॥१६२॥

ढेंकली झुक कर भी कुए का पानी खला देती है ॥१६२॥

उथले कुओं का पानी सिंचाई के लिए ढेंकली से अब भी कहीं-कहीं निकाला जाता है। ढेंकलियों की जगह अब बिजली के पम्पों ने ले ली है। ढेंकली लम्बे बांस की होती हैं जिसके एक सिरे पर वजनी पत्थर बंधा होता है और दूसरे सिरे पर रस्सी से बंधी बालटी लटकी रहती है। ढेंकली को झुकाने पर बाल्टी कुएं में नीचे जाती है और उसमें पानी भर जाता है। रस्सी छोड़ने पर बाल्टी ऊपर आ जाती है। इस तरह कुए का पानी निकलता रहता है।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि किसी की नम्रता या झुक-झुककर नमस्कार करना भी हानि पहुंचा सकता है। कुछ लोग दिखाने के लिए बहुत नम्रता का व्यवहार करते हैं। खुशामद भी इस श्रेणी में आती है। नम्रता से लोग दूसरों को खुश करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। कहावत है कि तीन का नमन बहुत दुखदायी होता है। धनुष को जितना अधिक नवाया जाये, उतने ही अधिक वेग से तीर छूटता है। बिल्ली जब चूहे या चिड़िया पर वार करती हैं तो पीठ झुका लेती है। दुर्जन भी इसी प्रकार नमन करके अपना मतलब गांठते हैं।

सतां मतं नातिक्रमेत ॥१६३॥

सत्पुरुषों के उपदेशों के विरुद्ध आचरण नहीं करे ॥१६३॥

सत्पुरुष अथवा आप्तजन राग-द्वेष से रहित होते हैं तथा उनका सारा जीवन निष्काम कर्म तथा लोक-कल्याण की निस्वार्थ भावना से ओत-

इन सारे दृष्टान्तों का सार यह है कि यदि कोई गुणवान तथा चरित्रवान बनना चाहता है, तो उसे गुणीजनों, सज्जनों और सत्पुरुषों की संगति में रहना चाहिए और उनके गुणों का अनुकरण करके अपने जीवन का उत्कर्ष करना चाहिए ।

उपकर्तर्यपिकर्त्तु मिच्छत्यबुधः ॥१६८॥

तद्विपरीतो बुधः ॥१६९॥

नासमझ मनुष्य अपना उपकार करने वाले का भी अपकार करना चाहता है ॥१६८॥

इसके विपरीत बुद्धिमान पुरुष उपकार करने वाले का प्रत्युपकार करता है ॥१६९॥

जो लोग अपने उपकारी का भी अपकार करने की, अर्थात् उसे हानि पहुंचाने की सोचते हैं उन्हें इस सूत्र में 'अबुध' कहा है । अबुध वह होता है जिसमें बुद्धि, विवेक या समझ नहीं होती । उसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं होता । सो वह अपना उपकार करने वाले को भी नहीं बख्शता । परन्तु वास्तव में ऐसे मनुष्य को दुष्ट और कृतघ्न कहना चाहिए । ऐसे दुष्टों के लिए तुलसीदास ने कहा है ।

परहित हानि लाभ जिन केरे ।। परहित घृत जिनके मन माखी ।।
उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति ।।

जिन्हें दूसरों की हानि करने में ही लाभ नजर आता है । जो दूसरों के हित को ऐसे भ्रष्ट कर देते हैं जैसे घी में पड़ी हुई मक्खी । दुष्टों का स्वभाव होता है कि वे शत्रु हो या मित्र हो या कोई भी हो, उसकी उन्नति देखकर जलते हैं ।

ना-समझ आदमी को एक बार क्षमा किया जा सकता है, पर दुष्ट और कृतघ्न को क्षमा नहीं किया जा सकता । कृतघ्नता यानी एहसान-फरामोशी घोर पाप माना गया है ।

इसके विपरीत बुद्धिमान पुरुष, उपकार को सदा याद रखते हैं और कृतज्ञ होते हैं । समय आने पर उस उपकार का बदला भी चुकाते हैं । इतना ही नहीं सन्त और महात्मा तो अपकार करने वाले का भी अपकार नहीं करते, हैं । तुलसीदास ने कहा है :

गुणवान के आश्रय में रहने वाला निर्गुण भी गुणी हो जाता है ।।१६४।।

दूध के आश्रय में जल भी दूध के समान हो जाता है ।।१६५।।

मिट्टी का ढेला भी गुलाब के संसर्ग से सुगन्धित हो जाता है ।।१६६।।

चांदी सोने के साथ मिलकर सोना हो जाती है ।।१६७।।

पहला सूत्र नीतिवचन है और उसके अनुवर्ती तीन सूत्रों में इस नीति-वचन को पुष्ट करने वाले दृष्टान्त हैं ।

गुणीजनों, सज्जनों, सत्पुरुषों और ज्ञानवानों के संसर्ग से गुणहीन मनुष्य में भी गुण उत्पन्न हो जाते हैं । इसका कारण यह है कि गुणीजनों का चरित्र निर्मल तथा अनुकरणीय होता है और उसका प्रभाव पड़े विना नहीं रहता । भर्तृहरि ने कहा है :

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति सत्संगतिः कथय किन्नकरोति पुंसाम् ।।

सत्पुषों की संगति जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्य खींचती है, मानकी वृद्धि करती है, पापों को नष्ट करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और चारों दिशाओं में कीर्ति फैलाती है । सत्संगति मनुष्य के लिए क्या नहीं करती ।

तुलसीदास ने कहा है :

शठ सुधरहिं सत संगति पाई ।
पारस परसि कुधातु सुहाई ।।

चाणक्य नीति कहती है :

संसार कूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषितं च सुस्वादः संगति सज्जने जने ।।

संसार रूपी विषवृक्ष में दो फल अमृत के समान हैं । सुभाषितों का रसास्वादन और सज्जनों की संगति ।

पारसमणि के संसर्ग से लोहा सोना वन जाता है । पानी दूध में मिलकर दूध ही हो जाता है । मिट्टी के ढेले को फूलों के ढेर में रख दिया जाये तो उसमें भी सुगंध आने लगती है । सुगधित तैल तिलों को फूलों में बसाकर ही बनाये जाते हैं । सोने में थोड़ी सी चांदी मिला दी जाये, तव वह भी सोने का अंश वन जाती है ।

जाते। कुछ कर्म पाप भी होते है और अपराध भी और कुछ केवल अपराध होते हैं, पाप नहीं।

साधारण तौर पर ईश्वरीय आज्ञाओं का उल्लंघन तथा धर्म-विरुद्ध आचरण पाप होता है। पाप केवल कर्म से ही नहीं मन से और वचन से भी होता है। अपराध केवल कर्म से होता है। पाप मनुष्य के चरित्र से और उसकी अन्तरात्मा से संबंध रखता है। अपराध का संबंध समाज से होता है।

कर्म विपाक के सिद्धांत के अनुसार पाप कर्मों का फल मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। अपराध की सजा तभी मिलती है जब अपराधी पकड़ा जाये।

झूठ बोलना पाप है, परन्तु अपराध नहीं जब तक कि वह कानून के दायरे में न आये, जैसे झूठी गवाही देना। चोरी करना पाप भी है और अपराध भी। धन-संपति जमा करना न तो पाप है न अपराध। लेकिन टैक्सों की चोरी केवल अपराध है, पाप नहीं क्योंकि इसके कानून बदलते रहते हैं। मिसाल के तौर पर आयकर को ले सकते हैं। एक निश्चित सीमा से अधिक आय वाले को आय-कर देना पड़ता है। जो नहीं देता वह अपराधी होता है। लेकिन जब यह सीमा बढ़ा दी जाती है तो पहले जो अपराध था वह अपराध नहीं रहता। इन्हें आर्थिक अपराध कहते हैं। धर्म शास्त्रों के अनुसार आवश्यकता से अधिक धन सम्पत्ति रखना 'परिग्रह' नामक पाप है।

विभिन्न देशों में अपराधों की भी अलग-अलग परिभाषाएं हैं। पश्चिमी देशों में व्यभिचार को अपराध नहीं माना जाता।

मतलब यह है कि विभिन्न संप्रदायों, मजहबों, पंथों आदि में पाप की परिभाषाएं भिन्न-भिन्न हैं, और विभिन्न देशों में अपराध की परिभाषाएं भिन्न-भिन्न हैं। चाणक्य के सूत्र का अभिप्राय उन पापों से है जो धर्म के मूल तत्वों के विरुद्ध आचरण से सम्बन्ध रखते है और जिनसे आत्मा कलुषित होती है। मन, वचन और कर्म तीनों ही इन पापों के हेतु होते है। ऐसे पापी लोगों को लोक निन्दा का भय नहीं होता क्योंकि उनका स्वभाव ही पापमय बन जाता है।

आजकल तो पापियों को क्या अपराधियों तक को लोकनिन्दा का भय नहीं रहा। राजनीति में तो सारे पाप और अपराध डंके की चोट होते हैं।

उत्साहवता शत्रवोऽपि वशी भवन्ति ॥१७१॥

उत्साही पुरुष के शत्रु भी उसके वश में हो जाते हैं ॥१७१॥

वन्दउं संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ ।
अंजुलिगत सुभ सुमन जेहि सम सुगन्ध कर दोउ ॥

मैं समदर्शी संतों की वन्दना करता हूं जिनका न कोई मित्र है न शत्रु । अंजली में फूल भरे जायें तो दोनों हाथ सुगन्धित हो जाते हैं । इसी प्रकार सन्त जन सबके साथ समान व्यवहार करते हैं ।

वाल्मीकि ने रामायण में रामचंद्र से हनुमान के प्रति एक अनोखी बात कहलवाई है :

मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे ।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति ॥

तूने मेरा जो उपकार किया है, वह सदा बना रहे । क्योंकि प्रत्युपकार की इच्छा करने वालों की यह आकांक्षा रहती है कि उपकर्त्ता पर कोई विपत्ति आये । रामचन्द्र के इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रत्युपकार तभी किया जा सकता है जब उपकारी पर कोई संकट आये । सत्पुरुष ऐसा कभी सोच ही नहीं सकते । इसलिए वह चाहते हैं कि उपकार सदा बना रहे ।

इस दृष्टि से चाणक्य के सूत्र का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि अबुध मनुष्य यह चाहता है कि उसके उपकारी पर कोई विपत्ति आये ।

न पापकर्मणामाक्रोशभयम् ॥१७०॥

पाप कर्म करने वाले को आक्रोश का भय नहीं होता ॥१७०॥

आक्रोश का अर्थ है चिल्लाहट या चीख-पुकार । हिन्दी का 'कोसना' शब्द इसी का अपभ्रंश है । गाली या निन्दा के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया जाता है ।

पाप कर्मों में जिसकी प्रवृति हो जाती है उसे किसी की चीख-पुकार का या निन्दा का या गाली का कोई भय नहीं होता । लोग उसे चाहे जितना कोसा करें वह परवाह नहीं करता ।

अलग-अलग मतों के अनुसार पाप की परिभाषाएं भी अलग-अलग हैं । यह शब्द धर्म पुस्तकों और नीति शास्त्रों में ही मिलता है । कानून में पाप नाम का कोई कर्म नहीं । कानून की निगाह में तो सिर्फ अपराधों का और अपराधियों को दी जाने वाली सजाओं का विधान होता है । पाप के लिए अंग्रेजी शब्द 'सिन' है और उर्दू में इसे 'गुनाह' कहते हैं । अपराध के लिए अंग्रेजी का 'क्राइम' शब्द है और उर्दू का 'जुर्म' । पाप और अपराध के मामले में अजीब गड़बड़-झाला है । कुछ कुकर्म ऐसे हैं जिन्हें पाप माना जाता है । पर कानून में अपराध नहीं गिने

मनुष्य के चार पुरुषार्थः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पिछले सूत्रों में कई बार उल्लेख हुआ है। जो मनुष्य आलसी होता है वह कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता। अर्थ और काम के अभाव में वह इस संसार में उन्नति नहीं कर सकता, और धर्माचरण में प्रवृत्ति नहीं होने के कारण मोक्ष के मार्ग में भी प्रगति नहीं कर सकता। उसके लोक परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

निरुत्साहो दैवं परिशयति ।।१७४।।

निरुत्साही अर्थात उत्साहहीन मनुष्य दैव अर्थात भाग्य को कोसता है ।।१७४।।

जो मनुष्य कोई यत्न नहीं करता, पुरुषार्थ नहीं करता, उसका कोई कार्य सफल नहीं होता। परन्तु वह अपने दोषों तथा न्यूनताओं को नहीं देखता वलिक अपने भाग्य को कोसता है। कहता है कि उसके भाग्य में ही सफलता नहीं लिखी है। इस सूत्र का भावार्थ यह है कि मनुष्य जो कार्य हाथ में ले, उसमें उसे पूरे उत्साह से जुट जाना चाहिए।

'दैवं प्रधानमिति कापुरुषाः वदन्ति', कायर पुरुष ही दैव को प्रधान कहते हैं।

मत्स्यार्थीव जलमुपयुज्यार्थं गृहणीयात् ।।१७५।।

मछली की इच्छा रखने वाला जल का उपयोग करके अपना उद्देश्य प्राप्त करता है ।।१७५।।

मछलियां पकड़ने वाले मछुओं को जाल डालने के लिए पानी में उतरना पड़ता है। दूर समुद्र में मछलियां पकड़ने के लिए नावों का भी उपयोग किया जाता है। मछुओं का जीवन सदा खतरे में रहता है। इस दृष्टान्त के द्वारा सूत्र में यह बताया गया है कि अपने कार्य में आने वाले संकटों से घबराना नहीं चाहिए। बहुत-से काम ऐसे होते हैं जिनमें जान की भी जोखिम रहती है। अनेक कार्यों में दुर्घटनाओं की भी संभावना या आशंका रहती है। कार्य को सिद्ध करने की आकांक्षा रखने वाला इनकी परवाह नहीं करता।

अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्त्तव्य ।।१७६।।

जिस आदमी पर भरोसा न हो, उसका विश्वास नहीं करना चाहिए ।।१७६।।

किसी को विश्वास का कोई काम सौंपने से पहले परीक्षा कर लेनी चाहिए कि वह विश्वास का पात्र है या नहीं। नीतिकारों ने कहा है: 'कुसौहृदे

उत्साह शब्द का प्रयोग आजकल खुशी के अर्थ में किया जाता है। परन्तु उत्साह के अर्थ यत्न, पुरुषार्थ, शक्ति तथा दृढ़ इच्छा भी हैं।

इस सूत्र में उत्साह शब्द का प्रयोग राजधर्म के सन्दर्भ में हुआ है। जो राजा पुरुषार्थी, शक्तिमान तथा दृढ़ निश्चयी होता है उसके शत्रुओं की उस पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं होती। उसके शत्रु या तो स्वयं ही उसकी प्रभुता स्वीकार कर लेते है या युद्ध में परास्त होकर उसके वशवर्ती हो जाते हैं।

इस युग में भी यही हो रहा है। प्रत्येक राष्ट्र या देश अपनी शक्ति बढ़ाने में लगा हुआ है। नये-नये महा-संहारक अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार और निर्माण हो रहे हैं और इनके भण्डार भरे जा रहे हैं। इनके बल पर छोटे-देशों या राष्ट्रों को जबरदस्ती वशवर्ती बनाया जा रहा है।

विक्रमधना राजानः ॥१७२॥

विक्रम ही राजा का धन है ॥१७२॥

पराक्रम, बल, शौर्य आदि का नाम विक्रम है। जिस राजा या शासक में ये गुण होते हैं, अर्थात जो इन गुणों का धनी होता है, उसे शत्रुओं का भय नहीं होता और उसकी प्रजा सुखी जीवन बिताती है। एक सूक्ति है:

विपदो-अभिभवन्त्वविक्रम

अर्थात जिस राजा में विक्रम नहीं होता, वह विपदा में फंस जाता है। विक्रमहीन शासक को शत्रु दबा लेते हैं और जनता में भी अराजकता फैल जाती है।

आज के सन्दर्भ में विक्रम का यह अर्थ किया जा सकता है कि शासक वर्ग में बुद्धिबल और चरित्र बल होना चाहिए। उसमें जनहित के कार्य करने का पराक्रम होना चाहिए और विपक्ष के प्रति शौर्य का व्यवहार करना चाहिए।

नास्त्यलस्यैहिकामुष्मिकम् ॥१७३॥

आलसी मनुष्य का न यह लोक होता है न परलोक ॥१७३॥

आलसी मनुष्य को न तो इस लोक में भौतिक सुख प्राप्त होते है न मृत्यु के बाद उसकी सद्गति होती है। आलस्य के बारे में पिछले सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है। कहा है:

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ॥

मनुष्य के शरीर में आलस्य सबसे बड़ा शत्रु होता है।

किसी श्रेष्ठ, उत्तम, कल्याणकारी कार्य के संपादन में नीच की भी सहायता लेनी पड़े तो लेनी चाहिए। नीच मनुष्य स्वभाव से भी होता है और वर्ण-व्यवस्था के अनुसार जाति से भी। एक दोहा है :

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
पर्‌यो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय ।।

उत्तम विद्या नीच के पास भी हो, तो ग्रहण करनी चाहिए। सोने का टुकड़ा गंदी जगह में भी पड़ा हो तो लोग उसे उठा लेते है।

किसी भी कार्य या उद्देश्य या इच्छा को पूर्ण करने में शत्रु का विश्वास नहीं करना चाहिए।

किसी मनुष्य के दूसरे मनुष्यों से संबन्ध, अर्थ अर्थात कार्य, उद्देश्य अथवा प्रयोजन के अधीन होते है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसा कार्य या उद्देश्य हो, उसकी पूर्ति के लिए ऐसे ही लोगों को साथ लिया जाता है जो सहायक सिद्ध हों। ऐसे लोगों को दूर रखा जाता है जो बाधक हों। मनुष्यों के आपसी संबन्ध किसी न किसी हेतु से होते है। अहेतुक संबन्ध कोई नहीं होता। माता-पिता वात्सल्य के कारण संतान का पालन-पोषण करते हैं। पुत्रों से यह आशा की जाती है कि वे वृद्धावस्था में सेवा करेंगे। मित्रता भी समान विचारों अथवा स्वार्थों को लेकर होती हैं।

मनुष्यों के ही नहीं, राष्ट्रों के आपसी संबन्ध भी उद्देश्य के अनुसार निर्धारित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यह बात स्पष्ट रूप में देखने में आती है।

शत्रोरपि सुतस्सखा रक्षितव्यः ।।१८२।।

शत्रु का पुत्र भी यदि मित्र हो तो उसकी रक्षा करनी चाहिए ।।१८२।।

शत्रु के पुत्र की रक्षा का एक उदाहरण महाभारत में मिलता है। धृतराष्ट्र का सबसे छोटा पुत्र युयुत्सु अपने बड़े भाई दुर्योधन का साथ छोड़ कर पांडवों से जा मिला था और पांडवों ने उसकी रक्षा की थी। रावण का छोटा भाई विभीषण रामचन्द्र की शरण में चला गया था और रावण की मृत्यु के बाद राम ने उसे ही लंका का राज्य दे दिया था।

यावच्छत्रोश्छिद्रं पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्य ।।१८३।।

न विश्वासो' अर्थात कुमित्र का विश्वास नहीं करना चाहिए और 'न विश्वसेदविश्वस्तं" अर्थात जो विश्वास के योग्य न हो उसका विश्वास नहीं करे।

राजकाज में तो इस सूत्र के उपदेश का बहुत महत्व है। राज्य के अनेक कार्य ऐसे होते हैं जिनमें गोपनीयता की आवश्यकता होती है, या जो बहुत जिम्मेदारी के होते हैं। ऐसे कार्य उन्हीं लोगों को सौंपे जाने चाहिए जिनके बारे में पूरी तरह भरोसा हो जाये कि वे विश्वासघात नहीं करेंगे।

विषं विषमेव सर्वकालम् ॥१७७॥

विष सदा विष ही रहता है ॥१७७॥

इस सूत्र को भी इसके पूर्ववर्ती सूत्र के प्रसंग में समझना चाहिए। जो मनुष्य विश्वास का पात्र नहीं होता, यानी धोखेबाज और विश्वासघाती होता है, उसका स्वभाव नहीं बदलता, जैसे विष का स्वभाव नहीं बदलता। जिस प्रकार विष मारक होता है उसी प्रकार विश्वासघाती मनुष्य भी बहुत खतरनाक होता है।

अर्थसमादाने वैरिणाँ संग एव न कर्त्तव्यः ॥१७८॥

आयार्थिमेव नीचस्य संसर्गः ॥१७९॥

अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वसेत ॥१८०॥

अर्थाधीन एव नियत संबंधः ॥१८१॥

अर्थ संपादन के लिए शत्रु को कभी साथ नहीं लेना चाहिए ॥१७८॥

श्रेष्ठ कार्य में नीच से संसर्ग किया जा सकता है ॥१७९॥

अर्थ सिद्धि में शत्रु का विश्वास नहीं करे ॥१८०॥

लोगों से संबन्ध अर्थ के अनुसार नियत होता है ॥१८१॥

इन चारों सूत्रों में 'अर्थ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है अर्थ शब्द के कई अर्थ हैं। धन-सम्पत्ति, इच्छा, उद्देश्य और वांछित कार्य। इन सारे मामलों में किसी ऐसे आदमी को शामिल नहीं करना चाहिए जिससे वैर या शत्रुता हो। इसका कारण स्पष्ट है। शत्रु को साथ लिया जाये तो वह सहायता करने की बजाय हर तरह से हानि पहुंचाने की कोशिश करेगा।

परिवार का कोई जन अथवा कोई मित्र दुराचारी हो जाये तो उसे सुधारने का उपाय करना चाहिए। कुल का कोई जन कुमार्गी हो जाये तो सारे कुल को कलंक लग जाता है।

राज्य-शासन को चलाने वाले सब लोग चाहे वे राजनेता हों, सांसद हों, विधायक हों, प्रशासक हों या राज्य कर्मचारी हों, एक परिवार की तरह होते हैं क्योंकि सभी का एक ही उद्देश्य होता है : देश तथा राष्ट्र की उन्नति और समृद्धि। इनमें से कोई भी यदि दुराचारी हो जाये और भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाये तो शासन में खराबी पैदा हो जाती है और इसका परिणाम सारे राष्ट्र को भुगतना पड़ता है।

हमारे देश की आज यह हालत है कि राजकाज में लगे प्रभावशाली या उच्च पदासीन लोगों के दुराचार तथा भ्रष्टाचार को रोकने की बजाय उन पर परदा डालने के प्रयत्न किये जाते हैं। इतना ही नहीं सत्ताधारी पार्टी के नेता तो खुद भ्रष्टाचार करते हैं। अपनी पार्टी को कायम रखने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाते हैं। लोगों को लोभ-लालच देकर दल-बदल कराये जाते हैं। चुनावों के लिए अनाप-शनाप काला धन जमा किया जाता है। इस राजनीतिक भ्रष्टाचार के नये-नये कांड सामने आते रहते हैं, लेकिन उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती। इस भ्रष्टाचार को रोकने के उपायों की बात करना तो अरण्य-रोदन के समान हो रहा है।

परिवार के किसी जन का अपमान हो, तो वृद्धजनों को बहुत दुख होता है। रहीम का दोहा है :

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती मानुष चून ॥

पानी का अर्थ है मान, इज्जत, शान, या लाज। परिवार के बुधजनों का सदा यह प्रयत्न रहता है कि घर की लाज बनी रहे।

परन्तु आज की राजनीति में यह सब व्यर्थ है क्योंकि कुछ अपवादों को छोड़कर सारे राजनीतिबाज भ्रष्टाचारी हैं। उन्हें अपने या किसी दूसरे के मान-अपमान की न कोई चिन्ता होती है न परवाह। कुछ गिने-चुने श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान जन इन बातों से दुखी होते हैं पर मन मसोस कर रह जाते हैं। शोर-गुल में उनकी आहें कहीं सुनाई ही नहीं देती।

एकांग दोषः पुरुषमवसादयति ॥१९०॥

शत्रुं छिद्रे परिहरेत ।।१८४।।

आत्मछिद्रं न प्रकाशयेत ।।१८५।।

छिद्र प्रहारिणश्शत्रवः ।।१८६।।

हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत ।।१८७।।

जब तक शत्रु की निर्बलताओं का पता न लग जाये तव तक उससे किसी प्रकार का विवाद या युद्ध नहीं करना चाहिए ।।१८३।।

निर्बल शत्रु को कोई सहायता नहीं देनी चाहिए ।।१८४।।

अपनी निर्बलता का शत्रु को पता नहीं लगने दे ।।१८५।।

शत्रु को निर्बलता पर प्रहार करे, अर्थात जहां उसकी कमजोरी नजर आये वहीं आक्रमण करे ।।१८६।।

शत्रु पराजित होकर अपनी शरण में भी आ जाये तो उसका विश्वास न करे ।।१८७।।

ये सूत्र इस नीति से संवन्ध रखते हैं कि विभिन्न अवस्थाओं में शत्रु से कैसा व्यवहार करना चाहिए। इनका तात्पर्य यह है कि शत्रु पर आक्रमण तभी करना चाहिए जब उसकी कमजोरियों का पता लग जाये। जव तक ऐसा न हो तव तक कूटनीति के द्वारा युद्ध को टालते रहना चाहिए। ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे निर्वल शत्रु प्रवल हो जाये। ऐसे उपाय करने चाहिए कि अपनी कमजोरियों का शत्रु को पता न लग सके। शत्रु का जो मर्मस्थल कमजोर हो, पहले उसी पर आक्रमण करना चाहिए। अन्त में शत्रु के पराजित होने पर भी उसका विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि उसके मन की वैर-भावना समाप्त नहीं हो सकती और वह कभी भी धोखा दे सकता है।

स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत् ।।१८८।।

स्वजनावमानोऽपि मनस्विनां दुःखमावहति ।।१८९।।

अपने लोगों के दुराचार का निवारण करे ।।१८८।।

अपने लोगों का अपमान बुद्धिमान जनों के दुख का कारण होता है ।।१८९।।

ये सूत्र मनुष्य जीवन तथा राज्य-शासन दोनों पर लागू होते हैं ।

करता है तो इसे कुचेष्टा ही कहा जायेगा क्योंकि इससे राष्ट्र–शरीर का समन्वित ढांचा कमजोर हो जाता है।

शत्रुं जयति सुवृत्तः ॥१६१॥

सदाचारी (सच्चरित्र) मनुष्य शत्रु को जीत लेता हैं ॥१६१॥

सदवृत्त अर्थात् सदाचारी मनुष्य वह होता है जो अपने जीवन में धर्म के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के नियमों का पालन करता है। ऐसे मनुष्य का कोई शत्रु हो ही नहीं सकता क्योंकि उसके मन में किसी के प्रति वैर-भाव नहीं होता। वह राग और द्वेष से रहित होता है। यदि कोई वैरी हो भी तो उसे हानि नहीं पहुंचा सकता, वल्कि उसके वशीभूत हो जाता है। पांतजल योग का एक सूत्र है :

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः ।

जिस मनुष्य ने अहिंसा की साधना कर ली है उसके समीप जाने वाला वैर भूल जाता है। प्राचीन काल में ऋषियों के तपोवनों में पशु-पक्षी भी आपसी वैर त्यागकर साथ रहते थे। सिंहों के साथ हिरन निर्भय होकर विचरते थे।

हमारे युग में महात्मा गांधी ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अहिंसा का व्रत लिया था। उन्होंने अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध अभियान चलाये पर अंग्रेजों से उनका कोई द्रोह या वैर नहीं था। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह के दौरान जब उन्होंने जनरल स्मट्स से कुछ शर्तों पर समझौता कर लिया तो इससे असन्तुष्ट एक पठान ने उन पर लाठियों का वार किया। उन्होंने उस पठान को भी क्षमा कर दिया।

जिस मनुष्य में सदाचार के गुण न हों वह शत्रुओं को नहीं जीत सकता। कहा है :

निरुत्साहो निरानंदो निर्वीर्यो निर्गुणः पुमानः ।
किं जेतुं शक्यन् तेन तस्यात्मा चाप्यरक्षितः ॥

उत्साह, आनन्द, वीर्य (ओज) तथा गुणों से हीन मनुष्य जिसकी आत्मा ही वश में नहीं, वह शत्रुओं को कैसे जीत सकता है ?

तुलसीदास की सूक्तियां है :

तुलसी संत सुअंब तरु फूल फलहिं पर हेत ।
इतते वे पाहन हने उतते वे फल देत ॥

एक अंग के दोषपूर्ण होने से मनुष्य की क्षमता क्षीण हो जाती है ॥१६०॥

प्रकृति ने मनुष्य के शरीर की रचना ऐसी निपुणता तथा प्रवीणता से की है कि कोई भी बड़े-से-बड़ा या छोटे-से-छोटा अंग निरर्थक नहीं। सब अंगों के कार्य निर्धारित हैं। कुछ अंग स्वचालित हैं, अपने आप कार्य करते रहते हैं। श्वास-यंत्र, हृदय, पाचन-तंत्र आदि स्वचालित हैं। हाथ-पांव, आंख आदि इन्द्रियां मनुष्य की इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं। इसलिए शरीर का कोई भी अंग क्षत-विक्षत हो जाये या रोग-ग्रस्त हो जाये, तो उसका प्रभाव समूचे शरीर पर पड़ता है और कुछ हद तक मनुष्य की कार्य-क्षमता कम हो जाती है।

अब विज्ञान ऐसे तन्त्रों तथा उपकरणों के निर्माण की ओर बढ़ रहा है जो क्षत-विक्षत, रोग-ग्रस्त या कटे हुए अंग का स्थान ले सकें। कुछ विकलांगों में ऐसी प्रबल इच्छा शक्ति होती है कि वे एक अंग के अभाव की पूर्ति किसी दूसरे अंग की सहायता से कर लेते हैं। विकलांगों के लिए जो प्रशिक्षण केन्द्र चलाये जा रहे हैं उनमें कई विकलांग बहुत प्रतिभाशाली पाये जाते हैं। कई लूलों ने दांत से या पांवों की उंगलियों से कलम या ब्रश पकड़ कर लिखने या चित्र बनाने का अभ्यास किया है। बहुत से अंधे हस्तकला की वस्तुयें बनाते हैं या गान-विद्या का अभ्यास करते हैं। ऐसे लोग अपना जीवन-यापन करने में समर्थ हो जाते हैं। परन्तु फिर भी वे अपने शरीर की पूरी क्षमता का उपयोग नहीं कर सकते।

राज्य-शासन के प्रसंग में भी इस सूत्र का बहुत महत्व है। हमारे देश के संविधान में शासन के तीन अंग माने गये हैं: विधायी, कार्यपालक तथा न्यायपालक। विधायी अंग देश की शासन-व्यवस्था के लिए कानून-कायदे बनाता है। कार्यपालिका इन कायदे-कानूनों के अनुसार शासन तथा प्रशासन का काम संभालती है। न्यायपालिका यानी अदालतें कानून-कायदों का उल्लंघन करने वालों को सजा देती है और यह भी देखती है कि शासन के कार्य संविधान के अनुसार हो रहे हैं या नहीं। ये तीनों अंग अपना अलग-अलग महत्व तो रखते ही हैं परन्तु वास्तव में ये राष्ट्र शरीर के अविभाज्य अंग हैं और अन्योन्याश्रित हैं। एक भी अंग निर्बल हो जाये या दुराचार के रोग से ग्रस्त हो जाये, तो समूचे राष्ट्र की क्षमता कम हो जाती है। कोई भी अंग यह नहीं कह सकता कि वह दूसरे से बड़ा है या श्रेष्ठ है। यदि कोई अंग दूसरे पर हावी होने की चेष्टा

पर अकाजु लगि तनु परहरहीं ।
जिमि हिम उपल कृषीदल गरहीं ।।

मैं बार बार सच्चे हृदय से खलजनों की वन्दना करता हूं जो विना कारण ही दायें-वांयें हो जाते हैं । दूसरों के हितों की हानि को जो अपना लाभ समझते हैं । कोई उजड़ जाये तो खुश होते हैं और बस जाये तो दुखी होते हैं । दूसरों के काम बिगाड़ने को जान पर भी खेल जाते हैं, जैसे ओले गलकर खेती को नष्टकर देते हैं ।

ऐसे दुष्टों के लिए चाणक्यनीति कहती है :

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दंशति काले तु दुर्जनस्तु पदे पदे ।।

दुर्जन और सांप, इन दोनों में सांप दुर्जन से अच्छा है । सांप तो किसी समय डसता है, पर दुर्जन पद-पद पर काटता रहता है ।

नीच लोगों को किसी प्रकार के उपदेश देना भी व्यर्थ होता है । वे उपदेशों का भी उलटा अर्थ लगाते हैं । चाणक्यनीति में कहा है :

न दुर्जनः साधुदशामुपैति बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः ।
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ।।

दुर्जन को चाहे जितना उपदेश दिया जाये, वह साधु स्वभाव नहीं बन सकता । नीम के पेड़ को जड़ से लेकर ऊपर तक दूध और घी से सींचा जाये, तो भी उसमें मिठास नहीं आ सकती ।

इसीलिए सूत्र कहता है कि नीच जनों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए । उनके साथ चाहे जितना उपकार किया जाये, वे अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ते । जिस प्रकार जंगल की आग चंदन जैसे शीतल और सुगंधित वृक्ष को भी जला देती है, उसी प्रकार नीचजन सबको हानि पहुंचाते हैं, दुख देते हैं ।

कदापि पुरुषं नावमन्येत ।।१९७।।

किसी मनुष्य का कभी अपमान मत करो ।।१९७।।

डांटना, डपटना, फटकारना, गाली देना, मजाक उड़ाना, विकलांग को विकलांग कहकर पुकारना, ये सारी बातें अवमान्यता अर्थात अपमान की श्रेणी में आती है ।

साधुचरित सुभ चरित कपासू ।
निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा ।
वंदनीय जेंहि जग जसु पावा ।।

संत जन आम के पेड़ की भांति होते हैं। जो उन पर पत्थर फेंकता है, उसे वे बदले में फल देते हैं।

साधुजनों का चरित्र कपास के समान होता है। कपास को ओटकर, धुन कर और बुन कर कपड़ा बनता है, जो मनुष्य शरीर को ढकता है। इसी प्रकार साधुजन भी स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों के दुख हरते हैं।

निकृतिप्रिया नीचाः ।।१९२।।

नीचस्य मतिर्न दातव्या ।।१९३।।

तेषु विश्वासो न कर्त्तव्य ।।१९४।।

सुपूजितो अपि दुर्जनः पीडयत्येव ।।१९५।।

चन्दनादीनपि दावोग्निदहत्येव ।।१९६।।

नीच लोग सदा शठता पर उतारू रहते हैं ।।१९२।।

नीच मनुष्य को सदोपदेश मत दो ।।१९३।।

नीच मनुष्य का विश्वास मत करो ।।१९४।।

दुर्जन के साथ सम्मान तथा उदारता का व्यवहार किया जाये, तब भी वह अनिष्ट करने से नहीं चूकता ।।१९५।।

दावानल चन्दन जैसे वृक्षों को भी जला डालती है ।।१९६।।

नीच लोग स्वभाव में ही नीच होते हैं। इन्हें शठ, खल, दुष्ट, दुर्जन आदि शब्दों से भी पुकारा जाता है। तुलसीदास ने रामायण में संतों, देवी-देवताओं के साथ-साथ खलजनों की भी वन्दना की है;

बहुरि बंदि खलगन सतिभाएं ।
जे दिनु काज दाहिने बाएं ।।
परहित हानि लाभ जिन केरे ।
उजरें हरष विषाद बसेरे ।।

वैदिक धर्मशास्त्रों में तथा जैन आगमों में धर्म के जो दस लक्षण बताये गये हैं, उनमें क्षमा को सम्मिलित किया गया है। इसलिए क्षमा धर्म का ही एक अंग है अर्थात् क्षमा धर्म है। क्षमा के दो रूप है। एक व्यावहारिक तथा दूसरा मानसिक। लोक व्यवहार में क्षमा का अर्थ क्रोध न करना माना जाता हैं। हमको किसी पर क्रोध आता है और हम उसे प्रकट नहीं करते वा उसका प्रतिकार नहीं करते तो इसे क्षमा कहा जाता है। इसी प्रकार कोई हमारे ऊपर क्रोधित हो जाये तो हम उससे क्षमा मांग लेते है। इस दृष्टि से क्षमा को क्रोध का विपर्यय मान लिया गया है। अर्थात क्रोध का निरोध क्षमा है।

यह क्षमा की निषेधात्मक परिभाषा है। परन्तु वास्तव में क्षमा-धर्म निषेधात्मक नहीं। इसका प्रमाण यह है कि मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दस लक्षणों में अक्रोध का नाम भी आता है। यदि अक्रोध को ही क्षमा माना जाता तो इसका अलग उल्लेख नहीं किया जाता। तात्पर्य यह है कि क्षमा मन का स्वभाव है। क्षमावान मनुष्य वह होता है जिसके मन में किसी के प्रति द्वेष या वैर की भावना ही नहीं होती। वह समदर्शी होता है। उसकी क्षमा भावना देश, काल तथा परिस्थिति से परे होती है।

क्षमा को वीर का भूषण भी कहा गया है (क्षमा वीरस्य भूषणम्)। इसका अर्थ यह है कि वास्तविक क्षमा का गुण उसी में हो सकता है जो निर्भय हो। यदि हमारे ऊपर कोई अत्याचार करे और वह इतना बलवान हो कि हम प्रतिकार न कर सकें, और चुप रह जायें तो इसे क्षमा नहीं कह सकते।

सूत्र कहता है कि जो मनुष्य क्षमा के योग्य हों, उन्हें सताना नहीं चाहिए, अर्थात उन्हें किसी प्रकार का दंड नहीं देना चाहिए। प्रश्न होता है कि क्षमा के योग्य किन्हें माना जाये। अनेक भूलें, गलतियां, अपराध, पाप या नुकसान अनजाने में हो जाते हैं, या किसी विशेष परिस्थिति की विवशता से हो जाते हैं। बच्चे अक्सर ऐसा काम कर बैठते हैं जो क्रोध उत्पन्न करते हैं। किसी के हाथ से कोई चीज गिर जाये तो उस पर भी क्रोध आता है। मूर्ख आदमी तो मूर्खता किया ही करता है। भूख से तड़पता आदमी रोटी चुराता है या छीन लेता हैं। ये सारे काम क्षमा करने योग्य होते हैं। कोई मनुष्य अपराध कर बैठता है, पर बाद में पछताता है। वह भी क्षमा के योग्य होता है। गलती या नुकसान या अपराध करने वाले की आयु, संस्कार आदि को भी देखा जाता है। कानून में कुछ किस्म के अपराधियों को क्षमा करने की बजाय सताया जाये, या दंड दिया जाये तो इसका उल्टा असर होता है। इसलिए जो क्षमा का पात्र हो, उसके साथ कोमल व्यवहार करना चाहिए।

अपमान अकेले में भी किया जाता है और दूसरे लोगों के सामने भी। यह दूसरी तरह का अपमान और भी बुरा होता है क्योंकि अपमानित जन को लोग हीन समझने लगते है। ज्यादातर अपमान तो बड़े लोग छोटे लोगों का करते हैं क्योंकि छोटा आदमी जवाव नहीं दे सकता।

अपमान से मनुष्य के आत्मसम्मान को ठेस लगती है। अगर वह निर्वल है या लाचार है तो अपमान को पी जाता है, पर उसके मन में अपमान करने वाले के प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है। वदले की भावना भी पैदा हो सकती है।

जिन लोगों का चरित्र निष्कलंक होता है वे दुर्जनों के अपमान की परवाह नहीं करते। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण का अपमान किया था पर उन्होंने उसे मूर्ख समझ कर उपेक्षा कर दी। शिशुपाल ने उन पर गालियों की बौछार की, तो सौ गालियां सुनने के वाद उन्होंने उसका सिर काट दिया।

रावण ने अपने छोटे भाई विभीषण का अपमान किया तो वह उसे छोड़कर राम की शरण में चला गया।

औरंगजेव ने भरे दरवार में शिवाजी का अपमान किया तो उसने क्रोध में आकर तलवार खींच ली, पर अवसर को समझकर शांत हो गया, वरना अनर्थ हो जाता।

इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि अपमान का परिणाम कभी-कभी वहुत भयंकर हो जाता है।

इसीलिए यह सूत्र कहता है कि किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। या दूसरे शब्दों में किसी की वेइज्जती नहीं करनी चाहिए। किसी में कोई दोप हो, या उसने कोई गलती की हो तो उसे भलमनसाहत से समझाना चाहिए। इससे वह खुद ही शर्म महसूस करेगा। अपने से छोटे अथवा अधीन जनों का बार-वार अपमान करने से वे ढीठ हो जाते है और पीठ पीछे उसे गालियां देते हैं या उसका मखौल उड़ाते है।

अन्धे को अन्धा, काणे को काणा, लंगड़े को लंगड़ा कहना भी अपमान-जनक है। हमारे यहां तो अंधे को सूरदास इसीलिए कहते है कि वह अपने को हीन न समझे।

क्षन्तव्यमिति पुरुषं न बाधेत ॥१९८॥

क्षमा करने योग्य मनुष्य को मत सताओ ॥१९८॥

आवश्यकता से अधिक धन-सम्पत्ति हो, उन्हें कर्त्तव्य समझकर दान देना चाहिए। परन्तु अक्सर देखा गया है कि जब किसी जनहितकारी कार्य के लिए या किसी स्वयंसेवी संस्था के लिए चंदा मांगने किसी धनिक के पास जाते हैं तो वह याचकों से अच्छा वर्ताव नहीं करता, और बहुत अनुनय विनय के बाद कुछ देता भी है तो ऐसे ढंग से देता है, मानों उसे बहुत क्लेश हो रहा हो।

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥२०२॥

आज्ञा ऐश्वर्य का फल होती है ॥२०२॥

आज्ञा उसी की मानी जाती है जिसके पास ऐश्वर्य हो। ऐश्वर्य शब्द का प्रयोग शक्ति, प्रभुता, धन-सम्पत्ति, तथा महिमा के अर्थों में किया जाता है। शक्ति आध्यात्मिक, बौद्धिक, चारित्रिक और ज्ञान की हो सकती है और भौतिक भी। शासनाधिकार, न्यायाधिकार तथा धन-सम्पत्ति भौतिक शक्तियां हैं। आज्ञा उसी की मानी जाती है जिसमें ऐश्वर्य अर्थात् शक्ति हो। ऐश्वर्यवान मनुष्य आज्ञा देने के अधिकारी होते हैं। इस कारण उनकी आज्ञा मानी जाती है। राज्य प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न होता है, सो उसकी आज्ञाओं का पालन करना होता है।

महदैश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिमान् विनश्यति ॥२०३॥

धृति रहित मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करके भी नष्ट हो जाता है ॥२०३॥

मनुस्मृति के अनुसार धृति धर्म का एक लक्षण है। यह शब्द धृ-धारणे धातु से व्युत्पन्न है। धर्म शब्द भी इसी धातु से बना है। धृति का अर्थ है धारणा-शक्ति। जिस मनुष्य का चित्त ऐहिक पदार्थों से विरक्त होकर स्थिर हो जाता है, उसे धृतिमान कहते हैं। गीता में इसी को स्थितप्रज्ञ कहा है। अधृतिमान वह होता है जिसका चित्त स्थिर नहीं होता, डांवाडोल रहता है। वह किसी निश्चय पर नहीं पहुंच सकता। ऐसे मनुष्य को चाहे जितना ऐश्वर्य प्राप्त हो जाये, वह अन्त में ऐश्वर्यहीन हो जाता है और अपना नाश कर बैठता है। कारण यह है कि चित्त की अस्थिरता के कारण वह भौतिक तथा सांसारिक सुख-भोगों में लिप्त हो जाता है। वह अपने ऐश्वर्य के मद में मतवाला हो जाता है और अपने ऐश्वर्य का दुरुपयोग करता है। उसका स्वभाव बंदर के स्वभाव की तरह चंचल हो जाता है। ऐश्वर्य उसके विनाश का कारण बन जाता है। कहा है 'विपदन्ताह्यविनीत संपदः' अर्थात् अविनीत नर अन्त में विपदा-ग्रस्त हो जाता है।

विदुरनीति कहती है :

भर्त्राधिकं रहस्युक्तं वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धयः ।।१९९।।

निर्बुद्धि अर्थात बुद्धिहीन जन स्वामी की कही हुई गुप्त बातें प्रकट करने को लालायित रहते हैं ।।१९९।।

एकसौ-चौबीसवें सूत्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है कि कुछ लोगों की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि वे किसी गुप्त बात को पचा नहीं सकते। उसे प्रकट करने को आतुर रहते है। उस व्याख्या में यूनानी मिथक के एक राजा मिदास का आख्यान भी वर्णित है।

वह व्याख्या इस सूत्र पर भी लागू होती है। अभिप्राय यह है कि रहस्य की कोई भी बात ऐसे ओछे या मूर्ख लोगों को नहीं बतानी चाहिए जो उसे प्रकट करदें।

अनुरागस्तु फलेन सूच्यते ।।२००।।

अनुराग का पता फल से लगता है ।।२००।।

प्रेम, प्रीति, स्नेह आदि का संबंध अनुराग कहलाता है। जिससे प्रेम, प्रीति या स्नेह हो, उसके प्रति अनुराग होता है। यह अनुराग तभी वास्तविक होता है जब कार्यरूप में परिणत हो। जब तक अनुराग का कोई फल नजर न आये तब तक वह केवल मौखिक प्रदर्शन रहता है। अनुराग के पात्र को उपहार आदि देना, समय पर उसकी सहायता करना, अपने को जोखिम में डालकर भी उसे बचाना इत्यादि अनुराग के फल है। इनके बिना अनुराग थोथा और दिखावटी होता है।

दातव्यमपि बालिशः क्लेशेन परिदास्यति ।।२०१।।

मूढ नर दातव्य अर्थात दी जाने वाली वस्तु को भी क्लेश से देता है ।।२०१।।

जो वस्तु किसी को दी जाने वाली हो, उसे आदर और सम्मानपूर्वक तथा प्रसन्न होकर देनी चाहिए। परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि कोई वस्तु किसी को देने में उनके मन में क्लेश होता है। ऊपर से तो वे देने का अभिनय करते हैं, पर भीतर से खुश नहीं होते। इसका कारण यह है कि उनके मन में ईर्ष्या की भावना होती है।

दान भी दातव्य पदार्थ है। धर्म तथा समाज में दान का बहुत महत्व है। दान के बल पर ही समाज कल्याण के अनेक कार्य होते हैं तथा स्वयंसेवी संस्थाएं चलती हैं। इस प्रकार के दान को आजकल चंदा कहते हैं। जिन लोगों के पास

दुर्जनों की प्रवृत्ति नीच होती है। कहावत है: 'दुष्ट संग जनि देय विधाता, या सों भला नरक का वासा'।

तुलसीदास ने कहा है:

सुनहु असंतन केरि सुभाऊ ।
भूलेहु संगत करिय न काऊ ।।
तिन कर संग-सदा दुखदाई ।
जिमि कपिलही घाले हरिहाई ।।

दुर्जनों की संगति भूल कर भी नहीं करनी चाहिए। उनका संग वैसा ही दुख देता है जैसा कसाई गाय को।

सज्जन और दुर्जन की तुलना करते हुए तुलसी ने लिखा है:

बन्दउं संत असज्जन चरना ।
दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ।।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ।
मिलत एक दारुन दुख देहीं ।।

सज्जन और दुर्जन दोनों दुख देने वाले होते हैं, परन्तु ये दुख अलग-अलग तरह के होते हैं। सज्जन से बिछड़ते समय ऐसा लगता है मानो जान निकल रही हो। दुर्जन जब मिलता है तब घोर दुख देता है।

विदुर नीति कहती है:

असन्त्यागात् पाप कृतामपापांस्तुल्यों दंडः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्र दह्यते मिश्रभावात्तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात ।।

दुर्जनों को न छोड़ने तथा उनके साथ रहने से सज्जन भी उन्हीं के समान दण्ड पाते हैं। जैसे सूखी लकड़ी के साथ गीली लकड़ी भी जल जाती है। इसलिए दुर्जनों से मेल-मिलाप नहीं रखना चाहिए।

अनसूयार्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ।।

द्वेष न करना, सरलता, पवित्रता, सन्तोष, मधुर भाषण, शान्ति, सत्यता तथा स्थिरता (ये गुण) दुर्जनों में नहीं होते।

इसका अर्थ यह है कि दुर्जन दूसरों से द्वेष करते हैं, कुटिल और मन के मैले होते हैं। उन्हें किसी बात पर सन्तोष नहीं होता, अर्थात् सदा बेचैन रहते हैं। उनकी बोली कडुवी होती है। उनका चित्त शान्त नहीं होता। वे झूठ बोलते हैं और उनका स्वभाव चंचल होता है।

ऐश्वर्यमद पापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नाऽपतित्वा विबुध्यते ।।

ऐश्वर्य का नशा मदिरा आदि के नशों से भी बुरा है। ऐश्वर्य के मद से मतवाला नष्ट-भ्रष्ट हुए विना होश में नहीं आता।

धृत्या जयति रोगान् ।।२०४।।

धृति से रोगों पर विजय प्राप्त होती हैं ।।२०४।।

जब मनुष्य का चित्त वैराग्य में स्थिर हो जाता है, तब उसे मानसिक शान्ति प्राप्त हो जाती है। उसे कोई चिन्ता नहीं सताती। इन्द्रियां भी उसके वश में हो जाती हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान भी इस बात को मानने लगा है कि रोगों के दो कारण होते हैं : मानसिक तथा शारीरिक। मन का सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। मानसिक चिन्ताएं और तनाव शरीर के स्नायुमंडल पर बुरा प्रभाव डालते हैं जिससे शरीर के सारे यंत्र अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। डाक्टरों का कहना है कि अधिकतर हृदयरोगी मानसिक तनाव के शिकार होते हैं। मानसिक तनाव कैंसर का भी एक कारण बन जाता है।

इसलिए जो मनुष्य धृति की साधना कर लेता है वह मन की शांति तथा इन्द्रियों के संयम के कारण नीरोग रहता है।

नास्त्यधृतेरैहिकामुष्मिकम ।।२०५।।

अधृत मनुष्य का न यह लोक होता और न परलोक ।।२०५।।

धृतिहीन मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थ नहीं कर सकता क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर ही नहीं रहती। इस कारण वह न तो इस लोक में भौतिक उन्नति कर सकता है और न ऐसे शुभ कर्म कर सकता है जिनसे परलोक में सुख प्राप्त हो।

न दुर्जनैः सह संसर्गः कर्त्तव्यः ।।२०६।।

दुर्जनों के साथ संसर्ग नहीं करना चाहिए ।।२०६।।

कोई अच्छी चीज किसी बुरी चीज से मिला दी जाये तो उसमें खराबी पैदा हो जाती है। इसे संसर्ग दोष कहते हैं। यही बात दुर्जनों के संसर्ग से होती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
वहुशाखाह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।

व्यवसाय-बुद्धि एक ही होती है । जिनमें यह बुद्धि नहीं होती, उनकी बुद्धि अनेक शाखाओं वाली तथा अनंत होती है ।

जिस मनुष्य में व्यवसाय-बुद्धि नहीं होती, वह तरह-तरह की बातें सोचता रहता है और किसी निश्चय पर नहीं पहुंच पाता ।

मितभोजनंस्वास्थ्यम् ।।२०९।।

पथ्यमप्यपथ्याजीर्णेनाश्नीयात् ।।२१०।।

जीर्ण भोजिनं व्याधिर्नोपसर्पति ।।२११।।

जीर्णशरीरे वर्धमानं व्याधि नोपश्येत ।।२१२।।

अजीर्णे भोजनं दुःखम् ।।२१३।।

शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः ।।२१४।।

परिमित भोजन स्वास्थ्यकारक होता है ।।२०९।।

अपथ्य से अजीर्ण हो गया हो तो पथ्य भोजन भी नहीं करे ।।२१०।।

जीर्ण भोजी के पास कोई रोग नहीं भटकता ।।२११।।

शरीर जीर्ण हो गया हो तो बढ़ती हुई व्याधि की उपेक्षा न करे ।।२१२।।

अजीर्ण में भोजन करना दुखदायी होता है ।।२१३।।

व्याधि शत्रु से भी अधिक हानिकारक होती है ।।२१४।।

ये छहों सूत्र भोजन, स्वास्थ्य तथा आरोग्य से सम्वन्ध रखते हैं । इनमें चार शब्द आये हैं : जीर्ण, अजीर्ण, पथ्य और अपथ्य ।

जीर्ण का शाब्दिक अर्थ है टूटा-फूटा या पुराना । भोजन के प्रसंग में जीर्ण का अर्थ है पचा हुआ । विना पचा हुआ भोजन अजीर्ण होता है । अजीर्ण रोग वदहजमी को कहते हैं । शरीर के प्रसंग में जीर्ण का अर्थ है वृद्ध या रोग-जर्जर ।

पथ्य उस भोजन को कहते हैं जो किसी रोगी को उसकी दशा के अनुसार दिया जाता है । जो भोजन रोगी को नुकसान पहुंचाये वह अपथ्य होता है ।

चाणक्य नीति में दुर्जनों से बचने का उपाय बताया गया है :

खलानां कंटकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानह् मुख भंगो वा दूरतैव विसर्जनम् ।।

खलों अर्थात् दुर्जनों तथा कांटों के प्रतिकार के दो ही उपाय हैं । या तो उनका मुख जूते से कुचल दिया जाये, या उनसे बच कर दूर रहा जाये ।

शौण्ड हस्तगतं पयो अप्यवमन्येत ।।२०७।।

कलाल के हाथ में गये हुए दूध की भी अवज्ञा होती है ।।२०७।।

यह पूर्ववर्ती सूत्र में कहे गये संसर्ग दोष का ही दृष्टान्त है ।

अब तो वैध शराब बनाने और बेचने का धंधा बड़े-बड़े उद्योगपतियों और दुकानदारों के हाथों में है और सरकार भी यह उद्योग चलाती है । अवैध शराब बनाने और बेचने का धंधा शहर-शहर और गांव-गांव में चोरी छिपे होता है । वैध और अवैध, दोनों तरह की शराबें बनाने के धंधे हमारे देश में खूब जोरों से रहे हैं । लेकिन आज से पहले के युग में यह धंधा कलाल नामक जाति के लोगों की मोनोपोली था । कलाल और शराब का चोली–दामन का रिश्ता था । इसलिए अगर कोई कलाल शराब की बजाय दूध का घड़ा लेकर आता तो भी लोगों को विश्वास नहीं होता था कि उसमें दूध है । कलाल के हाथ में पड़कर बेचारे दूध की भी अवज्ञा होती थी । इसी प्रकार नीच वस्तु के संसर्ग से उत्तम वस्तु भी नीच बन जाती है और दुर्जन के संसर्ग से सज्जन के नाम पर भी बट्टा लग जाता है । कहावत है : 'काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, काजर की एक रेख लागै पर लागै है' । काजल की कोठरी में जाने वाले के कपड़ों पर कालोंच लगे बिना नहीं रहती । दुर्जन भी काजल की कोठरी के समान होते हैं ।

कार्यसंकटष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धि ।।२०८।।

किसी कार्य में संकट अर्थात् विघ्न उत्पन्न होने पर कार्य-अकार्य का विवेक करने वाली बुद्धि से ही उद्देश्य प्राप्त होता है ।।२०८।।

इस सूत्र में बुद्धि के आगे व्यवसायिनी का विशेषण लगाया गया है । इसका अर्थ यह है कि संकट के समय बुद्धि ऐसी होनी चाहिए जो यह निश्चय कर सके कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए ।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है :

का राज्य दान कर दिया। राजा हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को सर्वस्व दान कर दिया और डोम के घर चाकरी की। राजा रन्तिदेव ने भी इसी प्रकार अपना सारा राजपाट दान कर दिया था। ये दृष्टान्त तो आदर्श रूप है और अलौकिक है। लोक व्यवहार में दान की मर्यादा यही है कि अपनी धन-शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक दान करना चाहिए। चाणक्य नीति कहती है :

देयं भोज्य धनं सुकृतिभिः नो संचयस्तस्य व।
श्रीकर्णश्च दलेश्च विक्रमपतेः अद्यापि कीर्तिः स्थिता ॥
अस्माकं मधुदानं भोग रहितं नष्ट चितात्संचितं
निर्वाणादिति नष्ट पाद युगलं दार्षन्य हो माक्षिकाः ॥

पुण्यशील जनों को चाँहिए कि आवश्यकता से अधिक बचा हुआ धन दान किया करें। दानशीलता के ही कारण कर्ण, बलि तथा विक्रमादित्य की कीर्ति कायम है। मधुमक्खी अपने दोनों पांव रगड़कर कहती है : मैंने दान तथा भोग से रहित जिस मधु का वहुत काल तक संचय किया उसे क्षण भर में ही कोई दूसरा ले गया। मेरा भण्डार नष्ट हो गया।

पटुतरे तृष्णापरे सुलभमति सन्धानम् ॥२१६॥

तृष्णया मतिश्छाद्यते ॥२१७॥

चतुर तृष्णालु लोग दूसरे लोगों के साथ आसानी से खूब मेल कर लेते हैं ॥२१६॥

तृष्णा मनुष्य की बुद्धि को आच्छादित कर देती है ॥२१७॥

तृष्णा का शाब्दिक अर्थ प्यास है परन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ होता है उत्कट इच्छा। जिस प्रकार प्यासा आदमी पानी के लिए तड़पता है, उसी तरह तृष्णालु मनुष्य अपनी इच्छा के पीछे दीवाना हो जाता है। प्यास तो पानी पीने से बुझ जाती है, परन्तु तृष्णा इच्छित वस्तु प्राप्त होने पर शान्त होने की बजाय और वढ़ जाती है।

भर्तृहरि ने कहा है :

उत्खातं निशिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातिवो
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो रत्नेन संतोषिताः।
मंत्राराधनंतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः।
प्राप्तः काण वराट कोऽपि न मया तृष्णाऽधुना मुंचमाम् ॥

मित भोजन का अर्थ है केवल उतना भोजन जितना शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हो। आरोग्य के लिए चरक का सूत्र है :

हितभुक, मितभुक, ऋतभुक। अर्थात् जो मनुष्य स्वास्थ्यप्रद, परिमित तथा प्राकृतिक भोजन करता है वह नीरोग रहता है।

अपथ्य अर्थात् न पचने वाले भोजन से अजीर्ण हो गया हो तो रोगी को पथ्य भोजन भी नहीं देना चाहिए, अर्थात् उसे अनशन करना चाहिए। अनशन से अजीर्ण मिट जाता है।

जो मनुष्य ऐसा भोजन करता है जो पच जाता हो, अर्थात् जो हित, मित तथा ऋत हो, उसे कोई रोग नहीं होता।

दानं निधानमनुगामि ॥२१५॥

दान अपनी निधि के अनुसार होना चाहिए ॥२१५॥

दान किसे कहते है, इसका क्या महत्व है तथा यह कितनी तरह का होता है, इन बातों के बारे में लिखा जा चुका है।

मौलिक रूप में दान करना एक भावात्मक क्रिया है। दान की भावना सभी मनुष्यों में होती है, चाहे धनवान हो या निर्धन। निर्धन मनुष्य के दान में त्याग होता है क्योंकि जितना वह दान करता है उतने ही अंश में उसे अपनी आवश्यकताओं में कमी करनी पड़ती है। धनवानों को दान देने में कोई तकलीफ नहीं होती, क्योंकि उनके पास फालतू धन होता है। इसलिए देखा जाये तो चाणक्य का सूत्र यह धनवानों को ही लक्ष्य करके रचा गया है। इसका अर्थ यह है कि जितना अधिक धन हो, उतना हीं अधिक दान करना चाहिए। निधि धन-संपत्ति का ही नाम है। नीति वचन है :

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥
धनेन किं यो न ददाति नाऽश्नुते ॥

दान और उपभोग से रहित धन से यदि लोग धनी कहाते है तो हम भी उनके धन से धनी क्यों न कहलायें।

जिस धन का न तो दान किया जाता है न उपभोग किया जाता है, वह किस काम का ?

पुराणों में दानशीलता के कई दृष्टान्त हैं जिनमें दानकर्ता को घोर दुख उठाने पड़े। राजा वलि ने वामन रूपी विष्णु के छलावे में आकर तीनों लोकों

अपव्यय होता है क्योंकि ध्यान बंटा रहता है और काफी भाग-दौड़ करनी पड़ती है। सबसे अधिक फलदायक कार्य वही होता है जिसके लिए देश, काल और परिस्थिति अनुकूल हों।

इस सूत्र को राजधर्म के प्रकरण में भी लागू किया जा सकता है। किसी देश की सरकार के सामने जनहित अथवा जनकल्याण के अनेक कार्य होते हैं। ये सारे काम साथ-साथ चलते हैं और अन्योन्याश्रित होते हैं, अर्थात् एक काम का प्रभाव दूसरे काम पर पड़ता है और सबका सम्पूर्ण प्रभाव राष्ट्र पर पड़ता है। अक्सर ऐसा होता है कि सरकार निश्चय नहीं कर पाती कि कौनसा काम सबसे अधिक फलदायक है, अर्थात् ऐसा है जिसकी सफलता पर अन्य कार्यों की सफलता निर्भर करती है। जैसे बिजली के तापघर बनाने के लिए कोयला या तेल की जरूरत होती है, इन ईंधनों को बिजलीघरों तक पहुंचाने के लिए रेलों की जरूरत होती है। सरकार ने बिजलीघर तो बना लिए पर कोयले की कमी पड़ गयी या कोयले को ढोने के लिए रेलों का प्रबंध न हुआ तो बिजलीघर बेकार हो जाता है।

हमारे देश की सरकार के सामने अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। गरीबी मिटाना, बेरोजगारी दूर करना, यातायात और परिवहन के साधनों का तथा शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सेवाओं का विस्तार करना, इत्यादि। लेकिन ये सारे कार्य गड़बड़ा रहे हैं क्योंकि सरकार के सारे ढांचे में भ्रष्टाचार व्याप्त है। इस भ्रष्टाचार ने समाज को भी भ्रष्ट कर दिया है और राष्ट्र के चरित्र का पतन हुआ है। इसलिए आज सबसे अधिक फलदायक कोई कार्य है तो यह है कि भ्रष्टाचार को कम किया जाये और राष्ट्र के चरित्र को सुधारा जाये। वैसे भ्रष्टाचार का सर्वथा उन्मूलन तो असंभव है क्योंकि यह भी एक ऐसी कुप्रवृत्ति है जो युग-युगों से चली आ रही है। हरेक आदमी धर्म–परायण, नीति–परायण और चरित्रवान नहीं हो सकता। परन्तु इस पर नियंत्रण किया जा सकता है। परन्तु हालत यह है कि इस पर नियंत्रण करना तो दूर रहा, इसकी उपेक्षा की जा रही है और राजनीति के क्षेत्र में तो इसे बढ़ावा भी दिया जा रहा है। इसके नतीजे सामने आ रहे हैं। इसी भ्रष्टाचार के कारण हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था डांवाडोल हो रही है और आर्थिक दशा शोचनीय हो रही है। इसलिए जब तक भ्रष्टाचार पर नियंत्रण का उत्तम फलदायक कार्य सबसे पहले नहीं किया जाता, तब तक हालत दिन पर दिन गिरती चली जायेगी।

स्वयमेवावस्कन्नं कार्यं निरीक्षेत ॥११६॥

धन की खोज में मैंने धरती खोज डाली, पर्वतों से प्राप्त अनेक धातुएं भस्म कर डालीं, रत्नों के लिए नदियों के पति समुद्र को भी पार कर लिया, मन्त्रों को सिद्ध करने के लिए श्मशान में रातें वितायीं, परन्तु फिर भी एक कानी कोडी भी हाथ नहीं लगी। अरी तृष्णा अब तो तू मेरा पीछा छोड़।

जिस मनुष्य की तृष्णा इतनी वलवान हो और साथ में वह चतुर भी हो तो अपना मतलब गांठने के लिए वह दूसरे लोगों को उल्लू वना कर उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। लोग उसके झांसे में आ जाते हैं।

तृष्णा मनुष्य की वुद्धि को किस प्रकार आच्छादित कर देती है इसके उदाहरण रोज सामने आते रहते है। लोगों को धन लाभ तथा सोने की तृष्णा का लाभ उठाकर लोग कभी साधुओं के वेश में, कभी और किसी प्रकार से लोगों को ठग लेते हैं। कोई सोने के आभूषणों को दुगना करने का, कोई नोटों को दुगुना करने का चकमा देकर गायव हो जाते हैं।

कुछ योग-भ्रष्ट साधु-सन्यासी अपनी सिद्धियों के चमत्कार दिखाकर चेलों और भक्तों की मण्डलियां जमा कर लेते हैं और अपने को पुजवाते हैं।

ऐसे ठगों और साधु-सन्यासियों की चपेट में वे ही लोग आते हैं जिनकी वुद्धि पर तृष्णा का पर्दा पड़ा हुआ होता है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है :

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ।

हम जीर्ण अर्थात् शरीर से वृद्ध और अशक्त हो गये, परन्तु हमारी तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, अर्थात् वैसी की वैसी बनी रही।

कार्यवहुत्वे वहुफलमायतिकं कुर्यात ॥२१८॥

वहुत से कार्य हों तो सबसे अधिक फल देने वाला कार्य करना चाहिए ॥२१८॥

मनुष्य के जीवन में कई वार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं कि एक साथ कई काम सामने आ जाते हैं। उस समय मनुष्य इस ऊहापोह में पड़ जाता है कि कौनसा काम करें, कौनसा नहीं करें या कौनसा सबसे पहले करें। ऐसी अवस्था में गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार कर यह निश्चित करना चाहिए कि कौनसा काम ऐसा है जो सबसे अधिक फल अथवा उत्तम परिणाम देने वाला हो। उसी काम को प्राथमिकता देनी चाहिए। इससे चित्त की अस्थिरता दूर हो जाती है और जब कार्य का फल सामने आने लगता है तब आगे काम करने का उत्साह वढ़ता है। कई काम एक साथ हाथ में लेने से शक्ति और समय का

शक्यो वारायितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नगेन्द्रो निशितांकुशेन समदा दंडेन गो गर्दभो ।
व्याधिर्भेषज संग्रहेश्च विविधैः मंत्र प्रयोगैर्विषम्
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्र विहितं मूर्खस्यनास्त्यौषम् ।।

अग्नि का निवारण जल से होता है, धूप का छतरी से, मदमत्त हाथी का अंकुश से, बैल और गधे का डंडे से, रोगों का औषधियों से, और विष का विविध मंत्रों के प्रयोग से, परन्तु मूर्खता की कोई औषधि नहीं ।

चाणक्य नीति कहती है : 'मूर्खस्य परिहर्त्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः', अर्थात् मूर्ख को दो पांव वाला जानवर समझकर त्याग देना चाहिए ।

धर्मेण धार्यते लोकः ।।२२५।।

प्रेतमपि धर्माअधर्मावनुगच्छतः ।।२२६।।

धर्म से सारा संसार टिका हुआ है ।।२२५।।

मनुष्य की मृत्यु के बाद भी धर्म और अधर्म उसकी प्रेतात्मा के पीछे लगे रहते हैं ।।२२६।।

प्रथम सूत्र (सुखस्य मूलं धर्मः) की व्याख्या में लिखा जा चुका है कि धर्म शब्द का क्या अर्थ है, इसकी क्या-क्या परिभाषाएं और लक्षण हैं, तथा विभिन्न परिस्थितियों में इसके कितने रूप बन जाते हैं । इस कारण इस सूत्र की व्याख्या करना पिष्टपेषण के समान होगा ।

पुराने चार्वाकों तथा आधुनिक भौतिकवादियों के सिवाय सब मानते हैं कि प्रत्येक शरीर में आत्मा होती है । इसके निकल जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है जिसे मृत्यु कहा जाता है । पुनर्जन्म में विश्वास करने वालों की मान्यता है कि आत्मा अजर और अमर है तथा बार-बार जन्म लेता रहता है, जब तक कि मोक्ष को प्राप्त न हो जाये ।

गीता में कहा है :

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरों को त्याग कर नये शरीरों को प्राप्त होता है ।

बिगड़ते हुए कार्य का स्वयं निरीक्षण करे ।।२१६।।

कोई काम बिगड़ता तब है जब उसमें कुछ त्रुटि रह गयी हो । यह त्रुटि कार्यकर्त्ता की खुद की गलती से रह सकती है और उस कार्य में लगे दूसरे लोगों की गलती से भी । गलती किसी की भी हो, कार्यकर्त्ता को स्वयं इसका निरीक्षण करना चाहिए । निरीक्षण करके पता लगाना चाहिए कि गलती किन कारणों से हुई और उसे सुधारने का क्या उपाय है । यदि वह स्वयं ऐसा नहीं करता और कार्य को दूसरों के भरोसे छोड़ देता है, तो कार्य विगड़ जाता है । फटे कपड़े को सिला नहीं जाये, तो वह फटता ही चला जाता है ।

मूर्खेषु साहसं नियतम् ।।२२०।।

मूर्खेषु विवादो न कर्त्तव्यः ।।२२१।।

मूर्खेषु मूर्खवत् कथयेत ।।२२२।।

आयसैरायसं छेद्यम् ।।२२३।।

नास्त्यधीमतः सखा ।।२२४।।

दुष्ट कर्म करना मूर्खों का स्वभाव होता है ।।२२०।।

मूर्ख के साथ विवाद नहीं करना चाहिए ।।२२१।।

मूर्ख के साथ मूर्ख के समान ही बातचीत करनी चाहिए ।।२२२।।

लोहा ही लोहे को काटता है ।।२२३।।

मूर्ख का कोई मित्र नहीं होता ।।२२४।।

ये पांचों सूत्र मूर्खों के बारे में हैं । भर्तृहरि ने कहा :

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन् पिवेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।

कदाचिदापि पर्यटंछशविषाणमासादयेत् न तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजन चित्त माराधयेत् ।।

यत्न करके वालू से तेल निकाल लिया जाये, प्यासा मनुष्य मृगमरीचिका के जल से प्यास बुझा ले, ढूंढने पर खरगोश का सींग भी मिल जाये, परन्तु किसी वस्तु पर टिके हुए मूर्ख के मन को उस वस्तु से हटाना असंभव है । तात्पर्य यह है कि जो वातें असंभव हैं वे संभव भले ही हो जायें, परन्तु मूर्ख को समझना असंभव है ।

दया शब्द के पर्यायवाची कई शब्द हैं, जैसे करुणा, कृपा, अनुकम्पा, रहम आदि, परन्तु इनकी व्यंज़नाओं में भेद है। जब किसी के कष्ट को देखकर हृदय द्रवित हो जाता है, तब करुणा उत्पन्न होती है। करुणा भावनात्मक और प्रतिक्रियात्मक होती है। यह स्थायी भी नहीं होती। भगवान बुद्ध ने करुणा को बहुत महत्व दिया है।

कृपा का प्रदर्शन ऊपर से नीचे की ओर होता है। यह भावनात्मक भी होती है और क्रियात्मक भी। बड़े लोग छोटे लोगों पर कृपा करते हैं और छोटे लोग बड़े लोगों से कृपा की याचना करते हैं। उर्दू में इसे मेहरबानी कहते हैं।

अनुकम्पा की भावना सहृदयता तथा सहानुभूति के रूप में प्रकट होती है। यह भी प्रतिक्रिया होती है।

इन सबकी तुलना में दया की परिभाषा बहुत व्यापक है। यह स्थायी भावना है, अर्थात जिस मनुष्य के हृदय में दया निवास करती है, वह किसी का अपकार नहीं करता और प्राणीमात्र को समदृष्टि से देखता है। दया के विषय में नीतिशास्त्र का वचन है :

यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते।
इच्छा भूमि सुरश्रेष्ठ सा दया परिकीर्तिता ॥

कृपा दयानुकंपा च करुणानुग्रहस्तथा ।
हितेच्छा दुःखहानेच्छा सा दया कथ्यते बुधैः ॥

मनुष्य के हृदय में यत्न करके भी दूसरों के कष्ट दूर करने की इच्छा उत्पन्न होती है, वह दया कहलाती, है। कृपा, दया, अनुकम्पा, करुणा, अनुग्रह और परहित तथा परदुख हरण की जो इच्छा होती है, उसे बुद्धिमान जन दया कहते हैं।

इसका यह निष्कर्ष है कि दया में करुणा, कृपा, अनुकम्पा, अनुग्रह आदि सारी भावनाओं तथा क्रियाओं का समावेश हो जाता है। इसलिए दयालु मनुष्य पूर्ण धर्मात्मा बन जाता है।

धर्मात्मा मनुष्य सदा सत्य का पालन करता है और दानशील होता है। सत्य तथा दान के बारे में पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है।

धर्मेण जयति लोकान् ॥२२९॥

मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति ॥२३०॥

शरीर छोड़ने के बाद आत्मा प्रेतात्मा हो जाता है और इसी को प्रेत कहते हैं। प्रेतात्मा के कोई शरीर नहीं होता। ऐसी मान्यता है कि एक शरीर छोड़ने के बाद आत्मा का तुरन्त पुनर्जन्म नहीं होता। प्रेतात्मा अल्प अथवा दीर्घकाल तक भटकता रहता है। यह अवधि उसके कर्मविपाक के अनुसार होती है, अर्थात् यदि उसने अच्छे कार्य किये हैं तो जल्दी अच्छी योनि में पुनर्जन्म हो जाता है, और पाप किये हैं तो देर में होता है। दुष्टों की प्रेतात्माएं अनिष्ट भी करती रहती हैं। प्रेतात्माओं के अस्तित्व को अब कुछ वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं।

शरीर से निकलने के बाद प्रेतात्मा साफ की हुई स्लेट की तरह नहीं होता। देहधारी के रूप में उसने जो धर्म या अधर्म अथवा पुण्य या पाप किये हैं, वह उसके साथ लगे रहते हैं और इन्हीं के फल को भोगने के लिए वह दूसरी देह धारण करता है। कर्म-विपाक का यही सिद्धांत है।

कहा है :

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहेद्वार सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

धन जमीन में गडा रह जाता है, गायें गोशाला में रह जाती हैं, पत्नी घर के दरवाजे में रह जाती है और बंधु-बांधव मृतक की देह को चिता में भस्म करके श्मशान में रह जाते हैं। परलोक के मार्ग में जीव अर्थात आत्मा के साथ केवल उसका धर्म ही जाता है।

दया धर्मस्य जन्मभूमि ॥२२७॥
धर्ममूले सत्यदाने ॥२२८॥
दया धर्म की जन्मभूमि है ॥२२७॥
धर्म में सत्य और दान का मूल है ॥२२८॥

इस सूत्र में दया को धर्म की जन्मभूमि कहा है। इसका अर्थ यह है कि दया से धर्म उत्पन्न होता है, अर्थात जिस मनुष्य के हृदय में दया है वह अपने-आप धर्मिष्ठ हो जाता है।

तुलसीदास ने कहा है :

दया धर्म को मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छांडिये जब लगि घट में प्रान ॥

अवज्ञा और अवहेलना हो रही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि लोगों में पाप कर्मों की तथा दुराचार की प्रवृति बढ़ रही है। पाप शब्द का अर्थ ही बदल गया है।

लोके प्रशस्तः सः मतिमान ।।२३२।।

जो मनुष्य लोक में प्रशंसा के योग्य होता है वह बुद्धिमान होता है ।।२३२।।

दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि जो बुद्धिमान होता है वह लोक में प्रशंसा का पात्र होता हैं। कहा है : 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' अर्थात विद्वान की सब जगह पूजा होती है।

इसका उल्टा अर्थ यह लगाया जा सकता है कि जिसकी प्रशंसा नहीं की जाती वह बुद्धिमान या विद्वान नहीं होता। यदि किसी बुद्धिमान को प्रतिष्ठा नहीं दी जाती तो उसमें दोष उस देश या समाज का है जिसमें वह रहता है। भर्तृहरि ने कहा है : 'कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षकाहिमणयोर्यैरर्धतः पातिताः' अर्थात रत्नों के मूल्य को कम आंकने वाला कुपरीक्षक ही निन्दनीय होता है।

आजकल ऐसा ही व्यवहार देखने में आ रहा है। विद्वानों, गुणवानों, बुद्धिमानों की कुछ लोग भले ही प्रतिष्ठा करते हों, परन्तु ज्यादातर प्रशंसा धन-वानों तथा सत्तावानों की होती है। सार्वजनिक समारोहों में भी उन्हीं को श्रेष्ठ आसन पर बिठाया जाता है।

आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धि ।।२३३।।

अधर्म बुद्धि आत्म विनाश की सूचक होती है ।।२३३।।

जब मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह धर्म-विरुद्ध आचरण करने लगता है, तब समझना चाहिए कि वह अपना विनाश करने पर उतारू है।

इस विषय में दूसरा मत यह है कि जब मनुष्य का विनाश होने वाला होता है तब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। दो उक्तियां हैं जिनमें एक तो बहुत प्रचलित है :

विनाशकाले विपरीत बुद्धिः ।।
प्रत्यासन्न विपत्ति मूढ मनसां प्रायोः मतिः क्षीयते ।।

विनाश का समय आता है तब मनुष्य की बुद्धि विपरीत हो जाती है।

विपत्ति को सामने आते देखकर मूर्खजनों की मति बहुधा कमजोर पड़ जाती है।

धर्माद्विपरीतं पापं यत्र प्रसज्यते तत्र धर्मविमतिर्महती

प्रसज्येत ॥२३१॥

धर्म से संसार को जीता जा सकता है ॥२२९॥

धर्मिष्ठ मनुष्य की मृत्यु भी रक्षा करती है ॥२३०॥

जहां धर्म के विपरीत पाप प्रबल हो जाता है, वहां धर्म की घोर अवज्ञा होने लगती है ॥२३१॥

धर्म सारे जगत को धारण करता है, इसलिए धर्म को धारण करने वाला सारे जगत को जीत सकता है। जीतने का अर्थ यह नहीं कि किसी देश या राष्ट्र या जनसमुदाय को बल-प्रयोग से अपने अधीन कर लिया जाये। धर्म की विजय मनुष्यों का हृदय जीतने वाली होती है। महावीर, बुद्ध, और येशु (ईसा मसीह) ने कोई युद्ध नहीं किये, केवल धर्म का प्रचार-प्रसार किया और देश देशान्तर के लोग अनुयायी बन गये। धर्म-विजय का ऐसा ही उदाहरण सम्राट अशोक का है। तात्पर्य यह है कि धर्मानुसार आचरण करने वाला सब जगह पूज्य होता है और उसका कोई शत्रु नहीं होता। सैनिक विजय टिकाऊ नहीं होती और उसका आधार बल-प्रयोग होता है। धर्म की विजय का प्रभाव व्यापक तथा चिरस्थायी होता है।

धर्मवान मनुष्य की मृत्यु भी रक्षा करती है। इसका अर्थ यह है कि धर्मात्मा को मृत्यु का कोई भय नहीं होता और मृत्यु के बाद भी उसका नाम जीवित रहता है। मनुस्मृति कहती है :

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

जो धर्म का हनन करता है वह नष्ट हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है उसकी धर्म रक्षा करता है। नष्ट किया हुआ धर्म हमको नष्ट न कर दे, इस कारण धर्म का हनन नहीं करना चाहिए।

धर्म के विपरीत आचरण से धर्म की कैसी अवज्ञा होती है, इसका जीता-जागता दृष्टान्त आज का सारे विश्व का मानव-समुदाय उपस्थित कर रहा है। आज धर्म की दुहाई तो बहुत दी जाती है, पर आचरण उसके बिलकुल विपरीत होता है। धर्म एक ढोंग बन कर रह गया है। इसी कारण लोगों का धर्म पर विश्वास और श्रद्धा कम होते जा रहे हैं। बहुत लोग धर्म की खिल्ली उड़ाते हैं। धर्म के सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय आदि लक्षणों की खुली

स्वामी का कारकत्व अधर्मयुक्त होता है ॥२३६॥

इस सूत्र का अर्थ अस्पष्ट प्रतीत होता है। स्वामी, राजा या राज्याधिकारी का कारकत्व अर्थात अपने, अनुचरों, सेवकों अथवा अधीनस्थों के समान कार्य करना अधर्म युक्त अर्थात अनुचित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वामी को वे कार्य नहीं करने चाहिए जो उसके अनुचर करते हैं। अनुचरों, सेवकों या अधीनस्थों का काम उन्हीं पर छोड़ना चाहिए और उनकी केवल निगरानी करनी चाहिए।

दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि स्वामी अपने अनुचरों को अपने ऊपर हावी न होने दे। यदि अनुचरों को सिर पर चढ़ा दिया जाये, तो इसका परिणाम अनिष्टकारण होता है।

ये दोनों ही अवस्थाएं अनुचित हैं। अधर्म शब्द का प्रयोग नीति-विरुद्ध आचरण के अर्थ में किया गया है।

इस सूत्र का पाठान्तर भी है 'वल्भस्य कातरत्वमधर्मयुक्तम्' अर्थात स्वामी की कातरता यानी भीरुता अनुचित होती है। जो स्वामी कातर यानी डरपोक होता है, उसके अनुचर ढीठ हो जाते हैं और उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करते।

स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्त्तव्यः ॥२३७॥

स्वजनों से ज्यादती नहीं करनी चाहिए ॥२३७॥

अपने परिवार के लोग बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, हितैषी आदि स्वजनों की श्रेणी में आते हैं। अतिक्रमण का अर्थ है सीमा का उल्लंघन करना। इस सूत्र का भावार्थ यह है कि स्वजनों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जो सीमा के भीतर हो। किसी व्यवहार में ऐसी गंध नहीं आनी चाहिए कि ज्यादती की जा रही है। ज्यादती किसी को सहन नहीं होती। इसलिए यदि स्वजन के ऊपर ज्यादती की जाये तो वह रुष्ट हो जाता है। परिजन रुष्ट हो जाये तो घर में कलह होती रहती है। मित्र और हितैषी रुष्ट हो जायें तो साथ छोड़ देते हैं।

राजनीति के सन्दर्भ में इस सूत्र का अर्थ यह होता है कि राजनेताओं तथा शासकों को देश तथा राष्ट्र के मित्रों, हितैषियों, तथा हितचिंतकों की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। उनके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिए जिससे वे राष्ट्र कल्याण के कार्यों में सहयोग तथा सहायता देते रहें। रावण ने विभीषण का तिरस्कार किया उसका फल उसे भोगना पड़ा। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण का अपमान करके कौरव वंश का ही नाश करवा दिया।

नियतिवादियों की मान्यता है कि जब किसी मनुष्य का उसके प्रारब्ध के अनुसार कोई अनिष्ट होने वाला होता है, तो उस अनिष्ट की तैयारी के रूप में उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। बुद्धि का इस प्रकार भ्रष्ट होना इस बात की सूचना देता है कि कोई अनिष्ट होने वाला है।

कोई विपत्ति सामने नजर आ रही हो तो उस समय भी मनुष्य अपनी सुध-बुध खो बैठता है। ऐसा करना मूर्खता का लक्षण है।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि कैसी भी विपत्ति या अनिष्ट की आशंका हो, मनुष्य को अपनी बुद्धि स्थिर रखनी चाहिए और विपत्ति का दृढ़ता से मुकाबला करना चाहिए।

नास्ति पिशुनवादिनो रहस्यम् ।।२३४।।

पररहस्यं नैव श्रोतव्यम् ।।२३५।।

चुगलखोर के लिए कोई रहस्य नहीं होता ।।२३४।।

दूसरे की गुप्त बातें नहीं सुननी चाहिए ।।२३५।।

चुगलखोर आदमी को कोई रहस्य अर्थात गुप्त बात बता दी जाये तो वह उसे प्रकट कर देता है। चुगलखोरी के बारे में एकसौ–तिरेपनवें सूत्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है।

कुछ लोगों की आदत होती है कि दूसरों की गुप्त बातें कान लगाकर सुनते हैं। अगर उनमें चुगलखोरी का अवगुण हो तो इन गुप्त बातों को वे सब लोगों से कहते फिरते हैं। इतना ही नहीं उनमें अपनी तरफ से नमक-मिर्च भी मिला देते हैं और अपनी शेखी बघारते हैं।

भले आदमी दूसरों की गुप्त बातें कभी नहीं सुनते, क्योंकि वे उनके किसी काम की नहीं होती।

राजनीति में इससे उलटा व्यवहार होता है। बड़ी–बड़ी शक्तियां एक दूसरी के गुप्त भेद जानने को आतुर रहती हैं। इस काम के लिए उनके विशाल जासूसी संगठन होते हैं और तरह-तरह के सूक्ष्म वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग किया जाता है। ये बड़ी शक्तियां छोटे–छोटे देशों में भी जासूसी करती है ताकि उन्हें पता लग सके कि उनका रुजहान किधर है। इसलिए राजनेताओं तथा राज्याधिकारियों को बहुत सावधान रहना पड़ता है कि राज्य की गुप्त बातें चुगलखोरों या जासूसों के कानों में न पड़ जाये।

वल्लभस्य कारकत्वमधर्मयुक्तम् ।।२३६।।

मनुष्य का जिन लोगों से किसी न किसी प्रकार प्रकार का संबंध होता है वे अपने लोग कहलाते है और जिन से कोई संबंध नहीं होता, अर्थात अपरिचित लोग, पराये या बेगाने कहे जाते हैं। अपने लोग भी दो तरह के होते हैं : स्वजन और बन्धु। नजदीकी रिश्तेदार स्वजन होते हैं। व्यवहार में बंधु शब्द का प्रयोग भाई के लिए किया जाता है। परन्तु पितापक्ष और मातापक्ष के लोग तथा मित्र, सखा, सुहृद आदिक भी बंधु की परिभाषा में आते हैं। बांधव शब्द का भी इसी अर्थ में प्रयोग होता है और कभी-कभी बंधु-बांधव का जोड़ा भी प्रयुक्त होता है। चाणक्य नीति में बांधव की यह परिभाषा है :

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे राष्ट्र विप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥

रोगी तथा आपत्ति ग्रस्त होने पर, अकाल में, देश में होने वाले उपद्रव के समय, कचहरी में और श्मशान में जो साथ देता है वह बांधव होता है।

मनुष्य के बंधु-बांधव उसके हितैषी होते हैं। वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते जिसमें उसका अहित हो। यदि कोई बंधु अहित करता है तो वह बंधु नहीं रहता, भले ही वह स्वजन हो। परन्तु यदि कोई पराया या बेगाना आदमी भी अपना हित करे, अपने साथ भलाई करे या उपकार करे, तो वह स्वजन न होते हुए भी बंधु के समान हो जाता है। वास्तव में बंधु कहलाने का पात्र वही होता है जो चाणक्य नीति के श्लोक में वर्णित परिभाषा के दायरे में आता हो।

इसी बात को घास के दृष्टान्त से पुष्ट किया गया है। औषधियों के रूप में काम आने वाली जड़ी-बूटियां घास-पात ही होती है। मनुष्य का इनसे कोई कोई संबंध नहीं होता, परन्तु ये उसके लिए हितकारी होती हैं।

इन सबका सार इस नीति-वचन में है :

परोऽपि हितवान् बन्धुः बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिः हितमारण्यमौषधम्॥

पराया आदमी भी यदि हित करने वाला हो, तो वह बंधु होता है और अहित करने वाला बंधु भी पराया होता है। अपने शरीर में उत्पन्न होने वाला रोग अहितकर होता है और वन में उत्पन्न होनेवाली औषधि हितकारी होती है।

नास्ति चोरेषु विश्वासः ॥२४२॥

चोरों का विश्वास नहीं करना चाहिए ॥२४२॥

चोरी करने वाला चोर कहलाता है। साधारण तौर पर किसी की वस्तु को उसकी जानकारी या अनुमति के बिना उठा लेना चोरी है। पानी,

मातापि दुष्टा त्याज्या ॥२३८॥

स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः ॥२३९॥

दुष्टा माता भी त्याज्य होती है ॥२३८॥

अपना हाथ भी विषाक्त हो जाये तो काटने लायक हो जाता है ॥२३९॥

तैत्तिरीय उपनिषद में वर्णन है कि जब गुरुकुल का अन्तेवासी अध्ययन समाप्त करके घर जाता था तब गुरु उसे उपदेश देता था :

मातृदेवो भव । पितृ देवो भव ।
आचार्य देवो भव । अतिथि देवो भव ।

तू माता को देवता मानने वाला हो । पिता को देवता मानने वाला हो। आचार्य को देवता मानने वाला हो । अतिथि को देवता मानने वाला हो ।

इससे प्रकट होता है कि माता, पिता आचार्य और अतिथि को देवता का दर्जा दिया गया है और इसमें भी माता का स्थान सबसे पहला है। कारण यह है कि बालक माता के गर्भ से जन्म लेता है और वही उसका पालन-पोषण करती है । यदि माता गुणवान तथा चरित्रवान हो तो सन्तान पर वैसे ही संस्कार पड़ते हैं । माता दुष्ट हो तो उसकी सन्तान भी दुष्ट हो जाती है । माता घर की स्वामिनी होती है । दुष्ट स्वभाव वाली माता के गृहस्थ में सदा क्लेश रहता है । व्यभिचारिणी होना भी दुष्टता का एक लक्षण है ।

चाणक्य नीति कहती है :

ऋणकर्ता पिता वैरी माता च व्यभिचारिणी ।

कर्ज करने वाला पिता और व्यभिचार करने वाली माता शत्रु होते है ।

इसलिए यदि देवता तुल्य माता भी दुष्ट हो जाये तो उसे त्याग देना चाहिए । इसी बात को दृष्टान्त देकर बताया है कि यदि अपने हाथ में भी कोई जहरीला घाव हो जाये तो उसे काट दिया जाता है ।

परोऽपि च हितो बन्धुः ॥२४०॥

कक्षादप्यौषधं गृह्यते ॥२४१॥

पराया आदमी भी यदि अपना हितकारी हो तो वह बन्धु होता है ॥२४०॥

घास को भी औषधि के रूप में ग्रहण किया जाता है ॥२४१॥

तीसरी तरह के चोर वे होते हैं जिन्हें मनोविज्ञान 'क्लेप्टोमेनियक' यानी चौर्योन्मादी कहता है। ऐसे लोग संपन्न होते हुए भी आंख बचा कर किसी चीज को चुराने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। यह विकार संपन्न घरानों की स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। यह 'एटाविज्म' का ही भग्नावशेष है।

ऐसी हालत में जिस आदमी को चोरी की लत पड़ जाती है, उस पर किसी भी हालत में विश्वास नहीं किया जा सकता।

अप्रतीकारेषु व्यसनेष्वनादरो न कर्त्तव्यः ।।२४३।।

असाध्य विपत्तियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।।२४३।।

मनुष्य के जीवन में नाना प्रकार की विपत्तियां आती रहती हैं। कुछ विपत्तियां भूकम्प, बाढ़, तूफान, ज्वालामुखी आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण होती हैं। रोग, चोट आदि शारीरिक विपत्तियां होती हैं। आर्थिक संकट भी विपत्ति होता है। चिन्ता, दुख, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता आदि मानसिक विपत्तियां होती है। बहुत सी विपत्तियां उपाय करने से टल जाती हैं, या मिट जाती हैं, किन्तु कुछ विपत्तियां ऐसी होती हैं जिनका कोई इलाज या उपाय नही होता। इसलिए इन्हें सहन करने के सिवाय कोई चारा नहीं होता। सूत्र कहता है कि ऐसी ला-इलाज आपत्तियों की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जब ऐसी विपत्ति सिर पर आ पड़े तब भी धैर्य नहीं खोना चाहिए और साहस से उसका मुकाबला करना चाहिए। कैसी भी विपत्ति हो उसमें अपना मनोबल बनाये रखना चाहिए। मनोबल टूट जाने पर मनुष्य किसी काम का नहीं रहता। कहा है :

याते समुद्रेऽपि ही पोत भंगे।
सांयात्रिको वांछति तर्तुमेव ।।

समुद्र यात्रा में जहाज टूट जाने पर भी समुद्री-व्यापारी पार जाने का उपाय करता है।

भर्तृहरि की सूक्ति है :

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते दुनश्चन्द्र।
इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न ते विपदा ।।

काटा हुआ पेड़ भी फिर बढ़ने लगता है। क्षीण हुआ चन्द्रमा भी बढ़ता जाता है। ऐसा सोचकर सत्पुरुष को विपत्ति में भी संताप नहीं होता।

व्यसनं मनागपि बाधते ।।२४४।।

छोटा-सा व्यसन भी दुख का कारण होता है ।।२४४।।

मिट्टी, जंगल के पेड़-पौधे, फल-फूल आदि प्रकृति की देन हैं। प्राचीन व्यवस्था में इनका उपयोग चोरी नहीं माना जाता था। परन्तु अब तो पानी, मिट्टी और जंगलों पर भी राज्य का या निजी अधिकार हो गया है। सो इन चीजों की भी चोरी होने लगी है।

कोई आदमी चोरी क्यों करता है, इस बारे में मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत गवेषणा हुई है। आदिकाल का मनुष्य जंगलों में रहता था और शिकार तथा वन के उत्पादन उसके जीवन के साधन थे। उस समय समाज नामक संस्था नहीं थी इसलिए धर्म, नीति, सदाचार आदि की मर्यादाओं का आविर्भाव नहीं हुआ था और सब लोग स्वच्छन्द थे। लूटमार और चोरी भी करते थे। सो दूसरों का माल उड़ाने की यह प्रवृत्ति मनुष्य की सहज प्रवृति बन गयी और उसके संस्कार मनुष्य जाति में जड़ पकड़ गये। मनोविज्ञान की भाषा में इसे पूर्वजोद्भव प्रवृत्ति (एटाविज्म) कहते हैं।

इसी प्रवृत्ति को रोकने के लिए शास्त्रकारों ने स्तेय अर्थात चोरी को महापाप करार दिया और अस्तेय को धर्म का एक लक्षण निर्धारित कर दिया। मनुस्मृति में लिखा है :

बह्महा च सुरापश्च स्तेयो च गुरुतल्पगः।
एते सर्वे प्रथम ज्ञेया महापातकिनोनराः॥

ब्रह्म हत्या करने वाला, शराबी, चोर और गुरु-पत्नी से व्यभिचार करने वाला, ये सब महापातकी होते है।

चोरी की यह प्रवृत्ति मनुष्यों के मानस में अभी तक छिपी हुई है और अक्सर किसी न किसी रूप में प्रकट होती रहती है। यह अतिशयोक्ति नहीं कि मन में हम सब चोर हैं। केवल समाज की वर्जनाएं ही चोरी करने से रोकती हैं। पहले किसी दूसरे की वस्तु उठा लेना ही चोरी कहाता था, पर अब तो चोरी के अनेक रूप हो गये हैं। मिलावट, जमाखोरी, कम तोलना, रिश्वत, गबन वगैरा चोरी की श्रेणी में आते हैं।

चोर भी कई तरह के होते हैं। कोई आदमी भूख से या अन्य संकट से ग्रस्त होकर कोई चीज चुरा लेता है तो उसे भी चोर कहा जाता है, हालांकि चोरी करना उसका स्वभाव नहीं होता।

दूसरी तरह के चोर पेशेवर होते हैं जिनका धंधा ही चोरी करना होता है। इस अपराधवृत्ति के मूल में कुछ आर्थिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत एव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

विद्या तथा धन का उपार्जन अजर और अमर की भांति करे, परन्तु धर्म का पालन करने में यह ध्यान रखें कि मौत ने सिर के बाल पकड़ रखे हैं ।

संसार में धन की कितनी प्रतिष्ठा है, इस पर भर्तृहरि ने व्यंग किया है :

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः त श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते ॥

जिस नर के पास धन है वही कुलीन है, वही पण्डित है, वही विद्वान और गुणवान है, वही अच्छा बोलने वाला है और वही दर्शन करने योग्य है ।

इसके विपरीत धनहीन की क्या दशा होती है सो कहा है :

तानेन्द्रियाणि विकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एवः अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥

वही इन्द्रियां है, वही नाम है, वही अकुंठित बुद्धि है, वही वाणी है, फिर भी धन की गरमी से विहीन मनुष्य क्षणभर में ही विचित्र हो जाता है ।

अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः ॥२४७॥

महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहुमन्यते लोकः ॥२४८॥

दारिद्रयं खलु पुरुषस्य जीवित् मरणम् ॥२४६॥

विरूपो-अर्थवान् सुरूपः ॥२५०॥

अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति ॥२५१॥

अकुलीनोऽपि कुलीनाद् विशिष्टः ॥२५२॥

धनवान का सब लोग बहुत सम्मान करते हैं ॥२४७॥

स्वर्ग का इन्द्र भी यदि अर्थहीन हो तो लोग उसका सम्मान नहीं करते ॥२४८॥

दरिद्रता अर्थात निर्धनता मनुष्य के लिए जीवित रहते हुए भी मृत्यु के समान है ॥२४६॥

धनवान मनुष्य कुरूप भी हो तो लोग उसे सुन्दर समझते हैं ॥२५०॥

धनवान मनुष्य कंजूस भी हो तो भी धन के इच्छुक लोग उसे नहीं छोड़ते ॥२५१॥

इस सूत्र में व्यसन शब्द का प्रयोग बुरे शौक या बुरी लत के अर्थ में किया गया है। जिस मनुष्य में कोई छोटी-सी भी बुरी लत होती है, वह बहुत दुख उठाता है। व्यसन कितनी प्रकार के होते हैं इसका उल्लेख इक्यावनवें सूत्र की व्याख्या में हो चुका है। अबतो इनके अलावा भी नये-नये व्यसन पैदा हो गये हैं। फैशन की गुलामी आजकल सबसे बड़ा व्यसन बन गया है।

व्यसनमना बाध्यते ॥२४५॥

व्यसनासक्त मनुष्य कष्ट पाता है ॥२४५॥

जो मनुष्य व्यसनों में पड़ जाता है यानी बुरे शौकों और बुरी लतों का शिकार हो जाता है वह दुख उठाता है। वह स्वयं तो दुखी होता ही है, उसके कारण उसके परिजनों और आश्रितों को भी दुख झेलने पड़ते हैं।

अमरवदर्थजातमार्जयेत् ॥२४६॥

मनुष्य को अमर के समान अर्थोपार्जन करना चाहिए ॥२४६॥

अर्थ शब्द की परिभाषा दूसरे सूत्र की व्याख्या में की जा चुकी है। मनुष्य को अर्थ यानी धन कमाने में इस तरह जुट जाना चाहिए मानो वह अमर है। यदि मनुष्य हर समय यह सोचता रहे कि उसे एक दिन मरना है, तो दुनियादारी के झंझटों में पड़ने से और धन कमाने से क्या फायदा। सब कुछ यहीं धरा रह जायेगा। ऐसा विचार मनुष्य को अकर्मण्य और आलसी बना सकता है। किन्तु धन के बिना तो दुनिया का कोई काम नहीं चल सकता। आज के युग में तो अर्थ की ही प्रधानता है। जीवन की सुख-सुविधाएं धन के बिना प्राप्त नहीं हो सकतीं। धन मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है। जो चीज अनिवार्य आवश्यकता है, जो चीज अनिवार्य है, उसके लिए पूरी लगन से काम करना चाहिए और मरने का खयाल दिल से निकाल देना चाहिए।

यह शंका हो सकती है यदि मनुष्य यह मानकर चले कि उसे कभी मरना नहीं है तो वह धर्म, नीति और सदाचार की क्या परवाह करेगा। परलोक का डर मनुष्यों को पापकर्मों और अपराधों से रोकता है। जब यह डर निकल गया तो मनुष्य कुछ भी कर सकता है। लोक व्यवहार में ऐसा देखने में भी आता है। धन कमाने की लालसा में लोग धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि को उठाकर ताक में रख देते हैं। इसलिए शास्त्रों ने अर्थ को धर्म के साथ जोड़ दिया है। मनुष्य के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष हैं। इनमें धर्म का स्थान सबसे पहला है। इसीलिए पंचतंत्र में कहा है :

नीच गुडी ज्यों जानिबो सुनि लखि तुलसीदास ।
ढीलि दिये गिर परत महि खेंचत चढ़त अकास ।।

नीच आदमी पतंग के समान होता है जो ढील देने पर गिर पड़ती है और खींचने पर आसमान में चढ़ जाती है ।

यह तो उन लोगों की बात है जो जन्म से या स्वभाव से नीच होते हैं । पर हमारे देश की राजनीति में ऊंचे पदों पर बैठे हुए लोगों को भी अपमान का कोई डर नहीं रह गया है । उन पर चाहे जितने लांछन लगाये जायें, और उनके दुष्कर्मों के चाहे जितने प्रमाण दिये जायें उन पर कोई असर नहीं होता । बल्कि उनकी सफाई दी जाती है और उन्हें बचाने की कोशिशें की जाती है । 'चोरी और सीना जोरी' इसी को कहते है । ये लोग मगरमच्छ की तरह हैं जिस पर चोटों का कोई असर नहीं होता ।

न चेतनतां वृत्तिभयम् ।।२५४।।

सदा जागरूक रहने वाले चतुर नर को आजीविका का भय नहीं होता ।।२५४।।

जो लोग अपने काम में निपुण होते हैं उन्हें आजीविका की चिन्ता नहीं रहती । वे अपनी चतुराई से रोजी-रोटी कमा सकते हैं, ऐसा उनमें दृढ़ विश्वास होत ाहै । इसी विश्वास के बल पर वे आजीविका के प्रति निर्भय रहते हैं ।

न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् ।।२५५।।

जितेन्द्रिय पुरुषों को विषयों से कोई भय नहीं होता ।।२५५।।

जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में कर लेता है वह विषयों को पास भी नहीं फटकने देता । संसार में वह कमल के पत्ते की तरह रहता है जो पानी में रहते हुए भी भीगता नहीं । गीता कहती है :

यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

जैसे कछुआ अपने अंगों को सिमेट लेता है, वैसे ही जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

इस प्रकार बुद्धि स्थिर होने पर विषयों का कोई प्रभाव नहीं होता । विषय-भोगों के प्रलोभन जितेन्द्रिय मनुष्य को विचलित नहीं करते ।

न कृतार्थानां मरणभयम् ।।२५६।।

अकुलीन अर्थात नीच कुल का (धनवान) मनुष्य भी विशेष कुलीन माना जाता है ।।२५२।।

पूर्ववर्ती सूत्र की व्याख्या में भर्तृहरि की दो सूक्तियां उद्धृत की गयी हैं। उनमें इन सारे सूत्रों का सार आ गया हैं।

इसी विषय पर और भी अनेक सूक्तियां हैं :

धनवान् बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्व धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ।।
अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधस ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ।।
अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्र रहितस्य च ।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ।।
दारिद्र्यान्मरणाद्वाऽपि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमति दुःसहम् ।।

सारे धनवान लोग संसार में सब जगह और सदा बलवान होते हैं। राजा को भी धन के प्रताप से ही प्रभुता प्राप्त होती है।

धनहीन तथा बुद्धिहीन मनुष्य की सारी क्रियाएं ग्रीष्मकाल में छोटी नदियों की तरह सूख जाती हैं।

पुत्र के बिना घर सूना होता है, सच्चे मित्र से रहित मनुष्य शून्य होता है, मूर्ख के लिए सारी दिशाएं शून्य होती हैं, किन्तु दरिद्र के लिए सब कुछ शून्य होता है।

दरिद्रता और मृत्यु, इन दोनों में दरिद्रता ही नीची है, क्योंकि मरने में तो थोड़ा ही दुख होता है, परन्तु दरिद्रता का दुख असह्य होता है।

नास्त्यमानभयमनार्यस्य ।।२५३।।

अनार्य अर्थात नीच जन को अपमान का भय नहीं होता ।।२५३।।

नीच जन वे होते हैं जो स्वभाव से ही झूठ, चोरी, व्यभिचार आदिक कुकर्मों में रत रहते हैं। ऐसे लोगों को मान-अपमान की रत्ती भर भी परवाह नहीं होती। बोलचाल की भाषा में इन्हें 'नकटा' कहा जाता है। नकटे आदमी को कोई शर्म-हया नहीं होती। इनके लिए कहा जाता है : 'उतर गई लोई तो क्या करेगा कोई' यानी इनके कुकर्म जग जाहिर होते हैं और अपमान का इन्हें कोई डर नहीं होता। तुलसीदास ने कहा हैं :

मौत का डर उन्हीं लोगों को सताता रहता है जिनके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं होता और जो यही चिन्ता करते-करते मर जाते हैं कि हाय सारा जीवन व्यर्थ गया। उन्हें यह संताप रहता है :

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यसि॥

युवावस्था में विद्या नहीं पढ़ी, गृहस्थाश्रम में धनोपार्जन नहीं किया, वानप्रस्थी होकर तप नहीं किया, अब चौथेपन में क्या करेगा।

कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः ॥२५७॥

साधुजन किसी के भी धन को अपने धन के समान मानते हैं ॥२५७॥

किसी दूसरे के धन को अपने धन के समान मानने का अर्थ यह नहीं कि दूसरे का धन हड़प लिया जाये, 'पराया माल अपना' समझ लिया जाये। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अपने धन की रक्षा की जाती है और उसका दुरुपयोग नहीं किया जाता, उसी प्रकार दूसरे के धन की भी रक्षा करनी चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए। यह सूत्र उन लोगों पर लागू होता है जिनके पास धरोहर के रूप में दूसरों का धन होता है या जो दान से अथवा निजी या सरकारी सहायता से चलने वाली सस्थाओं के अधिष्ठाता या कार्यकर्त्ता होते हैं। उनकी जिम्मेदारी होती है कि दूसरों से प्राप्त धन को नष्ट नहीं करें। इस प्रसंग में चाणक्य नीति का यह श्लोक ध्यान में रखना चाहिए :

मातृवत्परदारेषु पर द्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पंडितः॥

जो मनुष्य परायी स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और सब प्राणियों को अपने समान देखता है, वह पंडित है।

चाणक्य एक तरफ तो कहता है कि पराये धन को मिट्टी के समान समझना चाहिए और दूसरी तरफ कहता है कि पराये धन को अपने धन के समान समझना चाहिए। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी नजर आती हैं। परन्तु वास्तव में दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। पराये धन को मिट्टी के समान समझने का अभिप्राय यह है कि उस पर लालच की निगाह नहीं डालनी चाहिए और उसे हड़पना नहीं चाहिए। इसी बात पर आगे के सूत्रों में जोर दिया गया है।

परविभवेष्वादरो न कर्त्तव्यः ॥२५८॥

पराये धन का आदर नहीं करना चाहिए अर्थात उसे तुच्छ और त्याज्य समझना चाहिए ॥२५८॥

कृतार्थों को मृत्यु का भय नहीं होता ॥२५६॥

जिसने अपना जीवन सार्थक कर लिया हो, वह कृतार्थ होता है। यों तो संसार में असंख्य मनुष्य जन्म लेते रहते हैं और मरते रहते हैं, परन्तु सार्थक जीवन उन्हीं का होता है जिन्होंने कोई उद्देश्य सिद्ध किया हो। ज्यादातर लोगों का जीवन उद्देश्य रहित होता है। उनकी सारी जिन्दगी अपने में ही बीत जाती है। अकबर इलाहाबादी ने कहा है :

क्या कहें अहबाब क्या कारे-नुमायां कर गये।
बी. ए. हुए नौकर हुए पिन्शन मिली और मर गये॥

जो मनुष्य लोक-कल्याण के कार्य करता है या जीवन के किसी क्षेत्र में नाम कमाता है, उसका जीवन सार्थक माना जाता है।

चाणक्य नीति में कहा है :

धर्मार्थ काम मोक्षेषु यस्यैकोऽपि न विद्यते।
जन्म जन्मनि मर्त्येष मरणं तस्य केवलम्॥

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यु लोके भुविभार भूता मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पदार्थों में से एक को भी जिसने प्राप्त नहीं किया, उसका इस मृत्यु लोक में बार-बार मरने के लिए ही जन्म होता है।

जिस मनुष्य में न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न शील है, न कोई गुण है और न धर्म है, वह इस मृत्युलोक में पृथ्वी का भार होकर मनुष्य के रूप में पशु की भांति विचरण करता है।

जो मनुष्य किसी पुरुषार्थ को सिद्ध कर लेता है, वह संतुष्ट हो जाता है कि उसका जीवन सार्थक हो गया। उसे इस जन्म में जो करना था वह उसने कर लिया। ऐसा आत्म-संतोष होने पर उसे मौत का डर नहीं रहता।

भर्तृहरि ने कहा है :

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

इस परिवर्तनशील संसार में ऐसा कौन है जो मरता नहीं या जन्म नहीं लेता। परन्तु जन्म लेना उसी का सार्थक है जिसने वंश की उन्नति की हो।

वंश की उन्नति से तात्पर्य यह है कि उसने कोई ऐसा उत्तम कर्म किया हो जिससे उसके वंश का यानी कुल का नाम हो।

यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दंडमर्हति ।।

जितने से पेट भर जाये उतना ही मनुष्य को रखने का अधिकार है। जो इससे अधिक का अभिमान करता है वह चोर है और दण्ड के योग्य है।

शास्त्रों में इसी को अपरिग्रह कहा गया है।

न मृतस्यौषधं प्रयोजनम् ।।२६४।।

मृतक के लिए औषधि का कोई प्रयोजन नहीं रहता ।।२६४।।

जो मर चुका है उसे औषधि देना व्यर्थ होता है, क्योंकि ऐसी कोई भी औषधि नहीं जो मरे को जिन्दा कर सके। इसका भावार्थ यह है कि जो काम पूरी तरह बिगड़ चुका हो उसमें चेपाचेपी करना फिजूल होता है। अंग्रेजी की एक कहावत है : घोड़ा भाग जाने के बाद अस्तबल का दरवाजा बन्द करना। इसका भी यही अर्थ है। इसी प्रकार किसी काम का अवसर निकल जाने पर उसके लिए पछताना भी निरर्थक होता है। इसलिए कोई भी काम बिगड़ रहा हो, उसे ठीक करने का उसी समय उपाय करना चाहिए। किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। कपड़ा कहीं से फट जाये तो उसमें तुरन्त टांका लगाकर सिल देना चाहिए।

समकाले स्वयमपि प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति ।।२६५।।

साधारण समय में अपना प्रभुत्व बनाये रखना ही हेतु होता है।।२६५।।

यह सूत्र राजाओं के लिए है, परन्तु इसे वर्तमान शासकों पर भी लागू किया जा सकता है। तब इसका अर्थ यह हो जाता है कि शासकों को साधारण राजकाज में भी अपने कर्त्तव्यों का ठीक ढंग से पालन करना चाहिए और ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे उनके प्रभुत्व पर आंच आये। जब संकट का समय होता है तब शासक लोग तत्परता से काम करते हैं, लेकिन जब कोई खतरा न हो तब वे लापरवाह हो जाते हैं और प्रमाद में पड़ जाते हैं। इससे राजकाज में ढिलाई आ जाती है और जनता में असंतोष फैल जाता है। परिणाम यह होता है कि प्रभुसत्ता छिन जाती है।

वैसे भी मनुष्य को अपनी हैसियत बनाये रखने के लिए हर समय सावधान और जागरूक रहना चाहिए।

नीचस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति ।।२६६।।

पयः पानमपि विषवर्धनं भुजंगस्य नामृतं स्यात् ।।२६७।।

परविभवेष्वादरोपि विनाशमूलम् ॥२५९॥

पराये धन का लोभ भी विनाश का कारण होता है ॥२५९॥

पलालमपि पर द्रव्यं न हर्तव्यम् ॥२६०॥

पराये धन का भूसा भी नहीं चुराना चाहिए ॥२६०॥

पर द्रव्यापहरणमात्मद्रव्य नाश हेतुः ॥२६१॥

पराये धन का अपहरण अपने धन के विनाश
का कारण होता है ॥२६१॥

इन सारे सूत्रों का सार यह है कि पराये धन की रखा करनी चाहिए और उसका अपने स्वार्थ के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। यह वात शासक वर्ग पर भी लागू होती है। उन्हें राजकोश का उपयोग जनता के कार्यों के लिए ही करना चाहिए, अपने स्वार्थ के लिए नहीं।

न चौर्यात् परं मृत्युपाशः ॥२६२॥

चोरी का फंदा मौत के फंदे से दूर नहीं होता ॥२६२॥

यवागूरपि प्राण धारणं करोति लोके ॥२६३॥

संसार में केवल कांजी भी जीवन को धारण कर सकती है ॥२६३॥

मौत का फंदा मनुष्य के प्राण हर लेता है। इसी प्रकार चोरी का फंदा भी मनुष्य के विनाश का कारण होता है। मृत्यु के वाद तो जीवन लीला ही समाप्त हो जाती है, परन्तु चोरी करने वाले की नैतिक मृत्यु हो जाती है और यह फंदा जिन्दगी भर उसके गले में फंसा रहता है। मृत्यु के वाद तो सारे कष्टों से छुटकारा मिल जाता है, परन्तु चोरी का लांछन सदा सताता रहता है। चोरी करने वाला घृणा का पात्र वन जाता है और समाज 'चोर-चोर' कह कर उसका तिरस्कार करता है। जिस मनुष्य में चोरी की आदत होती है वह यदि अपना प्रियजन भी हो तो उसे शंका की दृष्टि से देखा जाता है कि कोई चीज चुरा न न ले।

मनुष्य जौ या चावल की कांजी पीकर भी जिन्दा रह सकता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को केवल उतनी ही इच्छा करनी चाहिए जो उसके जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सके। जो ऐसा मानकर चलता है वह चोरी कभी नहीं कर सकता। भागवत पुराण कहता है:

वैदिककाल में चार ही अनाजों का उल्लेख मिलता है : चावल, जौ, उड़द और तिल। देवपूजा में आज भी ये ही रखे जाते हैं। उस समय के लोगों का मुख्य भोजन चावल ही था।

चाणक्य के समय में गेहूं का भी उत्पादन होता था। अर्थशास्त्र में शाली, व्रीहि (चावल) तिल, प्रियंगु (कंगनी) मूंग, उड़द, गेहूं, जौ, मटर, मसूर, अलसी, सरसों आदि के नाम हैं। इसलिए इस सूत्र में धान्य शब्द सभी अन्नों का सामूहिक नाम समझना चाहिए।

अन्न ही मनुष्य के जीवन का आधार है। शरीर का पोषण अन्न से ही होता है, सो शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है। अन्न की कमी से अकाल पड़ जाता है और लोग भूखों मरने लगते हैं। इसीलिए धान्य अर्थात अनाज से बढ़कर कोई धन नहीं। जिस देश में अन्न प्रचुर मात्रा में होता है, उसके निवासी सुखी रहते हैं। अन्न न हो तो दूसरा कोई धन काम नहीं आता। सो धान्य का संग्रह करना धन संग्रह से अधिक महत्वपूर्ण है। देश में अन्न का भरपूर भंडार रहना चाहिए।

न क्षुधासमः शत्रुः ॥२६९॥

अकृतेर्नियता क्षुत ॥२७०॥

नास्त्यभक्ष्यं क्षुधितस्य ॥२७१॥

भूख के समान कोई शत्रु नहीं ॥२६९॥

अकर्मण्य मनुष्य भूखा मरता है ॥२७०॥

भूखे के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं ॥२७१॥

भूख मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, क्योंकि भूख मनुष्य को मार डालती है। भूखा आदमी होश-हवास खो बैठता है और पेट की ज्वाला बुझाने के लिए पाप कर्मों तथा अपराधों में प्रवृत्त हो जाता है। कहा है ;

बुभुक्षितः किं न करोति पापम् क्षीणा जनाः निष्करुणा भवन्ति।

भूखा आदमी कौन से पाप नहीं करता। भूख से क्षीण हुआ मनुष्य कठोर और निर्दय हो जाता है।

जो आदमी कुछ काम नहीं करता अर्थात रोजी नहीं कमाता, वह भूखा मरता है। इस तथ्य को सब जानते हैं।

जब आदमी भूख से तड़पने लगता है तब उसे जो चीज मिल जाये उसी को खाने पर टूट पड़ता है। अकाल के मारे लोग घास-फूस और पेड़ों के पत्ते

नीच की विद्या उसे पापकर्मों में लगा देती है ॥२६६॥

सांप को दूध पिलाने पर भी उसका विष बढ़ता है, अमृत नहीं होता ॥२६७॥

विद्या केवल पुस्तकी ज्ञान को नहीं कहते। सभी तरह के कला–कौशल व्यवसाय, विज्ञान, उद्योग-धन्धे आदि में निपुणता विद्या कहलाती है। नीच आदमी तो स्वभाव से ही दुष्ट होता है, इसलिए वह किसी विद्या से प्राप्त निपुणता या चतुराई का भी बुरे कामों में उपयोग करता है। चोरी, ठगी, डकैती, पाकटमारी जैसे कामों में भी चतुराई की जरूरत होती है। चीजों में मिलावट करना, नकली चीजें बनाना, हिसाब–किताव में हेर–फेर करना, कम तोलना वगैरा भी चतुराई की अपेक्षा रखते हैं। इसे चालाकी कहा जाता है। मतलब यह कि नीचों की विद्या उन्हें चालाकी करना सिखाती है। कहा है :

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

दुष्टों की विद्या विवाद के लिए, धन मदोन्मत्त होने के लिए तथा शक्ति दूसरों को सताने के लिए होते हैं। इसके विपरीत सज्जनों की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए तथा शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होते हैं।

नीचजनों की सांप से तुलना की गयी है। सांप को चाहे जितना दूध पिलाओ, वह जहर ही बनता है, अमृत नहीं। इसी प्रकार नीच जन विद्या प्राप्त करके उसका दुरुपयोग ही करते हैं, सदुपयोग नहीं। तुलसीदास ने कहा है :

नीच निचाई नहि तजै सज्जन हू के संग॥
भलो भलाई पै लहै लहै निचाई नीचु॥

नीच आदमी सज्जनों के साथ रहकर भी नीचता नहीं छोड़ता। भला आदमी भलाई करता है, परन्तु नीच तो नीचता ही करता है।

न हि धान्यसमोह्यर्थः ॥२६८॥

धान्य के समान कोई धन नहीं ॥२६८॥

धान्य का मूल अर्थ है, बिना भूसी उतारा हुआ चावल। साधारण भाषा में इसे धान कहते हैं। धनिया भी धान्य का ही अपभ्रंश है। परन्तु धान शब्द अब सभी अनाजों के लिए प्रयुक्त होने लगा है। अनाज मंडी को धानमंडी भी कहते हैं।

उत्पन्न हो जाते हैं। फिर वे मन लगाकर काम नहीं करते। कहा है: 'बेदिल चाकर दुश्मन बराबर'।

लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति ।।२७४।।

लोभी की सेवा करने वाला (मानो) आग जलाने के लिए जुगनू पर फूंक मारता है ।।२७४।।

जुगनू को आग की चिनगारी समझ कर फूंक मारने से आग पैदा नहीं हो सकती, अर्थात यह असंभव है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी लोभी और लम्पट आदमी की सेवा करता है उसे कुछ प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए। लोभी को तो पैसे से इतना मोह होता है कि वह उसे दांतों से पकड़ कर बैठा रहता है। किसी को दमड़ी देने में भी उसकी जान निकलती है। चमड़ी भले ही देनी पड़े। इसलिए ऐसे आदमी की सेवा करना मूर्खता है।

विशेषज्ञं स्वामिनमाश्रयेत् ।।२७५।।

गुणों को पहचानने वाले स्वामी का आश्रय लेना चाहिए ।।२७५।।

सेवा ऐसे मनुष्य की करनी चाहिए अर्थात ऐसे मनुष्य के अधीन काम करना चाहिए जो गुण-ग्राहक हो। जो मनुष्य गुणों की कद्र करना नहीं जानता, वह अपने सब अधीनस्थों को एक लकड़ी से हांकता है। परिणाम यह होता है कि गुणवान भी रुष्ट हो जाता है। गुणों को पहचानने वाले के नीचे काम करने वाले पूरी लगन और पूरे उत्साह से कर्त्तव्य पालन करते हैं।

पुरुषस्य मैथुनं जरा ।।२७६।।

स्त्रीणाममैथुनं जरा ।।२७७।।

पुरुष का मैथुन बुढ़ापा लाता है ।।२७६।।
स्त्री का अमैथुन बुढ़ापा लाता है ।।२७७।।

ये दोनों सूत्र यौन विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, वे कोरी कल्पना नहीं बल्कि अनुभव-सिद्ध हैं। हमारे शास्त्रों की अनेक बातों को आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करने लगा है और बहुत-सी बातों के बारे में पश्चिम के वैज्ञानिक गवेषणा, अनुसंधान तथा शोध कर रहे हैं। इन सूत्रों से यह भी पता लगता है कि चाणक्य को अनेक विषयों का ज्ञान था, वह केवल राजनीति का ही पंडित नहीं था।

पुरुष के लिए अधिक मैथुन हानिकारक होता है, यह निर्विवाद है। अधिक मैथुन करने वाला शक्तिहीन तथा निर्बल होता चला जाता है और उसका शरीर जल्दी ही बूढ़ों जैसा हो जाता है।

तथा छाल तक चबा डालते हैं। भूख में आदमी आदमी को भी मार कर खा जाता है। कहावत है भूख में किवाड़ भी पापड़ हो जाता है।

महाभारत में कहा है :

वासुदेव जरा कष्टं कष्टं धनविपर्ययः ।
पुत्रशोकस्ततः कष्टं कष्टात् कष्टतरं क्षुधा ॥

बुढ़ापा कष्टदायक होता है, धन की हानि भी कष्टकारक होती है, पुत्रशोक भी कष्टमय होता है, परन्तु भूख सब कष्टों से भी बड़ा कष्ट है।

इन्द्रियाणि जरावशं कुर्वन्ति ॥२७२॥

इन्द्रियां मनुष्य को बुढ़ापे के वश में कर देती है ॥२७२॥

जो मनुष्य इन्द्रियों के विषय–भोगों में लिप्त हो जाता है, उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है और वह जल्दी बूढ़ा हो जाता है।

मनुष्य की पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन–ये ग्यारह इन्द्रियां मानी गयी है। मुख्य रूप में मन और ज्ञानेन्द्रियां ही विषय-भोगों की ओर दौड़ती हैं। इनमें भी सबसे ऊपर मन है जो विषयों का चिन्तन करता है और इन्द्रियों को प्रेरित करता है। ज्ञानेन्द्रियों में कामेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय सबसे अधिक हानि पहुंचाने वाली हैं। मन को वश में करने पर सारी इन्द्रियां अपने आप वश में हो जाती है। कामेन्द्रिय तथा स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण बहुत आवश्यक है। जितेन्द्रिय मनुष्य की शक्तियों का अपव्यय नहीं होता और उम्र में बूढ़ा होने पर उसका शरीर निर्बल नहीं होता और उसे रोग नहीं सताते। इन्द्रिय–लोलुप मनुष्य रोगों से ग्रस्त हो जाता है और उसका शरीर समय से पहले ही बूढ़ा हो जाता है।

सानुक्रोशं भर्तारमाजीवेत् ॥२७३॥

दयावान स्वामी की ही सेवा करनी चाहिए ॥२७३॥

दया की परिभाषा की जा चुकी है। यदि सेवा अर्थात नौकरी ही करनी हो तो दयावान मनुष्य की करनी चाहिए। दयावान स्वामी अपने अधीन काम करने वालों के साथ सदा मानवोचित व्यवहार करता है। उनके कष्टों को दूर करता है और उन पर अत्याचार नहीं करता। जो मनुष्य अपने अधीनस्थों से कठोर व्यवहार करता है, उनसे आवश्यकता से अधिक काम लेता है, जरा–जरा सी गलती पर उन्हें डांटता–डपटता रहता है, उनके प्रति सहानुभूति नहीं रखता, उसके नीचे काम करने वाले तंग आ जाते हैं और उनके मन में घृणा के भाव

ये दो सूत्र आनुवंशिकी विज्ञान (जेनेटिक्स) से संबन्ध रखते हैं।

प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत सवर्ण विवाह पर जोर दिया जाता था। किसी वर्ण के पुरुष या स्त्री का अपने से नीचे वर्ण में विवाह करना हेय माना जाता था। परन्तु केवल वर्ण नहीं देखा जाता था। उसके साथ कुल, शिक्षा, संस्कार, गुण, स्वभाव आदि का भी ध्यान रखा जाता था। कुछ हद तक यह परिपाटी आज भी हमारे देश में चल रही है, परन्तु शिक्षा और धन, इन दो बातों को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा है।

वास्तव में विवाह संबन्ध समान संस्कार गुण, स्वभाव आदि के नर-नारी में होना चाहिए। इससे गृहस्थ जीवन बना रहता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि संतान पर भी प्रभाव पड़ता है। यदि माता या पिता में से कोई नीच प्रकृति का हो और दूसरा उत्तम प्रकृति का, तो नीच प्रकृति के अवगुण संतान में भी आ जाते हैं। नीच तथा उत्तम स्वभावों में मेल न होने से कलह रहती है और संतान का पालन-पोषण ठीक ढंग से नहीं हो पाता। कहावत है कि "ब्याह वैर और प्रीत बराबर वाले से ही करनी चाहिए"।

दूसरे सूत्र में संगोत्र और सपिंड विवाह का तो निषेध है ही, अगम्या से समागम को गर्हित कहा गया है। अगम्या कौन होती है यह ब्रह्मपुराण के इन श्लोकों में बताया गया है :

गुरुपत्नी राजपत्नी सपत्नी मातरं प्रसूम् ॥
सुतां पुत्रवधूं श्वश्रूं सगर्भां भगिनी सति।
सोदर भ्रातृजायाश्च भगिनी भ्रातृ कन्यकाम् ॥
शिष्यांच शिष्यपत्नीच भागिनेयस्य कामिनीम्।
भ्रातृपुत्रप्रियाश्चैवात्यगम्यामाह पद्मजः ॥

गुरुकी पत्नी, राजा की पत्नी, सौतेली माता तथा उसकी पुत्री, पुत्र की पत्नी, गर्भवती स्त्री, सास, बहिन, भाई की पत्नी, भतीजी, शिष्या, शिष्य की पत्नी, भानजी और भतीजे की पत्नी, इन्हें ब्रह्मा ने समागम के अयोग्य कहा है।

एक ही गोत्र में या कुल में विवाह संबन्ध आनुवंशिकी के अनुसार उचित नहीं होते। जो आनुवंशिक अवगुण एक में होते हैं, वे संतान में भी आ जाते है और नस्ल सुधरने की बजाय बिगड़ती जाती है। कई रोग भी आनुवंशिक होते हैं। भाई-बहिन के विवाह को तो बहुत बुरा माना गया है। ऋग्वेद के यम-यमी सूक्त में इसका उल्लेख मिलता है।

प्राचीन मिस्र में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा थी। पशु-पक्षियों में भी ऐसा ही होता है। इसी कारण उसकी नस्ल एक सी रहती है। गायों की

इसके विपरीत वयस्क नारी यदि मैथुन से वंचित रहे या कौमार्य व्रत ग्रहण कर ले तो वह जल्दी ही बूढ़ी हो जाती है। देखने में आता है कि जो स्त्रियां अविवाहित रहती हैं उनका यौवन जल्दी ही ढल जाता है और उनका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। बाल विधवाओं का भी यही हाल होता है। विवाह के बाद युवतियों का सौन्दर्य ज्यादा निखर जाता है। इसका कारण यह है कि प्रकृति ने नारी को मातृत्व की भारी जिम्मेदारी दे रखी है। इसी कारण पुरुष और नारी के स्वभावों में भिन्नता होती है। चाणक्य नीति भी यही कहती है :

स्त्रीणां द्विगुण आहारो
लज्जा चापि चतुर्गणा ।
साहसं षड्गुणं चैव
कामश्चाष्टगुणः स्मृत ॥

स्त्रियों में पुरुष की अपेक्षा दुगुना आहार, चौगुनी लज्जा, छह गुना साहस तथा आठ गुनी कामेच्छा होते है।

योरप तथा अमेरिका के देशों में आजकल वर्जनाहीन समाज बनता जा रहा है। इसकी हवा हमारे देश में भी आ पहुंची है। पश्चिमी देशों में जो अनुसंधान हुए हैं, उनके अनुसार युवकों तथा युवतियों में मुक्त यौन सम्बन्ध बहुत होने लगे हैं। इस मामले में युवतियां युवकों से पीछे नहीं बल्कि आगे हैं और उनकी तरफ से पहल भी होती है।

स्त्रियों में शृंगार की प्रवृत्ति भी मुख्यतया पुरुषों को रिझाने के लिए ही होती है।

ब्रह्मचर्य का पालन पुरुष को तेजस्वी बनाता है, इसी कारण इस पर जोर दिया गया है। ब्रह्मचारिणी स्त्रियों का भी पुराणों में तथा इतिहास में उल्लेख मिलता है, परन्तु ये अपवाद स्वरूप हैं। स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य का विधान शास्त्रों में नहीं मिलता। यह व्यवस्था यौन विज्ञान को ध्यान में रखकर ही की गयी है।

न नीचोत्तमयोर्विवाहः ॥२७८॥

अगम्या गमनादायुर्यशः पुण्यानि क्षीयन्ते ॥२७९॥

नीच का उत्तम से विवाह उचित नहीं ॥२७८॥

अगम्या स्त्री से मैथुन आयु, यश तथा पुण्य का क्षय करता है ॥२७९॥

अहंकार का दर्जा इनमें सबसे नीचा है। अहंकार से भरा आदमी दूसरों को तुच्छ समझता है। वह हर बात में अपनी हेकड़ी जताता है। उसे अपने ऊपर बहुत गुरूर होता है। अंग्रेजी में इसे 'ईगोइज्म' कहते हैं।

यह अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है। अहंकारी आदमी से कोई बात करना पसंद नहीं करता, क्योंकि वह अपनी ही राग अलापता रहता है। इसके अलावा वह अपनी गलती कभी मंजूर नहीं करता, बल्कि उसे वाजिब ठहराने की कोशिश करता है। यह प्रवृत्ति हमारे देश के राजनेताओं में बहुत पायी जाती है। कुर्सी मिलते ही वे अहंकार से भर जाते है। उन पर सत्ता का मद भी सवार हो जाता है जो 'करेला नीम चढ़ा' की कहावत को चरितार्थ करता है। रावण और दुर्योधन ने अहंकार के कारण अपना सर्वनाश कर लिया था।

संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत् ॥२८१॥

संसद में शत्रु को क्रोधित नहीं करना चाहिए ॥२८१॥

संसद वह सभा होती है जिसमें किसी विषय पर विचार-विमर्श के लिए लोग एकत्र होते हैं।

अथर्ववेद से पता लगता है कि प्राचीनकाल में ग्राम की व्यवस्था के लिए ग्रामसभा होती थी, ग्रामों के प्रतिनिधियों की समिति होती थी और राजा को राजकाज में सलाह देने के लिए मंत्रियों की परिषद् होती थी जिसे आमंत्रण कहते थे। चाणक्य के समय में भी इसी से मिलती-जुलती व्यवस्था थी। इन्हीं को संसद कहा गया है। धार्मिक विषयों पर पंडितों के शास्त्रार्थ भी हुआ करते थे।

आधुनिक काल में भी लोकतंत्री व्यवस्था में यही परिपाटी चल रही है। परन्तु अब सभाओं का दायरा बहुत बढ़ गया है और इनकी किस्में भी बहुत हो गयी है। विभिन्न विषयों, समस्याओं आदि पर आये दिन विचार-गोष्ठियां, परिसंवाद, परिचर्चाएं आदि हुआ करती हैं। इनका सबसे बड़ा मंच संयुक्त राष्ट्रसंघ है जिसमें संसार भर के देशों के प्रतिनिधि चर्चाएं, वाद–विवाद और विचार विमर्श करते हैं। कोई देश किसी देश का मित्र होता है, किसी का शत्रु होता है और किसी के प्रति उदासीन होता है।

संसदों और विधानमंडलों में अलग-अलग पार्टियों के प्रतिनिधि शरीक होते हैं। एक सत्तापक्ष होता है दूसरा विपक्ष या प्रतिपक्ष। प्रतिपक्ष को भी शत्रु की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि विपक्षी पार्टियां सत्तारूढ़ पार्टी पर आक्रमण करती रहती हैं और उस गिराने के प्रयत्नों में लगी रहती हैं। वाद-विवाद में कभी-

नस्ल सुधारने के लिए एक जाति की गाय में दूसरी जाति के सांड से गर्भाधान कराया जाता है ।

हमारे शास्त्रों में सात पीढ़ी तक के संबंधियों को सपिंड माना गया है, अर्थात एक माता-पिता के गुण-अवगुण, संस्कार आदि सातवीं पीढी में जाकर पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं ।

नास्त्यहंकारसमः शत्रुः ।।२८०।।

अहंकार के समान कोई शत्रु नहीं ।।२८०।।

अहंकार शब्द अहम् से बना है । अहम् का अर्थ है, मैं । यह सर्वनाम एक मनुष्य को अन्य सब मनुष्यों से पृथक करता है क्योंकि सब अपने को 'मैं' कहते हैं । सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना में अहंकार का अन्त में आविर्भाव हुआ और सारे जड़—चेतन पदार्थ अलग-अलग हो गये । अहंकार ने एक मूल तत्व को अनेक रूप दे दिये ।

प्रचलित व्यवहार में अहंकार 'मैंपन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । जो नर सदा अपनी ही बातें करता है, अपनी डींग मारता है, अपने को सबसे श्रेष्ठ समझता है, उसे अहंकारी कहते हैं ।

अहंकार के पर्यायों के रूप में अभिमान, गर्व, दर्प, मद, घमंड, गुरूर आदि शब्दों का प्रयोग होता हैं, परन्तु ये समान अर्थ वाले नहीं ।

मनुष्य को अपने गुणों पर, अपनी संपत्ति पर, अपने वैभव पर, अपने कुल पर, अपनी जाति पर तथा अपने देश पर अभिमान होना स्वाभाविक है । परन्तु अभिमान मानसिक होता है और मनुष्य में आत्म-तोष तथा आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न करता है । इस आत्माभिमान पर चोट लगने से मनुष्य तिलमिला जाता है ।

गर्व में गौरव अर्थात बड़प्पन की भावना होती है । गर्वीला मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा समझता है । जिस वस्तु पर वह गर्व करता है, उसे दूसरी वस्तुओं से श्रेष्ठ समझता है । अभिमान जब अभिव्यक्त होने लगता है तब वह गर्व बन जाता है । इसे घमंड भी कह सकते हैं ।

लोगों पर अपनी धौंस जमाना और शेखी बघारना दर्प कहा जा सकता है ।

मद वह होता है जिसमें आदमी को अपनी अच्छी हैसियत का नशा चढ़ जाता है और वह आपे से बाहर हो जाता है ।

आयेगी तब शत्रु खुश होगा। अगर शत्रु का खुश होना उसे बुरा लगता है, तो उसका खुश होना शत्रु को बुरा लगेगा। मनुस्मृति कहती है : 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात जो व्यवहार अपने को अच्छा न लगे, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए।

शत्रु की विपत्ति पर सुखी होने से शत्रुता ज्यादा बढ़ती है जो आगे जाकर नुकसान पहुंचा सकती है। इसके विपरीत यदि विपत्ति में शत्रु के प्रति सहानुभूति दिखायी जाये और उसकी सहायता की जाये, तो हो सकता है कि शत्रु कृतज्ञ होकर मित्र बन जाये और शत्रुता सदा के लिए समाप्त हो जाये। शायर शकील बदायूनी की एक गजल का एक शेर है :

हर चीज नहीं इक मरकज पर इक रोज इधर इकरोज उधर
नफरत से न देखो दुश्मन को शायद वो मोहब्बत कर बैठे ।।

राजनीति में तो न सदा के मित्र होते हैं न शत्रु। अवसर के अनुसार मित्रता और शत्रुता बदलती रहती है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जो एक दूसरे के दुश्मन थे, उनमें से कई आज एक दूसरे के मित्र हैं और जो मित्र थे वे शत्रु हैं। जापान और अमेरिका, जर्मनी और फ्रान्स इसके उदाहरण हैं।

राजनीतिक पार्टियां भी इसी तरह अपने तेवर बदला करती हैं। चुनावी गठबंधन होते हैं और टूट जाते हैं। कई पार्टियां मिलकर सरकार बनाती हैं और फिर वे आपस में ही लड़ने लगती है।

चाणक्य ने इस सूत्र में मनुष्य की एक कमजोरी का बखान किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि शत्रु की विपत्ति पर सुखी होना चाहिए।

अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते ।।२८३।।

हितमप्यधनस्य वाक्यं न शृणोति ।।२८४।।

अधनः स्वभार्ययाऽप्यवमन्यत ।।२८५।।

पुष्पहीनं सहकारमापे नोपासते भ्रमराः ।।२८६।।

धनहीन मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है ।।२८३।।

निर्धन की हितकारी बातों को कोई नहीं सुनता ।।२८४।।

निर्धन अपनी पत्नी से भी अपमानित होता है ।।२८५।।

बौर झड़ जाने पर आम के पेड़ के पास भी भौंरा नहीं जाता ।।२८६।।

कभी तो इतनी गर्मी आ जाती है कि गाली-गलौच और हाथापाई तक की नौबत आ जाती है।

चाणक्य का यह सूत्र इन सभी तरह की सभाओं पर लागू होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सभा में अपने से मतभेद या शत्रुता रखने वाले की बात भी शान्ति और शालीनता से सुननी चाहिए और ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए जिससे मतभेदी या शत्रु का गुस्सा भड़क उठे। गुस्सा या क्रोध ऐसी चीज है जिसके आवेश में मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है और जो मन में आये वह बक देता है। इससे सुनने वाले को भी क्रोध आ जाता है और फिर वह सभा लड़ाई का अखाड़ा बन जाती है। मुख्य विषय गौण हो जाता है और व्यर्थ की बातों में सभा का समय नष्ट होता है।

गीता में कहा है कि जो मनुष्य सुहृद, मित्र, वैरी, उदासीन, द्वेषी आदि जनों के प्रति समभाव रखता है, वह श्रेष्ठ होता है। जो वाक्य भड़काने वाला नहीं होता और सत्य तथा प्रिय होता है, वह वाणी का तप कहा जाता है।

सभाओं का गौरव इसी में है कि उनमें बैठने वाले सब लोग एक-दूसरे की बातों को धैर्य से सुनें और उन पर विचार करें। वाद-विवाद में तर्क का सहारा लें पर उसे वितंडा न बनने दें।

शत्रुव्यसनं श्रवण सुखम् ॥२८२॥

शत्रु की विपत्ति सुनने में सुख होता है ॥२८२॥

मनुष्य का स्वभाव है कि शत्रु यदि विपत्ति-ग्रस्त हो जाये तो उसकी खबर सुनकर खुशी होती है। शत्रु की विपत्तियों का वर्णन लोग बहुत चाव से सुनते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने शत्रु का बुरा चीतता रहता है और जब उसकी यह अभिलाषा पूरी हो जाती है, तब उसका मन सुखी होता है।

राजनीति के क्षेत्र में तो यह सूत्र पूरी तरह चरितार्थ होता है। दो देशों के युद्ध में दोनों एक-दूसरे की हानि के समाचारों पर खूब खुशियां-मनाते है। चुनावों में खड़ी होने वाली हरेक पार्टी जब यह सुनती है कि दूसरी पार्टियों के उम्मीदवारों की हालत कमजोर है, तब उसे बहुत तसल्ली होती है।

परन्तु सामाजिक जीवन में शत्रु की विपत्ति पर प्रसन्न होना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। अगर कोई आदमी अपने शत्रु की विपत्ति पर खुश होता है, तो उसे यह भी सोचना चाहिए जब उस पर कोई विपत्ति

विद्यया ख्यापिता ख्यातिः ॥२८६॥

विद्या निर्धनों का धन है ॥२८७॥

विद्या को चोर भी नहीं छीन सकता ॥२८८॥

विद्या ख्याति फैलाती है ॥२८६॥

विद्या शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से बना है। सो विद्या का अर्थ ज्ञान है। परन्तु ज्ञान की तरह विद्या शब्द का प्रयोग भी कई अर्थों में होता है। अध्यात्म के प्रसंग में विद्या का अर्थ है वह ज्ञान जिससे मोक्ष प्राप्त हो : 'साविद्या या विमुच्यते', अर्थात विद्या वह है जो जीवन–मरण से छुटकार दिला दे। धर्म के प्रसंग में विद्या का अर्थ है धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र। चाणक्य के अर्थशास्त्र में चार विद्याओं का उल्लेख है: आन्विक्षिकी (तर्क अथवा दर्शन शास्त्र), त्रयी (तीन वेद), वार्ता (अर्थशास्त्र) तथा दंडनीति (राजनीति)। विद्याएं चौदह भी मानी जाती हैं। तंत्रशास्त्र में दस देवियों को दश महाविद्या कहा गया है। देवी के मंत्र का नाम भी विद्या है।

लौकिक अर्थों में विद्या सब विषयों के ज्ञान को कहते हैं। इसमें पुस्तकी शिक्षा के अलावा सब शिल्पों, कलाओं आदि का भी समावेश हो जाता है। परन्तु अनुभवहीन कोरी पुस्तकी विद्या को विद्या नहीं कह सकते। विद्या वही है जो मनुष्य को विद्वान अथवा किसी शिल्प या कला या व्यवसाय में निपुण बना दे। इस प्रकार की विद्या जिस मनुष्य के पास हो वह धनहीन होता हुआ भी धनवान है, क्योंकि विद्या को सब धनों से श्रेष्ठ माना जाता है। यह धन गुप्त धन होता है, इसलिए इसे कोई चुरा नहीं सकता।

जो मनुष्य विद्वान होता है या किसी विद्या का धनी होता है, वह ख्याति प्राप्त कर लेता है, अर्थात लोक–प्रसिद्ध हो जाता है, और उसकी ख्याति बढ़ती चली जाती है।

भर्तृहरि ने कहा है :

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यश सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बंधुजनो विदेश गमने विद्या परा देवता
विद्या राज्यसु पुज्यते न हि धनं विद्या विहीनः पशुः ॥
न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्या धनं सर्व धनप्रधानम् ॥

इन सूत्रों में बताया गया है कि निर्धनता अर्थात दरिद्रता बहुत बड़ा अभिशाप है। लोक-व्यवहार में मनुष्य के सारे काम धन से ही संपन्न होते हैं। निर्धन को रोटियों के भी लाले पड़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में उसकी बुद्धि विचलित हो जाती है और उसे भले बुरे का विवेक नहीं रहता। भूख अनेक अपराधों का कारण बन जाती है। तिहत्तरवें सूत्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है कि धनहीन मनुष्य की कैसी दशा हो जाती है।

धनहीन जन का समाज में आदर नहीं होता। सब उसका तिरस्कार करते हैं और उसे नफरत की निगाह से देखते हैं। इसलिए अगर वह हित की भी कोई बात कहता है तो लोग उस पर कान नहीं देते। यहां तक कि उसकी पत्नी भी उसका अपमान करती है। उसे निखट्टू कहकर उसका मजाक उड़ाती है। यह स्वाभाविक है। निर्धन मनुष्य अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर सकता सो गृहस्थी का सारा भार उसकी पत्नी को संभालना पड़ता है। धन के अभाव में संतान की दुर्दशा हो जाती है। माता को यह देखकर बहुत दुख होता है और जो पति इसके लिए जिम्मेदार होता है उसके प्रति उसके हृदय में आदर की भावना नहीं रहती। निर्धनता के कारण पति-पत्नी में झगड़ा होता रहता है। इसी बात को भौंरे के दृष्टान्त से समझाया गया है। आम के पेड़ में जब बौर आता है, तब भौंरे उस पर मंडराते रहते हैं, और बौर झड़ जाने के बाद उसके पास तक नहीं फटकते।

चाणक्य नीति में दरिद्रता के बारे में कई सूक्तियां हैं।

दरिद्रभावो विषमा सभात्र विनाग्निना ते प्रदहन्ति कायम् ॥
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता ॥
यस्यार्थस्तिस्य मित्राणि यस्यार्थास्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाल्लोके यस्यार्थाः स च जीवति ॥
त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं दाराश्च भृत्याश्च सुहृज्जनाश्च ॥

दरिद्रता और मूर्खों की सभा अग्नि के बिना ही शरीर को जला डालती है। मूर्ख का हृदय सूना होता है और दरिद्रता में सब कुछ सूना होता है।

जिसके पास धन है उसके मित्र होते हैं, उसके बंधु होते हैं, वही संसार में आदर पाता है और वही जीवित रहता है।

धन हीन मनुष्य को उसके मित्र, पत्नी, सेवक तथा सुहृद सब छोड़ देते हैं।

विद्या धनमधनानाम् ॥२८७॥

विद्या चौरैरपि न ग्राह्या ॥२८८॥

कबीर, आदि के नाम सदा चमकते रहेंगे। वाल्मीकि, तुलसी, कालिदास, शेक्सपीयर, शेख सादी की कृतियों को लोग कभी नहीं भूलेंगे। भर्तृहरि ने कहा है :

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति तेषां यशः काये जरां मरणजं भयम् ॥

शुभ कर्म अथवा रस से भरी कृतियों की रचना करने वाले कवीश्वर विजय प्राप्त कर चुके हैं। उनके यश रूपी शरीर को वृद्ध होने या मरने का भय नहीं।

शेखसादी ने लिखा है :

दौलते जावेद यापत हर कि निकू नाम जीस्त ।
कज उकवश् जिकेखैर जिन्दा कुनद नाम रा ॥
बस नामवर व जेरे जमी दफन कदी अन्द ।
कज हस्तीयशु ब रूए जमीं यह निशां ने मांद ॥
जिन्दस्त नामे फर्रुखे नौशेरवां ब अद्‌ल ।
गरचे दसे गुजश्ते कि नौशेरवां न मांद ॥
कारू हलाक शुद कि चेहल खाना गंज वाश्त ।
नौशेरवां न मुर्द कि नामे निकू गुजाश्त ॥

जिसका जीवन यशस्वी होता है वह हमेशा सुख पाता है क्योंकि उसके बाद उसकी कीर्ति उसके नाम को जिंदा रखती है।

बहुत से नामवर लोग जमीन में गाड़े हुए हैं जिनकी हस्ती का निशान भी जमीन पर नहीं रहा। लेकिन न्याय प्रियता के कारण नौशेरवां का नाम जिंदा है।

चालीस कोठे खजाना रखने वाला कारू नष्ट हो गया, लेकिन नौशेरवां नहीं मरा क्योंकि नेक नाम छोड़ गया है।

हमारे इस युग में महापुरुष गांधी हुआ है जिसकी कीर्ति भी अक्षय बनी रहेगी।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को ऐसे कर्म करने चाहिए जिनसे उसका नाम अमर हो जाये।

यः परार्थमुपसर्पति स सत्पुरुषः ॥२९१॥

जो परोपकार का अनुगमन करता है वह सत्पुरुष है ॥२९१॥

दीन–दुखियों के कष्ट दूर करना, आपत्ति–ग्रस्तों को सहायता देना, आश्रितों की रक्षा करना, ये सारे कार्य परोपकार की श्रेणी में आते हैं।

विद्या ही मनुष्य के रूप को निखारने वाली है और गुप्तधन है। विद्या भोग, यश और सुख प्राप्त कराने वाली हैं और गुरुओं का भी गुरु है। विद्या विदेश में बंधु के समान सहायक होती है। विद्या सबसे बड़ी देवता है। राजा भी विद्या की पूजा करते हैं, धन की नहीं। विद्या विहीन मनुष्य पशु होता है।

विद्या को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा छीन सकता है। विद्या को भाई नहीं बांट सकते और यह बोझ नहीं होती। विद्या खर्च करने पर ज्यादा बढ़ती जाती है। विद्या धन सब धनों में प्रधान है।

हमारे देश के स्कूलों और कालेजों में जो पुस्तकी शिक्षा दी जाती है उसे विद्या नहीं कह सकते। ऐसी विद्या के बारे में चाणक्य नीति कहती है :

पुस्तक प्रत्ययाधीतं नाऽधीतं गुरु सन्निधौ ।
सभा मध्ये न शोभन्ते जारगर्भा इव स्त्रियुः ॥

जिसने गुरु के समीप न बैठकर पुस्तक से ही विद्या प्राप्त करली हो, वह सभा में प्रतिष्ठित नहीं होता, जैसे व्यभिचार से गर्भवती स्त्री।

आजकल के विद्यार्थी गुरु को तो कुछ समझते ही नहीं। विद्यालयों में उपस्थिति को भी अनिवार्य नहीं मानते।

जो कुंजियों के सहारे या नकल करके परीक्षाएं पास करना चाहते हैं, वे चाहे जितनी डिग्रियां प्राप्त कर लें, उन्हें विद्या का धनी नहीं कह सकते।

यशः शरीरं न विनश्यति ॥२९०॥

यश रूपी शरीर कभी नष्ट नहीं होता ॥२९०॥

मनुष्य का शरीर नश्वर है, मरने के बाद नष्ट हो जाता है। फिर उसकी कोई स्मृति नहीं रहती। आगे की पीढ़ियां उसका नाम तक भूल जाती हैं। परन्तु जिस मनुष्य ने अपने जीवन में यश कमाया हो, उसका नाम अमर हो जाता है। शरीर नष्ट होने पर भी उसका यश रूपी शरीर सबके सामने रहता है। कहा है : 'कीर्तिर्यस्य स जीवति', अर्थात जिसकी कीर्ति है वह सदा जीवित रहता है, मर कर भी नहीं मरता। उसके नाम को काल नहीं खाता।

यश या कीर्ति उसी को प्राप्त होती है जो अपने जीवनकाल में लोक कल्याण के चिरस्थायी काम कर जाता है या जिसका जीवन ऐसा होता है कि लोग उससे सदा प्रेरणा ग्रहण करते रहें। वीरों, देश-विजेताओं तथा किसी क्षेत्र में उत्कृष्टता प्राप्त करने वालों के नाम इतिहास के पृष्ठों में ही लिखे मिलते हैं, परन्तु मनुष्यों को सीधे-सच्चे मार्ग पर चलने का उपदेश देने वालों के नाम लोगों की जबान पर चढ़ जाते हैं। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, येशु, मोहम्मद, नानक,

इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम् ।।२६२।।
इन्द्रियों को शांत रखने वाला शास्त्र है ।।२६२।।

अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति ।।२६३।।
शास्त्र के विपरीत कार्य करने की प्रवृत्ति को शास्त्र का अंकुश रोक देता है । २६३।।

शास्त्र शब्द 'शास्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है शासन करना, अथवा निर्देश देना । सो शास्त्र उन नियमों तथा आदेशों को कहते हैं जो मनुष्य के कार्यो, व्यापारों, व्यवहारों आदि की मर्यादाओं का निर्देश देते हैं । शास्त्र के नियम दो प्रकार के होते हैं : विधि तथा निषेध । जिन मर्यादाओं का मनुष्यों को पालन करना आवश्यक है उन्हें विधि कहते हैं । निषेध उन कर्मो को कहते हैं जो वर्जित अथवा निषिद्ध होते हैं ।

मनुष्य की इन्द्रियों के बारे में पिछले कई सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है । इन्द्रियां चंचल होती है और सांसारिक विषय-भोगों की ओर दौड़ती हैं । शास्त्र निर्देश देता है कि इन्द्रियों की चंचलता पर रोक लगा कर उन्हें शांत करो । इसी को अंकुश या लगाम लगाना कहते हैं । कठोपनिषद् में कहा है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ।
बुद्धिं सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
यस्त्वविज्ञान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि दुष्टाश्या इव सारथेः ।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सहा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे: ।।

आत्मा को रथी (रथ का सवार) जानो और शरीर को रथ जानो । बुद्धि को सारथी जानो और मन को लगाम जानो ।

जो अविज्ञानी है और जिसका मन सदा डांवाडोल रहता है, उसकी इन्द्रियां उसी प्रकार बेकाबू हो जाती है, जिस प्रकार सारथी के लिए मुंहजोर घोड़े । (परन्तु) जो विज्ञानवान है तथा जिसका मन सदा स्थिर रहता है, उसकी इन्द्रियां उसी प्रकार वश में रहती है जिस प्रकार सारथी के अच्छे घोड़े ।

मनुष्य जब शास्त्र के नियमों को पढ़ता या सुनता है, तब उसकी बुद्धि उन्हें ग्रहण करती है और यह सद्बुद्धि मन पर लगाम लगाती है । महाकवि भारवि करता है :

परोपकार की महिमा सभी धर्म-ग्रन्थों तथा शास्त्रों में बखानी गयी है। जो मनुष्य परोपकार के मार्ग पर चलता है, उसे सत्पुरुष या सन्त कहते हैं। सूक्ति है : 'परोपकाराय सतां विभूतयः' अर्थात् परोपकार ही सत्पुरुषों की शोभा है।

सात्विक दान की तरह सात्विक परोपकार वही होता है जिसके पीछे प्रत्युपकार की भावना न हो, अर्थात यह भावना न हो कि जिसका उपकार किया जा रहा है, उससे बदले में कुछ प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, संत तथा सत्पुरुष तो अपकार करने वाले का भी उपकार करते हैं। उपकार निरपेक्ष होता है। तुलसीदास ने कहा है :

तुलसी संत सुअंब तरु फूल फलहिं पर हेत।
इतते ये पाहन हने उतते वे फल देत ॥

संत तथा आम के पेड़ दूसरों के लिए ही फूलते-फलते है। आम के पेड़ पर पत्थर फेंकने से बदले में वह फल देता है। इसी प्रकार सत्पुरुष चोट पहुंचाने वाले के साथ भी उपकार करता है। किस्सा है कि एक साधु नदी में स्नान कर रहा था। एक बिच्छू पानी में बहता हुआ आया। साधु ने उसे पानी से बाहर उठाया तो उसने डंक मार दिया। बिच्छू हाथ से छूटकर फिर पानी में गिर गया तो साधु ने उसे फिर निकाला, पर उसने फिर डंक मार दिया। ऐसा कई बार हुआ। तब एक अन्य स्नानार्थी ने साधु से कहा : बिच्छू तुम्हें बार-बार डंक मार रहा है, इसे छोड़ क्यों नहीं देते ? साधू ने जवाब दिया: डंक मारना इसका स्वभाव है और परोपकार मेरा स्वभाव है, जब यह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, तो मैं अपना स्वभाव क्यों छोडूं ?

भर्तृहरि का वचन है : 'एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये:' अर्थात सत्पुरुष अपना स्वार्थ तज कर परोपकार में रत रहते है। कहावत है : 'नेकी कर कुए में डाल'।

सत्पुरुष दीन-हीनों की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं तथा सेवा कार्य में आने वाले कष्टों तथा विघ्न-बाधाओं की परवाह नहीं करते। वे बदले में अपने लिए कुछ नहीं चाहते, पर इस पुण्य के प्रताप से संपदा अपने आप उनके पास आ जाती है। चाणक्य नीति कहती है :

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदय सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां संपदः तुः पदे पदे ॥

जिन सत्पुरुषों के हृदय में परोपकार की भावना जागती रहती है उनकी विपत्तियां नष्ट हो जाती है और उन्हें पग-पग पर संपत्तियां मिलती रहती हैं।

के कानों के कीड़े झड़ जायें। सभ्य जनों को ऐसी भाषा नहीं सीखनी चाहिए। सभ्य समाज में बोली जाने वाली भाषा शिष्ट और शालीन होती है।

विदेशियों की भाषा भी नहीं सीखनी चाहिए, इसका अर्थ यह है कि सबको अपने देश की भाषा ही मुख्यतया सीखनी चाहिए। विदेशी भाषा सीखने का क्या परिणाम होता है, यह हमारे देश में खूब अच्छी तरह देखने में आ रहा है। लोग अंग्रेजी के साथ अंग्रेजियत के भी गुलाम हो गये हैं।

परन्तु म्लेच्छों अर्थात असभ्य लोगों तथा विदेशियों में भी कुछ अच्छी बातें होती हैं। ये बातें उनसे सीखनी चाहिए। हमारे देश के बहुत लोगों ने अंग्रेजों की वे बातें तो अपनालीं जो हमारी सभ्यता, संस्कृति तथा भौगोलिक परिस्थिति से मेल नहीं खातीं, परन्तु अंग्रेज कौम में जो अनेक गुण हैं, उन्हें हमने नहीं अपनाया। तुलसीदास ने कहा है :

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय॥

गुणे न मत्सरः कर्त्तव्यः ॥२९७॥

शत्रोरपि सुगुणो ग्राह्यः ॥२९८॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ॥२९९॥

गुण में मत्सर नहीं करना चाहिए ॥२९७॥

सद्गुण शत्रु से भी ग्रहण करने योग्य होते हैं ॥२९८॥

विष से भी अमृत ग्रहण करना चाहिए ॥२९९॥

मत्सर शब्द के दो अर्थ होते हैं : ईर्ष्या और घमंड। सो इस सूत्र के भी दो अर्थ किये जा सकते हैं।

गुणवान से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। ऐसा अक्सर होता है कि गुणहीन लोग गुणवानों को देखकर जलते हैं और उनकी निन्दा करते हैं। यह हीन मनोवृत्ति है। वास्तव में गुणवानों का आदर करना चाहिए और उनसे ईर्ष्या करने की बजाय उनके गुणों को सीखना चाहिए। चाणक्य नीति में कहा है : 'मूर्खाणां पंडिता द्वेष्या' अर्थात मूर्ख लोग पंडितों से द्वेष करते हैं। यह भी कहा है :

नावेत्तयो यस्य गुण प्रकर्षं सतं सदा निन्दति नाऽत्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुंभलब्धा मुक्ता परित्यज्य बिभर्ति गुंजाम्॥

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ।।

सुना हुआ अच्छा शास्त्र शरीर का भूषण होता है। अपने मनोविकारों पर विजय प्राप्त करके शांत रहना शास्त्र के ज्ञान की शोभा है।

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है मनुष्यों को केवल शास्त्र-विहित कर्म करने चाहिए और निषिद्ध कर्मों का त्याग करना चाहिए। शास्त्रों को पढ़ने या सुनने का यही प्रयोजन है।

नीचस्य विद्या नोपेतव्या ।।२६४।।

नीच की विद्या के समीप भी नहीं जाना चाहिए ।।२६४।।

म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत् ।।२६५।।

म्लेच्छ की बोली नहीं सीखनी चाहिए ।।२६५।।

म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम् ।।२६६।।

म्लेच्छ से भी अच्छी बातें ग्रहण करने योग्य होती है ।।२६६।।

विद्या की परिभाषा लिखी जा चुकी है। किसी भी विषय, कार्य, विज्ञान, कला-कौशल, आदि की जानकारी विद्या कहलाती है।

नीच अर्थात दुष्टजनों की विद्या भी नीच होती है। वे जो कुछ भी सीखते हैं उसका दुरुपयोग करते हैं। अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग दुष्टों के दमन के लिए किया जाता है। परन्तु दुष्टजन अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखकर लूटमार करते हैं और हत्याएं करते हैं। तरह-तरह के भेष बदलना और तरह तरह की बोलियां बोलना भी विद्याएं हैं। नीच लोग इनका उपयोग करके दूसरे लोगों को ठगते हैं या धोखा देते हैं। छपाई की विद्या सीखकर नीच जन जाली नोट छापते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसी विद्याओं के नजदीक भी नहीं जाना चाहिए।

म्लेच्छ शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है। प्राचीन काल में अनार्य लोगों को म्लेच्छ कहते थे। कालान्तर में म्लेच्छ का अर्थ असभ्य, असंस्कृत मनुष्य हो गया। विदेशियों, को भी म्लेच्छ कहा जाता था। इस लिहाज से म्लेच्छ भाषा के भी दो अर्थ हो सकते हैं। एक असभ्य उजड्ड लोगों की भाषा, दूसरी विदेशियों की भाषा।

असभ्य लोगों की भाषा फूहड़, गन्दी और अश्लील होती है। निचले तबके के लोग आपस में जिस तरह बोलते-बतलाते हैं, उसे सुनकर शिक्षित लोगों

मनुष्य अवस्था के अनुसार सम्माननीय होता है ॥३००॥
स्थान ही मनुष्य को पुजाता है ॥३०१॥

अवस्था के दो अर्थ हैं : दशा और उम्र । दशा मनुष्य की तत्कालीन स्थिति होती है । ऐश्वर्य और दरिद्रता दशाएं हैं, विद्वत्ता और मूर्खता भी दशाएं हैं । इसी प्रकार और भी कई दशाएं हो सकती हैं । मनुष्य का सम्मान इन दशाओं के अनुसार होता है । धनवान और गुणवान विद्वान का सब सम्मान करते हैं । अधिक धनवान तथा विद्वान का अधिक सम्मान होता है, और कम का कम । यह लोक-व्यवहार है ।

उम्र से भी मनुष्य का सम्मान होता है । बड़े-बूढ़ों, बुजुर्गों का सब सम्मान करते हैं । छोटी उम्र के लोग अपने से बड़ी उम्र के लोगों का सम्मान करते हैं ।

स्थान का अर्थ मनुष्य का निवास-स्थान भी है और पद भी ।

कोई मनुष्य जिस ग्राम, नगर अथवा देश में रहता है, वहां उसे लोग जानते हैं और अवस्था के अनुसार उसका सम्मान करते हैं । परदेश में जहां उसे कोई नहीं जानता हो, वहां उसकी पूछ नहीं होती ।

पूजनीय वही होता है जो ऊंचे पद पर बैठा हो । आजकल की भाषा में उसे कुर्सी कहते हैं । पूजा मनुष्य की नहीं बल्कि कुर्सी की होती है, यह कुर्सी चाहे किसी धर्म-स्थान की हो, या राजनीति की । गद्दी पर बैठे महन्तों और मठाधीशों की पूजा होती है । इसी प्रकार राज्य शासन में जो आदमी किसी पद पर बैठा हो, उसकी पूजा होती है, अर्थात लोग उसका अभिवादन करते हैं । कोई मामूली आदमी भी जब मंत्री की कुर्सी पर आसीन हो जाता है, तब लोग हाथ जोड़कर उसको नमस्कार करते हैं । इसी तरह बड़े अफसरों को भी लोग सलाम झुकाते हैं । लेकिन कुर्सी से हट जाने पर आदमी की हैसियत मामूली हो जाती है :

कहा है :

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशाः नखाः नराः ॥

दांत, बाल, नाखून, और नर अपने स्थान से हट जाने पर शोभा नहीं पाते । दांत, बाल, और नाखून जब तक शरीर के अंग रहते हैं तब तक उनकी खूब देखभाल की जाती है, पर गिर जाने या कट जाने पर वे घूरे पर फेंक दिये जाते हैं । यही हाल मनुष्य का होता है ।

स्थानस्थितस्य कमलस्य सहायौ वारि भास्करौ ।
स्थानच्युतस्य तस्यैव क्लेद शोष करावुभौ ॥

जो जिसके उत्तम गुणों को नहीं जानता, वह उसकी निन्दा करता है। इसमें आश्चर्य की वात नहीं। जैसे भीलनी हाथी के मस्तक से प्राप्त होने वाली मुक्ता को छोड़कर घुंघची पहनती है।

यदि अपने में कोई गुण हो तो उसका घमंड नहीं करना चाहिए। गुणवान मनुष्य विनयशील होता है। अपने गुणों का वखान नहीं करता। विदुर नीति कहती है :

अर्थमहान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पंडित उच्यते॥
विद्यामदो धनमदः तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानाम् एत एव सतां दयाः॥

धन, बड़ी वस्तु, विद्या तथा ऐश्वर्य को पाकर जो इठलाता नहीं फिरता वह पंडित कहलाता है।

विद्या, धन तथा ऊंचा कुल, ये घमंडियों के लिए घमंड के तथा सज्जनों के लिए नम्रता के कारण होते हैं।

पिछले एक सूत्र में कहा गया है कि अच्छी वातें म्लेच्छ से भी ग्रहण करनी चाहिए। अव कहा है कि शत्रु से भी सद्गुण ग्रहण करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई सद्गुण होता है। सद्गुण कहीं भी हो, वह ग्रहण करने योग्य होता है। इसमें शत्रु और मित्र का विचार करना उचित नहीं।

तुलसीदास ने कहा है :

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा।
उभय अपार उदधि अवगाहा॥

दुष्ट और सज्जन दोनों इस संसाररूपी समुद्र में गोता लगाते हैं। दुष्ट जन पाप और अवगुण ग्रहण करता है और साधु गुण ग्रहण करता है।

इसी वात को विष के उदाहरण से पुष्ट किया है। विप मारक होता है, परन्तु उसी का औपधि के रूप में प्रयोग किया जाये, तो वह अमृत अर्थात जीवनदाता वन जाता है। कहा है : 'नास्ति मूलंमनौपधम्' और 'विपस्य विपमौपधम्' अर्थात् ऐसी कोई जड़ी-वूटी नहीं जो औपधि न हो और एक विप दूसरे विप के प्रभाव को नष्ट करके औपधि का काम देता है।

अवस्थाया पुरुषः सम्मान्यते ॥३००॥

स्थान एवं नराः पूज्यन्ते ॥३०१॥

सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। वेद ही आर्य धर्म और संस्कृति का आधार हैं। इन्हीं के अनुसार आचरण करना आर्यो का कर्त्तव्य है।

वैदिक धर्म की व्याख्या के लिए सबसे पहले मनु ने स्मृति की रचना की जिसमें धर्म के लक्षणों को परिभाषित किया। बाद में जैसे-जैसे काल और परिस्थिति में परिवर्तन होते गये, वैसे-वैसे उनके अनुकूल स्मृतियों की रचना होती गयी। इन स्मृतियों में मनुष्य के निजी तथा सामाजिक आचार-व्यवहार के नियम हैं। इन्हीं को मर्यादाएं कहते हैं। मर्यादा शब्द 'मर्य्या' से बना है जिसका अर्थ है सीमा। इसलिए मर्यादा मनुष्यों के आचरण की सीमा बांधती है।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, धर्म के इन मूल तत्वों का पूरी तरह पालन करना लौकिक जीवन में न तो सम्भव है और न शक्य। इसलिए स्मृतियों तथा नीतिशास्त्रों में इनकी मर्यादाएं बता दी गयी है। नीति भी एक प्रकार से मर्यादा का ही नाम है। मर्यादाओं के उल्लंघन को ही अनीति कहते हैं। इसलिए सूत्र कहता है कि मर्यादाओं का कभीं उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

नास्त्यर्धः पुरुष रत्नस्य ।।३०४।।

न स्त्रीरत्न समं रत्नम् ।।३०५।।

सुदुर्लभं रत्नम् ।।३०६।।

पुरुषरत्न से अधिक मूल्यवान कोई पदार्थ नहीं ।।३०४।।

स्त्री रत्न के समान कोई रत्न नहीं ।।३०५।।

रत्न बहुत दुर्लभ होते हैं ।।३०६।।

साधारण तौर पर रत्न शब्द का व्यवहार मूल्यवान मणियों या जवाहर के अर्थ में होता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में नव रत्नों का उल्लेख है: मोती, स्वर्ण, वैदूर्य (लहसुनिया), पद्मराग (माणिक्य), पुष्पराग (पुखराज), गोमेद, नीलम, गारुत्मत (पन्ना) तथा विद्रूम (मूंगा)। आजकल हीरा भी नवरत्नों में गिना जाता है।

प्राचीन काल में किसी बहुमूल्य तथा दुर्लभ वस्तु को भी रत्न की संज्ञा दी जाती थी। पौराणिक आख्यान के अनुसार देवों तथा असुरों ने अमृत की प्राप्ति के लिए समुद्र का मंथन किया था। इस मथन से अमृत सहित चौदह वस्तुएं प्राप्त हुई थीं, जिन्हें चतुर्दश रत्न कहा जाता है: लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, सुरा, धन्वन्तरि, चन्द्रमा, कामधेनु, पारिजात वृक्ष, सुरेश्वर गज, रंभा अप्सरा, सप्तमुखी अश्व, विष, धनुष तथा शंख।

कमल जब अपने स्थान पर होता है तब जल और सूर्य दोनों उसकी सहायता करते हैं परन्तु सरोवर से बाहर निकाल दिये जाने पर पानी उसे सड़ा देता है और सूर्य सुखा देता है।

आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत् ॥३०२॥

कदापि मर्यादां नातिक्रमेत् ॥३०३॥

मनुष्य को आर्यस्वभाव में दृढ़ता से जमा रहना चाहिए ॥३०२॥

मर्यादाओं का कभी उल्लंघन मत करो ॥३०३॥

वैदिक साहित्य में आर्य शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। प्राचीन काल में विन्ध्याचल पर्वत के उत्तर में स्थित प्रदेश का नाम आर्यावर्त था।

वैदिक काल में इस शब्द का व्यवहार द्विजों, अर्थात ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए किया जाता था। इनसे निम्न वर्गों को तथा विदेशियों को भी अनार्य कहा जाता था। कहीं-कहीं वैश्य को आर्य कहा गया है। कालान्तर में यह शब्द श्रेष्ठता का सूचक बन गया। स्मृति में आर्य का यह लक्षण बताया गया है :

कर्त्तव्यमाचरन् कामं अकर्त्तव्यमनाचरम्।
तिष्ठति प्राकृताचारे सतु आर्य इति स्मृतः ॥

जो मनुष्य सदा अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है और परम्परागत आचार-व्यवहार में कायम रहता है उसे आर्य कहते हैं।

कर्त्तव्य का अर्थ है शास्त्र-विहित वर्णाश्रम धर्म का पालन।

आर्य शब्द के इसी श्रेष्ठता सूचक अर्थ को ग्रहण करके भगवान बुद्ध ने बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है। आर्य तथा आर्या संबोधन जैन आगमों में भी मिलते हैं।

आधुनिक मानव-विज्ञान (एन्थ्रोपोलोजी) के अनुसार मनुष्य जाति के तीन नृवंश (नस्लें) हैं : गोरावंश, कालावंश और पीलावंश। गोरेवंश को आर्य नृवंश नाम दिया गया है। उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा योरोप के लोग आर्य नृवंश के हैं। ईरान शब्द तो आर्यन का ही अपभ्रंश है। ईरान के पदच्युत शाह ने आर्य मेहर (आर्य मार्तण्ड) की उपाधि धारण की थी। आर्य नृवंश के लोग उत्तरी योरोप से भारत में आये या भारत से उत्तर-पश्चिम के देशों में फैले, इस विषय पर बहुत मतभेद है। परन्तु भारतीय आर्यो के वैदिक साहित्य से पहले का कोई साहित्य कहीं नहीं मिलता। ऋग्वेद को संसार का

अपमानं तथा लज्जा बंधनं भयमेव च।
रोग शोकौ स्मृतेभंगो मृत्युश्चाष्टविधः स्मृतः ॥

अपमान, लज्जा, वंधन (कैद), भय, रोग, शोक तथा स्मरणशक्ति का नाश, वे मृत्यु के आठ प्रकार कहे गये हैं।

अपमान अथवा अपयश मनुष्य की मृत्यु के समान होता है। इसका अर्थ यह है कि जो आदमी बदनाम हो जाता है उसकी सामाजिक मृत्यु हो जाती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि कुछ लोग अपमान को सहन नहीं कर सकते और आत्महत्या कर लेते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है :

संभावितस्य चाकीर्त्तिः।
मरणादतिरिच्यते ॥

माननीय पुरुष की अपकीर्त्ति मृत्यु से भी अधिक बुरी होती है।

मान को वोलचाल की भाषा में पत या साख भी कहते हैं। आदमी को अपनी पत या साख नहीं गंवानी चाहिए। जिसकी साख गिर जाती है उस पर कोई विश्वास नहीं करता। व्यापार के क्षेत्र में तो साख का बहुत महत्व है।

चाणक्य नीति कहती है :

वरं प्राण परित्यागो मान भंगे न जीवनात्।
प्राणत्यागे क्षणं दु:ख मान भंगे दिने दिने ॥

मान भंग होने पर जीने की अपेक्षा मर जाना वेहतर है क्योंकि मरने में तो क्षणभर के लिए ही दुख होता है, परन्तु मान भंग होने पर सदा दुख वना रहता है।

परन्तु आजकल इसके अपवाद भी देखने में आते हैं, खासकर राजनीति के क्षेत्र में। राजनेता, राजनीतिक तथा राजकाज में लगे लोग तरह-तरह के भ्रष्टाचार करते है और वदनामी से जरा भी नहीं डरते। जनता कुछ भी कहा करे, अखवार चाहे जो कुछ छापते रहें, इन पर कोई असर नहीं होता।

नास्त्यलसस्य शास्त्राधिगमः ॥३०८॥

आलसी मनुष्य को शास्त्र की प्राप्ति नहीं होती ॥३०८॥

आलसी आदमी शास्त्रों में पारंगत नहीं हो सकता। शास्त्र से यहां तात्पर्य केवल धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र से नहीं। सभी प्रकार की विद्याओं का व्यावहारिक ज्ञान शास्त्र कहलाता है। सांख्य शास्त्र, योग शास्त्र, न्याय शास्त्र, अर्थ शास्त्र, शिल्प शास्त्र, युद्ध शास्त्र, संगीत शास्त्र, काम शास्त्र आदि इसके

वैदिक काल की राज्य-व्यवस्था में राजा के मुख्य परामर्शदाता रत्न या रत्नी कहलाते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी सूचियां दी हुई हैं। इनमें राजपुरोहित, सेनापति, पटरानी, ग्रामप्रधान, कोषाध्यक्ष आदि गिने जाते थे। राज्याभिषेक तथा राजसूय यज्ञ में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी।

इसी वैदिक परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य की सभा में नवरत्न थे : धनवन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शुक, वेताल भट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वराह-मिहिर और वररुचि। अकवरी दरवार के भी नौ रत्न प्रसिद्ध हैं।

चाणक्य ने जल, अन्न तथा सुभाषित को भी संसार के तीन रत्न कहा है।

रत्न वहुमूल्य तथा दुर्लभ होते हैं, उनकी आभा कभी कम नहीं होती तथा उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। इन्हीं गुणों को लेकर कालान्तर में ऐसे लोगों को भी नर–रत्न कहा जाने लगा जिन्होंने जीवन के किसी भी क्षेत्र में अक्षय कीर्ति प्राप्त की हो। भारत सरकार की 'भारत-रत्न' की सर्वोच्च उपाधि इसी प्रसंग में रखी गयी है।

रत्न वहुमूल्य होते हैं, इसी प्रकार नर–रत्न भी समाज की वहुमूल्य संपत्ति होते हैं। इनका महत्व अन्य सभी संपदाओं की अपेक्षा अधिक होता है।

फिर कहा है कि स्त्री के समान कोई रत्न नहीं होता। इससे पता लगता है कि प्राचीन काल में नारी को कितना महत्व दिया जाता था। मनु ने कहा है : "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः,' अर्थात जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। नारी को रत्न इसलिए कहा है कि भार्या अर्थात पत्नी के रूप में वह गृहस्थ का संचालन करती है और माता के रूप में सन्तान उत्पन्न करती है तथा उनका लालन–पालन करती है।

जिस प्रकार रत्न दुर्लभ होते हैं उसी प्रकार नर-रत्न तथा नारी-रत्न भी दुर्लभ होते हैं। इसका अर्थ यह है कि धर्म के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का सच्चाई से पालन करने वाले नर–नारी वहुत कम मिलते हैं।

अयशो भयं भयेषु ॥३०७॥

अपयश भयों में सवसे अधिक भयंकर होता है ॥३०७॥

मनुष्य को अपयश यानी वदनामी से सदा डरना चाहिए। कहावत है : वद अच्छा वदनाम वुरा। जो आदमी वदनाम हो जाता है उसकी तरफ सब उंगलियां उठाते हैं। समाज में उसकी सर्वत्र निन्दा होती है।

कुछ पुरुष अधवीच के नज़र आते हैं जो न तो नारी होते हैं न नर। ऐसे प्रतिष्ठाहीन जनानिये कोई भी काम करने के अयोग्य होते हैं।

लम्पट पुरुष से स्त्रियां इसलिए घृणा करती है कि वह उन्हें बुरी निगाह से देखता है। लम्पट पति से उसकी पत्नी भी तंग आ जाती है और उसकी अवज्ञा करने लगती है। इसी प्रकार जनानिये का भी स्त्रियां तिरस्कार करती हैं और उसका मखौल उड़ाती हैं।

तात्पर्य यह है कि पुरुषों को मर्यादा में रहकर काम का सेवन करना चाहिए जिससे चित्त धर्म से उपराम न हो और स्वास्थ्य बना रहे। अस्वस्थ मनुष्य कोई कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकता। स्त्रियों जैसा व्यवहार भी पुरुषों के लिए अनुचित तथा अशोभनीय है।

न पुष्पार्थी सिंचति शुष्कतरुम् ॥३११॥

पुष्प की इच्छा करने वाला सूखे पेड़ को नहीं सींचता ॥३११॥

अद्रव्यप्रयत्नो बालुका क्वाथनादनन्यः ॥३१२॥

अद्रव्य के लिए प्रयत्न करना बालू को उबालने के समान निरर्थक होता है ॥३१२॥

पेड़ या पौधे में फूल तभी आते हैं जब वह हरा-भरा हो। सूखे पेड़-पौधे को चाहे जितना सींचा जाये, उसमें फूल नहीं आ सकते। इसी प्रकार प्रयत्न उसी कार्य में सफल होता है जिसमें सफलता की संभावना हो। इसलिए कोई प्रयत्न करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि उसके सफल होने की आशा या संभावना है या नहीं। बिना सोचे-विचारे कोई काम हाथ में लेना मूर्खता ही कहा जा सकता हैं।

राज-काज में तो इस बात पर बहुत ध्यान देने की जरूरत है कि भावना के वशीभूत होकर या क्षणिक राजनीतिक लाभ उठाने के खयाल से ऐसे काम शुरू न किये जायें जिनका कोई फल न निकलता हो। अन्त में परिणामहीन कार्य को हाथ में लेने से उसके लिए किया गया प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है और राष्ट्र को हानि उठानी पड़ती है।

अद्रव्य के लिए प्रयत्न इसी को कहा गया है। 'अद्रव्य' के तीन अर्थ किये जा सकते हैं। एक—वस्तु जो वास्तविक न हो अथवा फल देने वाली न हो। दो—कुवस्तु यानी बुरी चीज। तीन-कुद्रव्य अर्थात् अनुचित उपायों से कमाया हुआ धन। ऐसे धन को कलुषित धन या कालाधन कहते हैं। इन तीनों ही अद्रव्यों के

उदाहरण हैं। किसी भी शास्त्र को सीखने के लिए अनथक तथा अनवरत परिश्रम, अध्यवसाय तथा लगन आवश्यक होते हैं। आलसी आदमी आराम-पसंद और आराम-तलब होता है। वह कोई काम नहीं करना चाहता। ऐसा आदमी कुछ नहीं सीख सकता। वह हर काम को कल पर टालता रहता है। इसलिए कहा है :

आलस्याद् बुद्धिमान्द्यंच आलस्यात् कार्यवैक्लवम् ।
आलस्यादवनतिश्चैव गौरवं तेन नश्यति ।।

आलस्य से बुद्धि मंद हो जाती है, कार्य बिगड़ जाते हैं, मनुष्य की अवनति हो जाती है और उसका गौरव नष्ट हो जाता है।

न स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्म कृत्यंच ।।३०६।।

स्त्रैण पुरुष को न तो स्वर्ग प्राप्त होता है और न वह कोई धर्म कार्य कर सकता है ।।३०६।।

स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यते ।।३१०।।

स्त्रैण पुरुष की स्त्रियां भी अवज्ञा करती हैं ।।३१०।।

स्त्रैण पुरुष उसे कहते हैं जो स्त्रियों में रत रहता है। वह महाकामुक होता है और उसे हर समय स्त्रियों से रमण की इच्छा तथा लालसा रहती है। तुलसीदास ने कहा है: 'कामिहि नारि पियारि', अर्थात कामी पुरुष को नारी ही प्यारी होती है। विषय भोगों में लिप्त लम्पट पुरुष चार पुरुषार्थों में से केवल 'काम' का ही चिन्तन करता है तथा धर्म, अर्थ और मोक्ष की ओर से बिलकुल उदासीन रहता है।

ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।

अधिक कामोपभोग से शरीर भी निर्बल हो जाता है और रोगों का शिकार बन जाता है। इस प्रकार मन और शरीर दोनों से अस्वस्थ मनुष्य का जीवन निरर्थक हो जाता है।

स्त्रैण का एक और भी अर्थ है जिसे जनानिया कहते हैं। जनानिया आदमी स्त्रियों जैसे हाव-भाव प्रदर्शित करता है और पुरुषोचित कर्मों से विमुख हो जाता है। राजिया का एक दूहा है :

ना नारी ना नाह अधविचला दीसै अपत ।
कारज सरै न काह रांडोल्या सूं राजिया ।।

कारण को 'कॉज' कहते हैं। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण तीन प्रकार के होते हैं: कर्ता, उपादान और निमित्त। कोई भी कार्य हो, उसे करने वाला अर्थात कर्ता होना चाहिए। कार्य के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा साधनों को उपादान कहते हैं। कार्य के लिए जो उपाय किया जाता है, वह निमित्त होता है। इसके लिए मिट्टी के घड़े का दृष्टान्त दिया जाता है। कुम्हार चाक पर मिट्टी का लोंदा रख कर और चाक को घुमाफर घड़ा वनाता है। इस प्रकार घड़ा रूपी कार्य के तीन कारण वन जाते हैं। कुम्हार कर्त्ता है, मिट्टी उपादान है और चाक को घुमाने वाला डंडा निमित्त है। चाक को घुमाये विना घड़ा नहीं वन सकता।

गीता में आख्यान है कि जव अर्जुन ने कृष्ण से कहा कि मैं युद्ध में अपने स्वजनों को नहीं मारना चाहता, तव कृष्ण ने उससे कहा: 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' अर्थात् हे अर्जुन, ये सव तो मरने वाले ही हैं, तू तो इनकी मृत्यु का निमित्त वन जा। गीता में ही निमित्त शव्द का प्रयोग लक्षण के अर्थ में भी हुआ है। अर्जुन ने कृष्ण से कहा था: 'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव', अर्थात्, हे कृष्ण मुझे विपरीत लक्षण दीख रहे है।

मनुष्य जो कर्म किसी उद्देश्य से करता है उसे नैमित्तिक कर्म कहते है, क्योंकि यह जीवन यात्रा पूरी करने का निमित्त होता हैं।

चाणक्य के इन सूत्रों में निमित्त शव्द का प्रयोग निमित्त कारण के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। कार्य सफल तभी होता है जब उसके उपयुक्त निमित्त कारण हों। इसलिए कार्य की सफलता यह वताती है कि उसके निमित्त कारण सही थे, अर्थात् उसके लिए जो उपाय किये गये वे समीचीन थे।

जव किसी कार्य के निमित्त कारण समीचीन हों, तव वह कार्य अवश्य सफल होता है। इसलिए ग्रह-नक्षत्रों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए अर्थात यह नहीं देखना चाहिए कि ग्रह-नक्षत्रों के अनुसार समय अनुकूल है या नहीं। खास तौर पर ऐसी अवस्था में जव कोई काम जल्दी पूरा करना हो, तव तो नक्षत्रों का हिसाब लगाने में समय विलकुल नष्ट नहीं करना चाहिए।

परिचये दोषा न छाद्यन्ते ॥३१८॥

परिचय होने पर दोष छिपे नहीं रहते ॥३१८॥

अंग्रेजी की एक कहावत है: 'नो वडी इज़ हीरो टू हिज़ वैलेट', अर्थात कोई भी आदमी अपने खिदमतगार के लिए सूरमा नहीं होता। खिदमतगार हरेक समय हरेक काम करता है। वह अपने मालिक से पूरी तरह परिचित हो जाता

लिए किया गया प्रयत्न बालू को उबाल कर भात रांधने की चेष्टा के समान मूर्खतापूर्ण होता है। इसी बात को बालू में से तेल निकालना भी कहते हैं।

किसी कल्पित अवास्तविक वस्तु के लिए प्रयत्न करना, बुरी चीज़ हासिल करने के लिए प्रयत्न करना और कालाधन जमा करने के लिए प्रयत्न करना, ये तीनों ही प्रयत्न अन्त में पछतावे का कारण होते हैं।

न महाजन हासः कर्त्तव्यः ॥३१३॥

महाजनों का उपहास नहीं करना चाहिए ॥३१३॥

न नर्म परीहासः कर्त्तव्यः ॥३१४॥

अश्लील तथा अशिष्ट परिहास नहीं करना चाहिए ॥३१४॥

शुद्ध आचरण वाले मनुष्य को महाजन कहते हैं। महाभारत में कहा है: 'महाजनो येन गतः स पन्थाः', अर्थात् महाजन जिस मार्ग पर गये हैं, उसी का अनुसरण करना चाहिए। परन्तु देखने में आता है कि सदाचारी तथा धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने वालों का बहुत लोग मजाक उड़ाते हैं। उन्हें 'आदर्शवादी' कहते हैं और उनका उपहास करते हैं। यह अनुचित है। महाजन सदा पूज्य तथा सम्माननीय होने हैं। उनका उपहास करने की बजाय उनका अनुसरण करना चाहिए।

अश्लील और अशिष्ट हंसी-ठट्ठा नर्महास कहलाता है। हास-परिहास यानी हंसी-दिल्लगी की भी एक सीमा होती है। शिष्ट हास्य तो वाणी का भूषण होता है। इसके प्रयोग से बातचीत रोचक हो जाती है। अशिष्ट हास-परिहास असभ्यता का द्योतक है और इससे कभी-कभी लड़ाई-झगड़े भी हो जाते हैं।

कार्यसम्पद निमित्तानि सूचयन्ति ॥३१५॥

कार्य की सफलता उसके निमित्तों की सूचक होती है ॥३१५॥

नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति ॥३१६॥

निमित्त नक्षत्रों से भी अधिक महत्व रखते हैं ॥३१६॥

न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा ॥३१७॥

कार्य को शीघ्र निबटाने वाला नक्षत्रों की परीक्षा नहीं करता ॥३१७॥

भारतीय दर्शन के अनुसार कार्य तथा कारण का अटूट संबंध है। कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। अंग्रेजी में कार्य को "इफैक्ट" और

तो ऐसी जड़ पकड़ लेती हैं कि वे लतें वन जाती हैं। शराव पीना ऐसी ही एक लत है। कुछ लोगों को झूठ वोलने की आदत पड़ जाती है। इसी तरह की और भी बहुत सी बुरी आदतें होती है।

अच्छी आदतें भी होती हैं। सज्जनों का स्वभाव परोपकार करना होता है। सत्यपरायण जन सदा सत्य व्यवहार करते हैं।

सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य जाति ने अनेक आदिम वृत्तियों पर विजय प्राप्त करली है। परन्तु अलग-अलग लोगों के जो स्वभाव हैं, उन्हें छोड़ना वास्तव में वहुत मुश्किल होता है। चोरी, झूठ, शराबखोरी आदि ऐसी आदतें हैं जो वहुत ही मुश्किल से छूटती हैं। सज्जन भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते।

अपराधानुरूपो दंडः ॥३२१॥

दंड अपराध के अनुरूप होना चाहिए ॥३२१॥

दंड के विषय में पिछले कई सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है। मनुस्मृति कहती है :

दंडः शास्ति प्रजाः सर्वाः दंड एवाभिरक्षति।
दंड सुप्तेषु जागर्ति दंड धर्मं विदुर्बुधाः॥

दंड प्रजा का शासन करता है और वही उसकी रक्षा भी करता है। दंड सोते हुओं को जगाता है, इसलिए विद्वान-जन दंड को ही धर्म कहते हैं।

दंड जिसे सजा कहते हैं, अपराध के अनुरूप होना चाहिए, अर्थात जैसा अपराध हो, वैसा ही उसके लिए दंड होना चाहिए, छोटे अपराध के लिए हलकी सजा और वड़े अपराध के लिए भारी सजा।

आधुनिक मनोविज्ञान दंड के तीन प्रयोजन बताता है :

सुधारक (रिफार्मेटिव), निरोधक (प्रिवेन्टिव) और उदाहरणीय (एग्जेम्पलरी)।

अपराधी को सुधारने के प्रयोजन से जो दंड दिया जाता है उसे सुधारक कहते हैं। इस प्रकार का दंड वालकों, अल्पवयस्कों, तथा पहली वार अपराध करने वालों को दिया जाता है ताकि अपराध करना उनकी आदत न वन जाये। ऐसे अपराधियों के लिए सुधारक शालायें या सुधारक कारागार होते हैं। उन्हें अन्य अपराधियों से अलग रखा जाता है।

है। उसके स्वभाव को पहचान जाता है। उसकी कोई भी अच्छी या बुरी बात या आदत खिदमतगार से छिपी नहीं रहती। इसलिए वह बाहर अपनी चाहे जितनी शेखियां बघारे, उसका खिदमतगार उसकी असलियत जानता है।

बात यह है कि हर आदमी में कुछ न कुछ दोष होता है, कुछ बुराइयां होती हैं, कोई ऐब होता है। जो आदमी उसके निकट संपर्क में आता है उसे इन दोषों वगैरा का पता लग जाता है।

एक कहावत है : 'घर का जोगी जोगडा, आन गांव का सिद्ध'। अपने गांव में रहने वाले जोगी का लोग उतना आदर नहीं करते जितना किसी दूसरे गांव से नवागन्तुक जोगी का। कारण यही है कि अपने गांव के जोगी के दोष लोगों को मालूम होते हैं, और बाहर से आने वाले के दोष वे नहीं जानते।

स्वयमशुद्धः परानाशंकते ॥३१९॥

स्वयं अशुद्ध मनुष्य दूसरों से आशंका करता है ॥३१९॥

आशंका का अर्थ शंका या सन्देह भी होता है और भय भी। पाप कर्मों में रत रहने वाला मनुष्य अशुद्ध होता है।

जो मनुष्य पापी या दुष्कर्मी होता है, वह दूसरों को भी अपने ही जैसा समझता है और सबको सन्देह की दृष्टि से देखता है। जैसे चोर आदमी को आशंका रहती है कि कोई उसे पकड़ न ले।

पापी मनुष्य दूसरों से डरता भी है। उसे भी पकड़े जाने का डर लगा रहता है। लोकनिन्दा का भी भय होता है।

स्वभावो दुरतिक्रमः ॥३२०॥

स्वभाव को छोड़ना बहुत मुश्किल होता है ॥३२०॥

मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को स्वभाव कहते हैं। मनुष्य सारे कार्य अपने स्वभाव के अनुसार करता है, इनके लिए उसे किसी की प्रेरणा की जरूरत नहीं होती। अंग्रेजी में इसे मनुष्य की 'नेचर' कहते हैं।

स्वभाव दो प्रकार के होते हैं : एक प्राकृतिक तथा जन्मजात जिन्हें सहज वृत्ति (इन्स्टिन्क्ट) कहते हैं। मनुष्येतर जीवों के कार्य सहजवृत्ति के अनुसार होते है। मनुष्यों में भी सहज वृत्तियां होती है। आहार, निन्द्रा, भय, मैथुन आदि सहज वृत्तियां हैं। खतरा सामने आने पर आदमी भागने लगता है, सहसा कोई धड़ाका हो तो चौंक पड़ता है। ये सहज वृत्तियां हैं। परन्तु इनके अलावा मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार तरह-तरह की आदतें बना लेता है। कुछ आदतें

चतुराई की वात यह है कि जैसा प्रश्न यानी सवाल हो, वैसा ही उत्तर यानी जवाव दिया जाये। ऐसा न हो कि सवाल कुछ और जवाब कुछ। कहें खेत की सुने खलिहान की। किसी प्रश्न का यथोचित उत्तर देने के लिए यह जरूरी है कि पहले तो प्रश्न के अर्थ पर गौर किया जाये और फिर देखा जाये कि उसके पीछे क्या भावना है। हरेक आदमी हरेक प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। जो प्रश्न ऐसा हो जिसका उत्तर देना शक्य न हो तो, गलत जवाव देने या टालमटोल करने की वजाय साफ तौर पर अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर देनी चाहिए। कुछ गुप्त वातें होती हैं जो बतायी नहीं जा सकतीं। उनके वारे में सवाल का जवाव देने से इन्कार कर देना चाहिए। कुछ लोगों की आदत होती है कि सिर्फ छकाने या झेंपाने के लिए ऊटपटांग सवाल करते हैं। ऐसे सवालों का जवाव भी ऊटपटांग तरीके से ही दिया जा सकता है। जैसे कोई पूछे कि कौवा काला क्यों होता है, तो कह देना चाहिए कि यह सवाल कौवे से ही पूछें। प्रश्नों के उत्तर देने की भी एक कला है जिसे 'विट' यानी वाक्चातुर्य कहते हैं। कुछ जवाब ऐसे होते हैं जिन्हें लट्ठमार कहते हैं। मौके पर इस तरह का जवाब दिया जा सकता है, पर इसमें गंवारूपन झलकता है।

मुकदमों में वकील लोग गवाहों से जिरह में तरह-तरह के सवाल पूछते हैं जिनसे गवाह वहक जाये। इसलिए जिरह में गवाह को बहुत सावधान रहना चाहिए और खूब सोच कर जवाब देना चाहिए।

विभवानुरूपमाभरणम् ।।३२३।।

वस्त्राभूषणों से शरीर की सजावट वैभव, अर्थात आर्थिक दशा के अनुरूप होनी चाहिए ।।३२३।।

शेक्सपीयर ने कहा है :

> कॉस्टली दाइ हैविट एज दाइ पर्स कैन वाइ।
> वट नॉट एक्सप्रेस्ड इन फैन्सी रिच नॉर गॉडी
> फॉर द अपेयरल ऑफ्ट प्रोक्लेम्स द मैन।

अपनी पोशाक उतनी ही कीमत की होनी चाहिए जितना खर्च करने की अपनी औकात हो। लेकिन उसमें शान-शौकत और तड़क-भड़क का दिखावा नहीं हो। क्योंकि पोशाक से अक्सर आदमी के चरित्र का पता लग जाता है।

मनुष्यों में शरीर को वस्त्रों और आभूषणों से सजाने की प्रवृत्ति होती है जिससे शृंगार एक आवश्यक नित्यकर्म वन गया है। शृंगार के तौर-तरीके देश, काल और परिस्थिति के अनुसार वदलते रहते हैं। आजकल इसे फैशन कहा

जो अपराधी वार-वार अपराध करते हैं, या कोई वड़ा अपराध करते है उन्हें कड़ी और लम्बी सजाएं दी जाती हैं जिससे उनके अपराधों पर कुछ रोक लग जाये।

कुछ सजाएं ऐसी कठोर होती हैं कि उनसे अपराध करने वाले को तथा दूसरे लोगों को भी नसीहत मिल जाती है कि वैसे अपराध न करें। कोड़ों की सजा और फांसी की सजा ऐसी ही सजाएं हैं। जो आदमी एक बार कोड़े खा लेता है, वह उनकी यातना को नहीं भूलता। दूसरे लोग भी कोड़ों की यातना के खयाल में ही सिहर उठते हैं। फांसी की सजा अपराधी के लिए तो नहीं पर दूसरे लोगों के लिए नसीहत होती है। हमारे देश के कानून में कोड़ों की सजा तो खत्म कर दी गयी है, अब फांसी की सजा को भी समाप्त करने की आवाज उठ रही है। पाकिस्तान में कोड़ों की सजा फिर चालू हो गयी है। कहते हैं इससे वहां अपराधों में कमी हुई है।

भारत के प्राचीन दंड विधान में अंगच्छेद का दंड था अर्थात जिस अंग से अपराध किया गया हो उसे काट दिया जाये। स्मृतिकार शंख के भाई लिखित ने बाग से फल तोड़कर खा लिये थे। इस शंख ऋषि ने अपने भाई की उंगली कटवा दी थी।

अपराधों के लिए दंड कैसा और कितना होना चाहिए, यह वाद-विवाद का विषय बना हुआ है। दंड अपराध के अनुरूप होना चाहिए और अपराधी की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था के अनुसार होना चाहिए, ऐसे दो मत हैं। एक ही अपराध के लिए अलग-अलग अवस्थाओं के अपराधियों को जुदा-जुदा किस्म की सजायें देने पर अदालतें भी विचार करती है।

दंड के बारे में मनुस्मृति कहती है:

अनुबंध परिज्ञाय देशकालौ च तत्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दंड दंड्येषु पातयेत्॥
वाग्दंडं प्रथमं कुर्यात् धिग्दंडं तदन्तरम्।
तृतीयं धनदंडंतु वधदंडमतः परम्॥

वार-वार किये गये अपराध को जानकर और देश तथा काल का विचार करके दंड योग्य अपराधी को दंड दे। पहली बार लताड़, दूसरी वार धिक्कार देकर, तीसरी बार जुर्माना करके और फिर शारीरिक दंड दे।

कथानुरुपं प्रतिवचनम् ॥३२३॥

कथन के अनुरूप उत्तर होना चाहिए ॥३२३॥

पैसे को और पद को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा है। इससे कई तरह की विसंगतियां और विकृतियां पैदा हो रही हैं।

कार्यानुरूपः प्रयत्नः ॥३२५॥

कार्य के अनुरूप प्रयत्न होना चाहिए ॥३२५॥

जैसा कार्य हो उसी के अनुसार उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। गुरुतर कार्य के लिए गुरुतर प्रयत्न आवश्यक होता है और हलके कार्य के लिए हलका। प्रयत्न कैसा होना चाहिए यह इस पर निर्भर करता है कि कार्य की सफलता के लिए किन-किन बातों पर ध्यान देना जरूरी है। चाणक्य नीति में कहा है :

को कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कोवाहं का च मे शक्तिः इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

कोई कार्य आरम्भ करने से पहले बार-बार विचार करना चाहिए कि समय कैसा है, सहायता देने वाले मित्र कौन-कौन हैं, देश अर्थात स्थान कैसा है, आमदनी और खर्च का क्या हिसाब है, मैं कौन हूं और मेरी कितनी शक्ति है।

इन बातों का विचार किये बिना किया गया प्रयत्न व्यर्थ होता है।

पात्रानुरूपं दानम् ॥३२६॥

अर्थानुरूपं दानम् ॥३२७॥

दान, पात्र के अनुरूप हो ॥३२६॥

दान, धन के अनुरूप हो ॥३२७॥

पिछले सूत्रों में कहा गया है कि दान धर्म है और दान धन संपत्ति के अनुकूल होना चाहिए।

दान सदा सुपात्र को देना चाहिए। कुपात्र को दान देना व्यर्थ ही नहीं, हानिकर भी होता है। सुपात्र को देने में भी यह देखना चाहिए कि दान के पात्र को किस परिमाण में धन की अथवा अन्य सहायता दी जाये। दीन-हीन, निराश्रित, अनाथ, अपंग और विद्वान जन उस श्रेणी में आते हैं जिन्हें निरन्तर दान की आवश्यकता होती है। जन-कल्याण की संस्थाएं भी दान के सहारे ही चलती हैं। निर्धन रोगी को दान की आवश्यकता तब तक होती है जब तक वह स्वस्थ होकर काम करने लायक न हो जाये। किसी निस्सहाय की तात्कालिक आवश्यकता पूरी करने के लिए भी उसे दान दिया जा सकता है। दान की मात्रा भी परिस्थिति के अनुसार होनी चाहिए। न कम हो न ज्यादा। कम होगी तो उससे

जाता है। यह फैशन एक बीमारी बन गया है। इसके दीवाने अपने बूते से बाहर कपड़े-लत्ते बनवाते हैं और पैसे वालों की होड करते हैं। विद्यार्थियों में यह प्रवृत्ति आजकल बहुत जोर पकड़ रही है। आभूषण अर्थात जेवर या गहने भी शरीर के शृंगार माने गये है। स्त्रियां तो जेवरों की दीवानी होती हैं और एडी से चोटी तक के आभूषण पहनना चाहती हैं। दिखाने के लिए अपने बूते से बाहर जेवरों पर खर्च करती हैं। जिन्हें असली मुहैया नहीं होते, वे नकली से जी बहलाती हैं।

कुलानुरूपं वृत्तम् ।।३२४।।

कुल के अनुरूप आचरण ।।३२४।।

इस सूत्र की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो यह कि मनुष्य का आचरण उसके कुल के अनुरूप होता है। दूसरा यह कि मनुष्य का आचरण उसके कुल के अनुरूप होना चाहिए।

कुल शब्द का प्रयोग यहां वंश के अर्थ में किया गया है। हरेक परिवार या कुटुम्ब में वंश की कुछ परम्पराएं और परिपाटियां होती हैं, जिन्हें कुल-परम्परा कहा जाता है। हमारे देश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहे जाने वाले वर्णों में आज भी कुछ परम्पराओं का पालन किया जाता है। हालांकि वर्ण-व्यवस्था की जड़ता नष्ट होने के साथ इनका लोप होता जा रहा है, फिर भी परिवारों में कुल के संस्कार नजर आते हैं जो उस परिवार के लोगों के आचरण में प्रकट होते हैं।

आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषणम्।
संयम स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ।।

मनुष्य का आचरण उसके कुल को बता देता है। भाषण बता देता है कि वह किस देश का निवासी है। आदर भाव स्नेह का परिचय देता है और शरीर यह बता देता है कि वह कैसा भोजन करता है।

मनुष्य को अपने कुल-धर्म तथा कुल-संस्कार के अनुसार आचरण करना चाहिए। ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए जिससे कुल को कलंक लगे। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि किसी कुल में कुछ बुरे संस्कार चले आ रहे हों तो उनका भी पालन किया जाये।

प्राचीन काल में कुल को बहुत महत्व दिया जाता था। विवाह, मैत्री, लेनदेन आदि व्यवहारों में कुल को देखा जाता था। अब तो कुल के स्थान पर

मनुष्य की पोशाक उसकी वय या अवस्था के अनुसार होनी चाहिए। पोशाकों का यह भेद बहुत हद तक साफ नजर आता है। शिशुओं और बालकों की पोशाकें बड़ी उम्र के लोगों से जुदा तरह की होती हैं। बच्चों के कपड़े रंग-बिरंगे होते हैं, बड़ों के कपड़ों में सादगी होती है। युवा वर्ग फैशन के साथ चलता है। पोशाक का प्रयोजन वास्तव में शरीर को ऋतुओं के प्रभाव से बचाने के लिए होता है, परन्तु इसे सजावट और शृङ्गार का साधन बना दिया गया है। वय तथा ऋतु के अनुकूल वस्त्रों का भेद अब मिटता जा रहा है। इस वैज्ञानिक आधार की उपेक्षा से नाना प्रकार के चर्म रोग उत्पन्न हो रहे हैं।

स्वाम्यनुकूलो भृत्यः ॥३२९॥

नौकर स्वामी के अनुकूल हो ॥३२९॥

भृत्य उसे कहते हैं जो अपने भरण-पोषण के लिए स्वामी पर पूरी तरह आश्रित हो। प्राचीन काल में दास-प्रथा थी, जिसके अन्तर्गत दास को जीवन पर्यन्त स्वामी की सेवा करनी पड़ती थी और इसकी एवज में स्वामी उसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करता था। यह दास-प्रथा कालान्तर में विकृत हो गयी और दास या गुलाम अत्याचारों के शिकार हो गये। इसका यह विकृत रूप कहीं-कहीं अब भी पाया जाता है, पर सभ्य समाज में इसके लिये कोई स्थान नहीं रहा। इसे जड़मूल से नष्ट करने के अन्तर-राष्ट्रीय प्रयत्न हो रहे हैं।

दासों या गुलामों की जगह अब नौकर या सेवक होते हैं जो स्वामी की आज्ञा के अनुसार कार्य करते हैं। इनके लिए यह आवश्यक है कि स्वामी के स्वभाव को पहचान लें और उसके अनुकूल वर्ताव करें। स्वामी का भी कर्त्तव्य है कि वह सेवक का पूरा ध्यान रखे। तभी सेवक भी उसके प्रति आज्ञाकारी और कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है।

भर्तृवशवर्तिनी भार्या ॥३३०॥

भार्या भर्ता की इच्छाओं के अनुसार चलने वाली हो ॥३३०॥

भर्ता और भार्या, ये दोनों शब्द 'भृ' धातु से व्युत्पन्न हैं जिसका अर्थ है भरण अथवा पोषण करना। भरण-पोषण करने वाला भर्ता होता है और जो भरण-पोषण योग्य होता है उसे भार्य कहते हैं। भार्या शब्द भार्य का स्त्रीलिंग है।

संस्कृत में भर्ता और भार्या शब्द पति और पत्नी के लिये प्रयुक्त होते हैं। पति गृहस्थ का भरण-पोषण करता है और पत्नी उसके भरण-पोषण का पात्र होती है। गृहस्थ के भरण-पोषण के लिए अर्थोपार्जन यानी धन कमाने की जिम्मेदारी पति पर होती है और पत्नी गृहस्थ का सारा प्रबन्ध करती है। हमारे

वांछित प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। ज्यादा होने से दान के धन का दुरुपयोग भी किया जा सकता है।

ठाणें अर्थात् स्थानांग-सूत्र (जैन आगम) में दान के दस प्रकारों का उल्लेख हैं :

अनुकंपादान—दया अथवा करुणा से देना।

संग्रहदान—सहायता के लिए देना

भयदान—भय के कारण देना।

कारुण्यक दान—मृत के नाम से देना।

लज्जा दान—लज्जावश देना।

गौरव दान—नाम या यश के लिए देना।

अधर्मदान—कुपात्र को देना।

धर्मदान—सात्विक दान, अर्थात् सुपात्र को देना।

कृतमितिदान—किसी उपकार के बदले में देना।

करिष्यति दान—भविष्य में सहायता मिलने की आशा से देना।

इनमें अनुकंपादान, संग्रहदान तथा धर्मदान ही सुपात्र को दान कहे जा सकते हैं। बाकी के दानों में या तो मजबूरी होती है, या स्वार्थ होता है। आजकल के अधिकतर दान इन्हीं कारणों से कुपात्रों को दिये जाते हैं। राजनीतिक पार्टियों को दिये जाने वाले चंदे भयदान होते है। दूसरों की देखा-देखी दान देना लज्जादान होता है। अपने नाम से मन्दिर, धर्मशालाएं, पूजास्थान आदि बनवाना तथा नाम के लिए सार्वजनिक संस्थाओं को धन देना गौरवदान की श्रेणी में आते हैं। कृतमितिदान तथा करिष्यतिदान के पीछे तो कोरे स्वार्थ की भावना होती है।

अपनी आर्थिक अवस्था को देखकर उसी के अनुरूप दान देना चाहिए। दान के मामले में कंजूसी शोभा नहीं देती। 'दान दिये धन ना घटे, कह गये दास कबीर'।

वयोऽनुरूपो वेशः ।।३२८।।

वेश वय (उम्र) के अनुरूप हो ।।३२८।।

जन्म से मृत्यु तक का मनुष्य का जीवनमान आयु कहलाता है। आयु की मोटे तौर पर छह अवस्थाएं होती हैं : शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था। जीवन के जितने वर्ष बीत चुके हों उसे वय, अवस्था या उम्र कहते हैं।

शिष्य को गुरु के आश्रम में ही रहना पड़ता था। सो कालान्तर में गुरु शब्द विद्याध्ययन कराने वाले उपाध्याय या आचार्य के लिए रूढ़ हो गया।

गुरुकुलों के अन्तेवासी गुरु की आज्ञा तथा इच्छा के अनुसार सारे कार्य करते थे, क्योंकि सर्वांगीण विकास के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

मनुस्मृति कहती है :

चोदितो गुरुणा नित्यम् अप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नम् आर्यस्यहितेषु च ॥

आर्यशिष्य गुरु से नित्य प्रेरणा प्राप्त करता हुआ अध्ययन करे।

अध्यात्म में तो गुरु के मार्गदर्शन के बिना साधना ही नहीं हो सकती। गुरु मंत्र देता है और योग की क्रियाएं बताता है। इसलिए गुरु की स्तुति की जाती है :

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

पिता को गुरु के वर्ग में ही माना गया है, सो पुत्र को पिता की इच्छाओं का अनुवर्ती होना चाहिए। हमारे यहां तो माता, पिता और आचार्य (गुरु) को देवता माना गया है। गुरुकुल का अन्तेवासी जब विद्याध्ययन समाप्त करके घर जाता था, तब गुरु उसे उपदेश देता था : 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव' अर्थात हे शिष्य, तू माता को देव मानने वाला, पिता को देव मानने वाला तथा आचार्य (गुरु) को देव मानने वाला हो।

भारतीय संस्कृति का यह रूप अब नष्ट होता जा रहा है। न तो शिष्य गुरु का आदर करते हैं, न पुत्र माता-पिता का। इसका कारण यह है कि न तो पहले जैसे गुरु हैं और न पहले जैसे माता-पिता।

आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः ॥३३३॥

मूर्ख मनुष्य अपने दोष नहीं देखता, दूसरों के ही दोष देखता है ॥३३३॥

इस सूत्र के उलट-फेर कर तीन अर्थ हो सकते हैं। मूर्ख आदमी ही अपने दोष न देखकर दूसरों के दोष देखता है। जो आदमी अपने दोष न देखकर दूसरों के ही दोष देखता वह मूर्ख होता है। अपने दोष न देखकर दूसरों के ही दोष देखना मूर्खता है।

शास्त्रों में पति और पत्नी को गृहस्थ रूपी रथ के दो पहियों के समान कहा गया है। रथ के दोनों पहिये एक समान और एक ही गति से चलने वाले होने चाहिए। दोनों में विषमता हो तो गृहस्थ की गाड़ी सरलता से नहीं चल सकती।

पत्नी को पति की वशवर्ती होना चाहिये, इसका वही अर्थ है कि उसे अपने पति को हर काम में बराबर सहयोग देना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब पति भी उसे अपनी सहगामिनी तथा सहधर्मिणी समझे। क्रूर पति को पत्नी से अपनी वशवर्ती होने की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

गुरुवशानुवर्ती शिष्यः ॥३३१॥

पितुवशानुवर्ती पुत्रः ॥३३२॥

शिष्य गुरु की इच्छा का अनुपालन करने वाला हो ॥३३१॥

पुत्र पिता की इच्छा का अनुपालन करने वाला हो ॥३३२॥

भारतीय संस्कृति तथा परम्परा में गुरु का बहुत महत्व है। एक गुरु तो वह होता है जो वेद-शास्त्र का अध्ययन कराता है। 'गृणाति उपदिशति वेद-शास्त्राणि यद्वा गीर्यते स्तूयते शिष्यवर्गैः' अर्थात गुरु शिष्यों को वेद-शास्त्र के उपदेश देता है अथवा उनका स्तुत्य होता है। परन्तु माता-पिता आदि को भी गुरु वर्ग में माना जाता है। कूर्म पुराण में गुरुवर्ग की यह सूत्री है :

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठ भ्राता चैव महिपतिः।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामह पितामहौ॥
दंधुज्येष्ठि पितृव्यश्च पुंस्यैते गुरवः स्मृताः।
मातामहि मातुलानी तथा मातुश्च सोदरा॥
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठा क्षात्री च गुरवः स्त्रियः।
इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं मातृतः पितृतो द्विजाः॥

उपाध्याय, पिता, बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, दादा, ताऊ, ये सब गुरु कहलाते हैं। दादी, नानी, मौसी, श्वश्रू (सास), बड़ी दादी, तथा धाय, ये गुरु वर्ग में गिनी जाती हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जो आदर तथा श्रद्धा के पात्र हैं, उन सबको गुरु मानना चाहिए।

प्राचीन काल में गुरुकुलों की परम्परा थी। विद्याध्ययन के लिए बालकों को ऋषियों के आश्रमों में भेजा जाता था। इन आश्रमों को गुरुकुल तथा अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अन्तेवासी कहते थे। अध्ययन सम्पूर्ण होने तक

यदि कोई मनुष्य किसी की हद से ज्यादा सेवा, टहल, सत्कार करे, या उसके साथ बहुत ही नम्र और मीठा व्यवहार करे तो समझना चाहिए कि दाल में कुछ काला है। ऐसा इसलिए कहा गया है कि स्वार्थी तथा दुष्ट जन अपना उल्लू सीधा करने के लिये इन हथकंडों का इस्तेमाल करते हैं। यदि अपने साथ कोई ऐसा अति का उपचार करे तो देखना चाहिए कि वह किस नीयत से ऐसा कर रहा है। ठग लोग अक्सर ऐसा व्यवहार करके विश्वास प्राप्त कर लेते हैं और फिर धोखा दे जाते हैं। रामायण में आख्यान है कि कालनेमि राक्षस ने अत्यन्त आतिथ्य दिखा कर हनुमान को मारने का षड़यंत्र रचा था, परन्तु मकरी राक्षसी ने सारे भेद खोल दिये और हनुमान ने कालनेमि को मार डाला।

स्वामिनी कुपिते स्वामिनमेवानुवर्तेत ॥३३५॥

मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति ॥३३६॥

स्नेहवतः स्वल्पो हि रोषः ॥३३७॥

स्वामी नाराज हो जाये तो भी उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए ॥३३५॥

माता से पिटने पर भी बच्चा उसकी गोद में जाकर रोता है ॥३३६॥

स्नेह करने वाले का रोष अल्पकालिक होता है ॥३३७॥

पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया है कि सेवक को स्वामी की इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। इसी सिलसिले में यह उपदेश है कि यदि किसी कारण स्वामी नाराज भी हो जाये, तो भी उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। सेवक स्वामी का भृत्य होता है अर्थात उससे भरण-पोषण पाने वाला होता है। यदि वह स्वामी की इच्छा के विपरीत आचरण करने लगे तो उसे हटाया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि स्वामी अपने भृत्य पर अकारण ही कुपित नहीं होता। भृत्य की कोई गलती होती है, अपराध होता है। इसे समझाने के लिए माता का दृष्टान्त दिया है। माता अपने बालक को मारती-पीटती है, परन्तु बालक फिर भी उसकी गोद में जाकर रोता है। माता का बालक के प्रति स्नेह होता है, सो उसका क्रोध क्षणभंगुर होता है। बालक भी इस बात को जानता है। इसी प्रकार स्वामी का क्रोध भी अल्पकालिक होता है। जिस प्रकार माता अपने बच्चे को स्नेह करती है, उसी प्रकार स्वामी भी कर्त्तव्यपरायण सेवक से

इन तीनों में तीसरा अर्थ ही उपयुक्त है, क्योंकि न सिर्फ मूर्ख ही अपने दोष न देखकर दूसरों के दोष देखते हैं, और न अपने दोष न देखकर दूसरों के दोष देखने वाले मूर्ख होते हैं। यह प्रवृत्ति तो कम ज्यादा सभी में पायी जाती है। इसलिए यह कहना ज्यादा उपयुक्त है कि ऐसा करना मूर्खता है। समझदार लोग भी ऐसे बहुत-से काम करते हैं जिन्हें मूर्खता कहा जा सकता है। मूर्खता पर केवल मूर्खों का ही एकाधिकार नहीं।

अपने दोष न देखना और दूसरों के ही दोषों पर ही निगाह डालना, मूर्खता ही नहीं बल्कि नीचता है।

नीच: सर्षप मात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

नीच आदमी दूसरों के केवल सरसों के दाने के बराबर दोषों को देखता है, पर अपने बेल के फल के बराबर दोषों को देखते हुए भी नहीं देखता।

बाइबिल में येसु का उपदेश है :

तुम अपने भाई की आंख का तिनका तो देखते हो और अपनी आंख में पड़ी सोट का तुम्हें पता नहीं। तुम जिस मुंह से अपने भाई से कहते हो : 'आओ भाई मैं तुम्हारी आंख का तिनका निकाल दूं' तब अपनी आंख की सोट नहीं देखते। ऐ ढोंगी, पहले अपनी आंख से सोट निकाल कर फेंक दे, तब अपने भाई की आंख से तिनका निकालने के लिए साफ-साफ देख सकेगा।

दूसरों के दोष देखने वालों के विशेषणों में ढोंगी और जुड़ गया। येसु के कथन को एक शायर ने एक शेर में बांधा है :

गैर की आंख के तिनके पे नजर पड़ती है
अपनी आंखों का नजर आता है शहतीर नहीं।

तुलसीदास ने ऐसे लोगों को दुष्ट की संज्ञा दी है जो 'परदोस लखहिं सहसाखी', और 'पर अघ सुनहिं सहस दस काना', अर्थात् जो दूसरों के दोषों को हजार आंखों से देखते हैं और दूसरों के दोषों को हजार कानों से सुनते हैं।

इसलिए अपने दोष न देखकर दूसरों के दोष देखने वाले को सोचना चाहिए कि वह मूर्ख है, या नीच है, या ढोंगी है, या दुष्ट है।

अत्युपचारः शंकितव्यः ॥३३४॥

अत्यन्त उपचार को शंका से देखना चाहिए ॥३३४॥

सेवा, टहल, आतिथ्य, इलाज, बर्ताव आदि को उपचार कहते हैं।

घरेलू काम-काज में रुचि लेना, किसी के बच्चों को प्यार करना और उन्हें उपहार देना, किसी की पत्नी को बहन या माता बना लेना और तीज-त्यौहारों पर उन्हें भेंट देना, रिश्वत लेने के मामलों में बिचौलिये की भूमिका निभाना, अपने ही जैसे चाटुकारों की फौज जमा करना और उनसे आदर सत्कार करवाना, अभिनन्दन समारोहों और ग्रंथों का आयोजन करना, वगैरा, वगैरा। राजनेता और अफसर ऐसे लोगों के चक्कर में आसानी से फंस जाते हैं और अपनी बदनामी कराते हैं।

गौर्दुष्कराश्वसहस्रादेकाकिनी श्रेयसी ।।३४१।।

श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः ।।३४२।।

अकेली बिगड़ैल गाय हजार कुत्तों से बेहतर होती है ।।३४१।।

कल मिलने वाले मोर से आज मिलने वाला कबूतर अच्छा है ।।३४२।।

गाय चाहे जितनी मरखनी हो, उसे बर्दाश्त ही नहीं बल्कि प्यार करते हैं, क्योंकि दूध देती है। यही नहीं, गाय का वैज्ञानिक महत्व भी है। गाय के दूध और घी में विष का प्रभाव नष्ट करने की शक्ति होती है। गोबर कृमिनाशक होता है और उससे उत्तम खाद बनता है। कुछ वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि गोबर रेडियम-धर्मिता से भी बचाता है। गाय के बछड़े बैल बन कर हल जोतने और गाड़ी खींचने के काम आते हैं। प्राचीन अर्थव्यवस्था में गौ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। गौ को धन माना जाता था। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में गाय को माता का दर्जा दिया गया है और उसे पूजनीय बताया गया है। इसके मुकाबले में कुत्ता कुछ भी नहीं।

सूत्र का लाक्षणिक अर्थ यह है कि अपना हित करने वाला या अपने को लाभ पहुचाने वाला दुर्व्यवहार भी करता हो तो ऐसे हजारों आदमियों से बेहतर होता है जो टुकड़े खाकर दुम हिलाते हैं।

हकीम लुकमान से किसी ने पूछा : शेर आदमियों को खा जाता है फिर भी वीरों को शेर कहा जाता है। लेकिन कुत्ता इतना वफादार होता है पर किसी को कुत्ता कहना गाली होती है। इसका क्या कारण है। लुकमान ने जवाब दिया : कुत्ता इसलिए नीच माना गया है कि अपने भाइयों से लड़ता है।

अंग्रेजी की एक कहावत है : 'अ बर्ड इन हैण्ड इज वर्थ टू इन द बुश', अर्थात हाथ में आया हुआ एक पक्षी झाड़ी में बैठे दो पक्षियों के तुल्य होता है। हमारे यहां भी कहावत है : 'नौ नकद न तेरह उधार'।

स्नेह करता है। दोनों का कोप या तो दिखावटी होता है या ज्यादा देर नहीं टिकता।

सोपचारः कैतवः ॥३३८॥

काम्यैर्विशेषैरुपचरणमुपचारः ॥३३९॥

चिरपरिचितानामत्युपचारः शंकितव्यः ॥३४०॥

धूर्त अर्थात् ठग लोग उपचार-कुशल होते हैं ॥३३८॥

विशेष काम्य पदार्थों के लिए उपचार अर्थात सेवा करना (ठगने के लिए) उपचार कहलाता है ॥३३९॥

चिर-परिचित जन का अति उपचार शंका के योग्य होता है ॥३४०॥

एक पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया है कि अत्यधिक उपचार शंका के योग्य होता है। ये तीनो सूत्र इसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हैं।

छली और कपटी लोग ठगने और धोखा देने के लिए सेवा, टहल या चाकरी करते हैं और वहुत ही मीठा व्यवहार करते हैं जिसे खुशामद भी कहा जा सकता है। इस तरह विश्वास प्राप्त करके वे अपना उल्लू सीधा करते हैं।

अपने किसी विशेष स्वार्थ की पूर्ति के लिए जो सेवा, टहल, चाकरी या मीठा व्यवहार किया जाता है, उसे उपचार कहते हैं। स्वार्थी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ऐसे उपचार का सहारा लेते हैं।

अत्यधिक उपचार इसीलिए शंका के योग्य होता है। परंतु जव बहुत दिनों से परिचित कोई आदमी अधिक उपचार करने लगे तो, वह और भी ज्यादा खतरनाक होता है। इसलिए अति अधिक उपचार से सदा सावधान रहना चाहिए।

हमारे देश के राजनेताओं को और सरकारी अफसरों को अक्सर ऐसे उपचारी घेरे रहते हैं। इनका उद्देश्य केवल अपना स्वार्थ-साधन होता है और इनकी वातों में आकर राजनेता तथा अफसर गलत-सलत काम कर बैठते हैं। सर वाल्टर स्कॉट की एक कविता की पहली पंक्ति है :

आइ पिटी किंग्ज हूम वर्शिप वेट्स अपॉन

मुझे उन राजाओं पर रुलाई आती है जिन्हें उनकी पूजा करने वाले घेरे रहते हैं। अति उपचार के अनेक रूप हो गये हैं जिनका कपटी और स्वार्थी लोग उपयोग करते हैं। खुशामद तो एक रूप है ही। इसके अलावा किसी के

को धर्म का एक लक्षण बताया गया है और एक नीतिकार ने इसे ज्ञान का लक्षण कहा है।

क्रोध एक मनोविकार है जो राग और द्वेष से उत्पन्न होता है। जब मनुष्य को किसी वस्तु में आसक्ति हो जाती है और वह उसे नहीं मिलती, तो क्रोध होता है। अनिष्ट करने वाले पर क्रोध आता है, आज्ञा भंग करने वाले पर क्रोध आता है, इत्यादि इत्यादि। इसलिए अक्रोध तभी सध सकता है जब मनुष्य सारे राग-द्वेषों से ऊपर उठ जाये।

गीता कहती है :

यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जो स्नेह रहित होकर न तो शुभ वस्तुओं को प्राप्त करके प्रसन्न होता और न अशुभ वस्तुओं को प्राप्त करके द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

जो मनुष्य राग-द्वेष से उपरत होकर स्थित-प्रज्ञ बन जाता हैं, वह न किसी को शत्रु समझता है, न किसी से वैर करता है। इसलिए वह किसी पर क्रोध नहीं करता।

आगे के सूत्र में कहा है कि यदि अपना अपकार करने वाले पर क्रोध आये तो उस क्रोध पर क्रोध करना चाहिए अर्थात अपने ऊपर क्रोध करना चाहिए कि क्रोध क्यों आया। इससे अपकारी पराजित हो जाता है।

मतित्सु मूर्ख मित्र गुरु वल्लभेषु विवादो न कर्त्तव्यः ॥३४६॥

बुद्धिमान, मूर्ख, मित्र, गुरु और स्वामी से विवाद नहीं करना चाहिए ॥३४६॥

तर्क-वितर्क, बहस-मुबाहिसा, लड़ाई-झगड़ा, इन्हें विवाद कहते हैं। विवाद किसी बात को या किसी वस्तु को लेकर होता है। एक पक्ष अपनी बात कहता है या अपना दावा पेश करता है। दूसरा पक्ष उसकी बात का या दावे का खंडन करता है। इस प्रकार दोनों अपने-अपने पक्ष का मंडन और दूसरे के पक्ष का खंडन करते हैं। यह विवाद तभी समाप्त होता है जब एक पक्ष चुप हो जाये या पराजय स्वीकार करले। अगर दोनों अपनी बात पर अड़े रहें, तो विवाद का कभी अंत नहीं होता।

विभिन्न मजहबों, संप्रदायों आदि के पंडित अपने-अपने मजहब या संप्रदाय की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अन्य मतावलम्बियों से जो तर्क-वितर्क,

कल मिलने वाला मोर तो कल्पना की चीज है, मिले या न मिले। लेकिन अभी हाथ में आया हुआ कबूतर वास्तविक है। कल मोर मिलेगा, इस आशा में आज के कबूतर को छोड़ देना मूर्खता है।

मतलब यह है कि भविष्य की आशा में वर्तमान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। भविष्य सदा अनिश्चित होता है। दूसरी बात यह है कि जो चीज हाथ में आ गयी हो, उसे इस आशा में नहीं छोड़ना चाहिए कि कल उससे ज्यादा या अच्छी चीज मिल जायेगी। कल बारिश होने वाली है, ऐसा सोचकर कोई घड़ों को नहीं फोड़ता।

अतिप्रसंगो दोषमुत्पादयति ।।३४३।।

अधिक मेल-जोल दोष उत्पन्न करता है ।।३४३।।

इस सूत्र का तात्पर्य ठीक समझ में नहीं आता। बुरे लोगों से ज्यादा मेल-जोल जरूर हानिकारक सिद्ध हो सकता है, पर साधुजनों, सज्जनों, विद्वानों आदि से अधिक मेल-जोल क्या दोष उत्पन्न कर सकता है ? यह हो सकता है कि ज्यादा घनिष्ठता होने से उनके प्रति आदर-भाव कुछ कम हो जाये। यह बात देखने में भी आती है। अधिक परिचय या घनिष्ठता होने पर पारस्परिक आदर-भाव का बंधन टूट जाता है। एक दोहा है :

अति परिचय तें भक्ति की अवस होत है हान।
जैसे लोग प्रयाग के करें कूप पै स्नान ।।

अति प्रसंग का अर्थ विषय-भोगों में अत्यंत आसक्ति भी हो सकता है। इस अर्थ में यह सूत्र सार्थक भी हो जाता है। विषयासक्ति मनुष्य में शारीरिक और मानसिक दोष उत्पन्न कर देती है।

सर्वंजत्यक्रोधः ।।३४४।।

यद्यपकारिणि कोपः कोपे कोप एव कर्त्तव्यः ।।३४५।।

अक्रोध सबको जीत लेता है ।।३४४।।

यदि अपकारी पर क्रोध आये तो क्रोध में क्रोध करना चाहिए ।।३४५।।

क्रोध का अभाव अक्रोध है। जिसने क्रोध को जीत लिया, अर्थात अक्रोध की साधना करली, उसने सबको जीत लिया।

सभी धर्म ग्रन्थों, धर्म शास्त्रों तथा नीति शास्त्रों में क्रोध से होने वाली हानियों का वर्णन है और अक्रोध की महिमा बखानी गई है। मनुस्मृति में अक्रोध

धनवान जन सुकर्मों में श्रम नहीं करते ॥३४८॥
यान में चलने वालों को चलने का श्रम नहीं होता ॥३४९॥

अतुल भौतिक धन-संपत्ति, प्रभुत्व तथा वैभव का नाम ऐश्वर्य है। इस प्रकार का ऐश्वर्य सात्विक तथा शुद्ध उपायों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। सचाई और ईमानदारी से काम करके मनुष्य धनोपार्जन तो कर सकता है, परन्तु ज्यादा से ज्यादा इतना कि जीवन की सुख-सुविधाएं भोग सके। अनाप-शनाप, धन-संपत्ति बटोरने के लिए नाना प्रकार के छल-कपट आदि का सहारा लेना पड़ता है। धोखा देना, जालसाजी करना, मिलावट करना, झूठ बोलना, दूसरों का माल हड़पना, गरीबों का शोषण करना, घूस लेना, लूटना, डरा-धमका कर रुपया ऐंठना, गबन करना, वगैरा सब पैशाचिक यानी शैतानी काम हैं। अधिकतर धन संचय इन्हीं साधनों से होता है।

आजकल इसके अपवाद भी मिलते हैं। सिनेमा अभिनेता बहुत ऐश्वर्य-शाली होते हैं, हालांकि उनका अधिकांश धन 'काला' होता हैं। पश्चिमी देशों में लोकप्रिय पुस्तकों के लेखक रायल्टी के रूप में खूब धन कमाते हैं। कुछ कलाकार भी बहुत मालदार हैं। लेकिन आमतौर पर यही देखा जाता है कि धन कमाने में कहीं न कहीं अनाचार तथा शोषण अवश्य रहता है। किसी को मिलने वाली पैतृक संपत्ति भी ऐसे ही साधनों से जुटायी हुई होती है। नीति का वचन है :

नाहत्वा परमर्माणि नाकृत्या कर्म दारुणम् ।
नानपेक्ष्य सतां मार्गं प्राप्नोति महतीं श्रियन् ॥

दूसरों के मर्म पर प्रहार किये बिना, घोर दुष्कर्म किये बिना, सज्जनों के मार्ग की उपेक्षा किये बिना, कोई मनुष्य बहुत अधिक धन प्राप्त नहीं कर सकता।

ऐसी धन-सम्पत्ति का परिणाम यह होता है कि मनुष्य भोग-विलास में लिप्त हो जाता है और अच्छे कर्मों से विमुख हो जाता है। वह धन का अपव्यय करता है, या कंजूस बनकर उसका उपभोग ही नहीं करता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कहानी के नायक जमीदार के बारे में लिखा है कि वह इतनी संपत्ति छोड़ गया जो उसकी सात पीढ़ियों को भ्रष्ट करने के लिए काफी थी। धन के नशे में मनुष्य अंधा हो जाता है। समाज में दुराचार फैलाने की ज्यादातर जिम्मेदारी धनवानों की ही होती है।

इसी बात को यान-वान के दृष्टान्त से समझाया है। जिसके पास सवारी होती है, उसे रास्ता चलने की मेहनत नहीं करनी पड़ती। वह पैदल चलने वालों

खंडन-मंडन आदि करते हैं उस विवाद को शास्त्रार्थ कहा जाता है। शास्त्रार्थ में किसी को मध्यस्थ बनाया जाता है और उसका निर्णय दोनों को मान्य होता है।

बुद्धिमानों का कहना है कि तर्क-वितर्क से कोई बात सिद्ध नहीं होती, सिर्फ बाल की खाल निकाली जाती है और विपक्षी को निरुत्तर करने के लिए छल, वितंडा, जल्प, हेत्वाभास आदि का प्रयोग किया जाता है।

बुद्धिमानों से विवाद करना शोभनीय नहीं होता, क्योंकि बुद्धिमान जन जो बात कहते हैं वह प्रमाण-सिद्ध तथा अनुभव-सिद्ध होती है। उसमें तर्क-वितर्क की गुंजाइश नहीं होती। लेकिन फिर भी कोई उनसे उलझ ही पड़े तो वे चुप हो जाते हैं और व्यर्थ की बहस में नहीं पड़ते।

मूर्ख से विवाद करना तो पत्थर से सिर फोड़ने के समान होता है। मूर्ख तो अपनी बात के आगे किसी की चलने ही नहीं देता। चाणक्य नीति में कहा है :

मूर्खस्य परिहर्त्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः।

मूर्ख को दो पांव वाला जानवर समझ कर त्याग देना चाहिए।

मित्र से विवाद कभी-कभी ऐसा उग्र रूप धारण कर लेता है कि मित्रता शत्रुता में परिणत हो जाती है। इसलिए इससे हमेशा बचना चाहिए।

गुरु दो प्रकार के होते हैं, एक विद्याध्ययन कराने वाले, दूसरे आध्यात्मिक साधना का मार्ग दर्शाने वाले। जहां शंका हो या कोई बात समझ में न आये, वहां गुरु से प्रश्न तो करना चाहिए, परन्तु उससे तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिये। गुरु श्रद्धा का पात्र होता है। तर्क-वितर्क अश्रद्धा का लक्षण है।

अपने स्वामी से अथवा जिसके अधीन रहकर काम करना हो, उससे विवाद नहीं करना चाहिए। अपनी बात या अपना मतभेद नम्रता से प्रकट कर देना चाहिए, और अगर वह न माने तो दो ही रास्ते हैं। या तो चुप हो जाये या उसकी नौकरी या अधीनता त्याग दे। जल में रहकर मगरमच्छ से वैर नहीं चल सकता।

नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ॥३४७॥

नास्ति धनवतां सुकर्मसु श्रेयः ॥३४८॥

नास्ति गतिश्रमो यानवताम् ॥३४९॥

पैशाचिकता के बिना ऐश्वर्य नहीं होता ॥३४७॥

पर चलने-फिरने में दिक्कत होती है और मनुष्य भाग नहीं सकता। इसी प्रकार पत्नी के कारण पुरुष को संभल-संभल कर चलना पड़ता है। वह उसके लिए ऐसा भार बन जाती है जिसे वह हटा नहीं सकता। परन्तु पति-पत्नी में सामंजस्य हो तो यह बेड़ी कष्टप्रद नहीं होती। पति को कुमार्ग में जाने से रोकती है।

दुश्चरित्र पत्नी समझदार आदमी को जलाती है, यह स्वाभाविक है। शास्त्रों में पर-स्त्री-गामी पुरुष को बर्दाश्त किया गया है, किन्तु पर-पुरुष-गामी स्त्री को नहीं। पतिव्रत पर जोर दिया गया है, पत्नीव्रत पर नहीं। जब कोई पुरुष और स्त्री विवाह बंधन में स्वेच्छा से बंधते हैं, तो दोनों को एक दूसरे के प्रति निष्ठावान होना चाहिए।

अब जो वर्जनाहीन समाज बनता जा रहा है, उसमें दोनों ही स्वच्छन्द होते हैं। इसी कारण तलाकों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

सावधान होकर पत्नी के निरीक्षण का यही अर्थ हो सकता है कि उसकी गतिविधियों को शंका की दृष्टि से न देखे। उसे कोई अनुचित कार्य भी न करने दे। परन्तु यह अधिकार स्त्री को भी होना चाहिए।

स्त्रियों का जरा भी विश्वास नहीं करना चाहिए, ऐसा ही चाणक्य नीति में भी कहा है : 'विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च', अर्थात स्त्रियों का और राजाओं का विश्वास नहीं करना चाहिए। कारण यह बताया है कि स्त्रियों में स्थिरता और लोकज्ञता नहीं होती। यह तो मनोविज्ञान भी मानता है कि स्त्रियों का स्वभाव पुरुषों की अपेक्षा अधिक चंचल होता है और घर में रहने के कारण उन्हें संसार का अनुभव भी कम होता है। परन्तु यह कहना कि स्त्रियों का विश्वास ही नहीं करना चाहिए, नारी जाति का अपमान है। आज के युग में तो इस कथन की कोई सार्थकता नहीं।

गुरुणा माता गरीयसी ॥३५५॥

सर्वावस्थासु माता भर्त्तव्या ॥३५६॥

माता का स्थान सब गुरुओं से ऊंचा है ॥३५५॥

माता का भरण-पोषण सब अवस्थाओं में कर्त्तव्य हैं ॥३५६॥

पूर्ववर्ती सूत्र नारी के प्रति एक प्रकार से निन्दापरक हैं। परन्तु इस सूत्र में माता की प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा भी कम नहीं बल्कि गुरु से भी अधिक। माता भी स्त्री होती है। तो ऐसा लगता है कि चाणक्य नारी के माता रूप को ही मान्यता देता है और उसे पूजनीय घोषित करता है। यह नारी का गौरव नहीं, बल्कि मातृत्व का गौरव है। इस मामले में चाणक्य ने प्राचीन परंपरा का निर्वाह किया है। श्रुति कहती है : 'मातृमान, पितृमान, आचार्यवान पुरुषो वेद' और

के कष्टों और थकावट को महसूस नहीं कर सकता। इसी प्रकार धनवान मनुष्य निर्धनों के कष्टों को महसूस नहीं करता। उसे तो केवल अपने आराम का खयाल रहता है। कहावत है : 'जाके पांव न परी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई'।

अलोहमयं निगडं कलत्रम् ।।३५०।।

दुष्कलत्रं मनस्विनां शरीरकर्शनम् ।।३५१।।

अप्रमत्तो दारान् निरीक्षेत् ।।३५२।।

स्त्रीषु किंचिदपि न विश्वसेत् ।।३५३।।

न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञता च ।।३५४।।

पत्नी बिना लोहे की बेड़ी होती है ।।३५०।।

दुश्चरित्र पत्नी बुद्धिमान के शरीर को जलाती है ।।३५१।।

पत्नी का सावधानी से निरीक्षण करे ।।३५२।।

स्त्रियों का जरा भी विश्वास नहीं करे ।।३५३।।

स्त्रियों में स्थिरता और लोक का ज्ञान नहीं होते ।।३५४।।

ये पांचों सूत्र स्त्रियों के विषय में है। चाणक्य के युग में परिस्थितियां ऐसी रही होंगी जिनके कारण इन सूत्रों की रचना हुई। मनुस्मृति में भी स्त्रियों के स्वभाव के बारे में ऐसे ही श्लोक हैं, और चाणक्य ने बहुत हद तक मनु का अनुसरण किया है। इन्हीं बातों को लेकर प्राचीन आचार्यों तथा शास्त्रकारों पर आक्षेप किये जाते हैं और कहा जाता है कि प्राचीनकाल में नारी को हीन समझा जाता था। उसे कोई अधिकार नहीं थे और आजन्म पुरुष की दासी बनकर रहना पड़ता था।

वेद में और स्मृतियों में स्त्री की प्रशंसा भी है और उसे गृह देवी, गृह-स्वामिनी आदि कहा गया है। पत्नी को पति की अर्द्धांगिनी माना गया है, अर्थात पति और पत्नी मिलकर ही संसार यात्रा पूरी कर सकते हैं। इस प्रकार स्त्रियों के बारे में जो बातें कही गयी हैं वे परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। संतों ने तो नारी ज़ाति के लिए बहुत ही अपशब्दों का प्रयोग किया है।

पत्नी को बिना लोहे की बेड़ी शायद इसलिए कहा है कि विवाह के बाद पुरुष बंधन में पड़ जाता हैं। उस पर पत्नी के भरण-पोषण की जिम्मेदारी आ पड़ती है और उसकी स्वच्छन्दता पर अंकुश लग जाता है। पांव में बेड़ी पड़ जाने

दूसरा यह कि यदि कोई विद्वान अलंकार धारण करता है तो देखने वालों का ध्यान उसके अलंकारों की तरफ ही जाता है। उसकी विद्वता पर ध्यान नहीं दिया जाता।

'काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' अर्थात बुद्धिमानों का समय काव्य तथा शास्त्रों के पठन-पाठन में व्यतीत होता है। ये ही उनके मनोविनोद के साधन होते हैं। उन्हें अपने शरीर को सजाने में कोई रुचि नहीं होती क्योंकि उनकी भौतिक कामनाएं शान्त हो जाती है। 'नाकामी मंडनप्रियः' अर्थात् अकामी मनुष्य सजावट को पसंद नहीं करता।

भर्तृहरि ने कहा है :

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजा।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

बाजूबंद और चन्द्रमा के समान दीप्तिमान हार धारण करने, स्नान तथा उबटन करने तथा केशों में पुष्प सजाने से भी ऐसी शोभा नहीं होती जैसी संस्कारयुक्त तथा अलंकारपूर्ण वाणी से होती है। भूषणों का तो नाश हो जाता है, किन्तु वाणी रूपी भूषण का कभी नाश नहीं होता।

वाणी का यह भूषण विद्वानों के ही पास होता है। उनकी विद्वता ही ऐसी प्रखर होती है कि उन्हें किसी दिखावे की आवश्यकता नहीं होती। शरीर को सुन्दर वस्त्रों तथा गहनों से सजाना छैल-छिकनियों का काम होता है।

यदि कोई विद्वान सुन्दर तथा तडक-भड़क के कपड़े और गहने पहनता है, तो उसकी विद्वता इस सजावट में छिप जाती है। लोग उसके अलंकारों की प्रशंसा करने लगते हैं और उसकी विद्वता को भूल जाते हैं।

इस सूत्र का पाठान्तर भी है :

वैरूप्यमलंकारेणाच्छाद्यते।

अर्थात् कुरूपता अलंकारों से ढक जाती है। यह भी सार्थक है। बहुत से नर-नारी अपनी शारीरिक हीनता अथवा कुरूपता को छिपाने के लिए अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हैं। कुरूप स्त्रियां खूब श्रृंगार करती हैं और सांवली स्त्रियां गोरी नजर आने के लिए चेहरे पर क्रीम और पाउडर लगाती हैं। वस्त्राभूषण से बहुत हद तक कुरूपता छिप जाती है, या लोग वस्त्राभूषण की चकाचौंध में कुरूपता पर ध्यान नहीं देते। लेकिन जैसा एक शायर ने कहा है :

उपनिषद् में गुरु शिष्य को उपदेश देता है : मातृ देवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव'।

माता पिता और आचार्य अथवा गुरु तीनों को देवता का दर्जा दिया गया है और इन तीनों में माता का स्थान सबसे पहला है। माता को गुरु से भी ऊपर कहा गया है।

भारतीय पुराणों में ईश्वर की शक्तियों को देवियों का रूप दिया गया है और उन्हें माता की संज्ञा दी गयी है। यूनानी मिथक में भी देवियों की पूजा है। ईसाइयों के रोमन कैथलिक संप्रदाय में येसु की माता मरियम की पूजा होती है।

माता के रूप में नारी वास्तव में गुरु से भी अधिक पूजनीय है। इसका कारण यह है कि जब बालक गर्भ में होता है, तभी माता के संस्कार उस पर पड़ना शुरू हो जाते हैं। जन्म के बाद भी शैशवावस्था में बालक को माता से ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त होती है। इसलिए यदि कोई मनुष्य जीवन में यश तथा कीर्त्ति प्राप्त करता है या विद्वान और सदाचारी बनता है, तो इसका श्रेय उसकी माता को ही होता है।

फ्रान्स में जब नैपोलियन का स्मारक बनाया जा रहा था, तब नैपोलियन की जीवनी के लेखक एँबट ने सुझाव दिया था कि नैपोलियन की माता की मूर्त्ति स्थापित की जानी चाहिए। वह माता धन्य है जिसने नैपोलियन जैसे पुत्र को जन्म दिया और उसे ऐसा योग्य बनाया।

संतान को बनाने या बिगाड़ने में माता की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है।

जब माता गुरु से भी अधिक पूजनीय है तो पुत्र का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक अवस्था में उसका भरण-पोषण करे और उसकी सेवा करे। जिस माता ने लाड-प्यार से उसे पाला-पोसा है उसकी अवज्ञा करना परले सिरे की कृतघ्नता है। माता की वृद्धावस्था में तो उसका विशेष ध्यान रखना चाहिए और उसे सब तरह का आराम देना चाहिए।

वैदुष्यमलंकारेणाच्छाद्यते ॥३५७॥

मनुष्य की विद्वत्ता अलंकारों से ढक जाती है ॥३५७॥

इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते है। एक तो यह कि अलंकार धारण करना, अर्थात शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाना, विद्वानों को शोभा नहीं देता।

जीवविज्ञान में आजकल मनुष्य की 'क्लोनिंग' यानी 'कलम लगाने' के जो प्रयोग हो रहे हैं, वे यदि सफल हो जाते हैं तो पुरुष और स्त्री का शायद लिंग-भेद ही मिट जाये और यौन-संबंधों की आवश्यकता ही न रहे। परन्तु क्या यह संभव है ? क्या प्रकृति के नियमों को बदलना मनुष्य की सामर्थ्य है ? प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की दौड़ में विज्ञान ने जल और वायु के प्रदूषण की भयंकर समस्या उत्पन्न कर दी है। स्त्री-पुरुष का भेद मिटने का क्या परिणाम होगा, यह भविष्य के गर्भ में है। इस परिवर्तन का सूत्रपात करने वाले तब नहीं रहेंगे।

विप्राणां भूषणं वेदः ॥३६०॥

वेद ब्राह्मणों का भूषण है ॥३६०॥

इस सूत्र में वेद और ब्राह्मण, ये दो शब्द महत्वपूर्ण हैं। इसलिए इन शब्दों की सही परिभाषा के बिना इस सूत्र की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह परिभाषा इस कारण आवश्यक है कि इसके बारे में बहुत अनभिज्ञता है। साधारण तौर पर ऋक, यजु, साम और अथर्व—इन चार ग्रन्थों को वेद कहा जाता है, और ब्राह्मण कहलाने वाली जाति में जन्म लेने वाला ब्राह्मण माना जाता है। परन्तु वास्तव में न तो वेद किसी विशेष पुस्तक का नाम है और न केवल ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाला ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।

इन दोनों शब्दों के अर्थ बहुत गम्भीर हैं।

वेद का प्रादुर्भाव

तैत्तिरीय संहिता, अष्टाध्यायी, आपस्तंब धर्म सूत्र, अमरकोश आदि के अनुसार वेद शब्द संस्कृत की चार धातुओं से व्युत्पन्न है : विद् (ज्ञाने), विद् (सत्तायाम्), विद् (लाभे) तथा विद् (विचारणे)। स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में वेद की यह परिभाषा लिखी है :

विद्यन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ते लभंते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्याम् यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

जिससे सब मनुष्य सत्य विद्या को जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान होने हैं, अथवा सत्यविद्या की प्राप्ति के लिए जिसमें प्रवृत्त होते हैं, उसको वेद कहते हैं।

वैदिक परम्परा में वेद को अपौरुषेय माना गया है, अर्थात वेद ईश्वरकृत है, मनुष्य की रचना नहीं। एक वेद मंत्र में इसका उल्लेख है :

नहीं मोहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा देवे
फलक पर खुशनुमा लगता है देखो चांद बिन गहने ।

स्त्रीणां भूषणं लज्जा ।।३५८।।

स्त्रियों का भूषण लज्जा है ।।३५८।।

चाणक्य नीति में कहा है कि स्त्रियों में पुरुषों से चौगुनी लज्जा होती है । पुरुष वर्ग जिस प्रकार खुलकर हाव-भाव प्रदर्शित करता है, हंसता-बोलता है, चलता-फिरता है, शरीर को उघाड़ता है, वैसा करना स्त्रियों को शोभा नहीं देता । इसी का नाम लज्जा है । परन्तु यह विचार अब पुराना पड़ता जा रहा है और यह मान्यता धीरे-धीरे नष्ट हो रही है । नारी-मुक्ति आन्दोलन के समर्थक तो इन बातों को कोरी बकवास कहते हैं । उनका कहना है कि यह सब स्त्रियों को बंधन में रखने की पुरुष-वर्ग की योजना है ।

पाश्चात्य देशों में तो बहुत सी स्त्रियां लज्जा जैसी चीज का परित्याग करने में पुरुषों से भी आगे बढ़ गयी हैं । अंग-प्रत्यंग का प्रदर्शन करने में भी लज्जा अनुभव नहीं करतीं और अब तो स्त्रियां पुरुषों जैसी पोशाक भी पहनने लगी हैं । पोशाक के मामले में आधुनिक 'जीन्स' ने स्त्री-पुरुष का भेद मिटा दिया है । यह हवा हमारे देश में भी आ रही है । शहरों में इसका प्रवेश हो रहा है, पर गांव अभी अछूते हैं । नारी की 'प्रगति' अगर इसी रफ्तार से होती रही तो ताज्जुब नहीं एक जमाना ऐसा आ जाये जब लज्जा 'भूषण' नहीं बल्कि दूषण समझी जाये । प्राचीनकाल से चली आ रही अनेक मर्यादाएं नष्ट होती जा रही हैं और वर्जनाहीन (परमिसिव) समाज का प्रतिपादन हो रहा है ।

लज्जा एक कोमल भावना है, जो पुरुषों में भी होती है । परन्तु पुरुषों की निर्लज्जता उतनी बुरी नहीं समझी जाती जितनी स्त्रियों की । अब जब शरीर की प्राकृतिक रचना के सिवाय बाकी सभी बातों में स्त्री-पुरुष का भेद मिटता जा रहा है, और स्त्रियां हर क्षेत्र में आगे आ रही हैं, तब चाणक्य के इस सूत्र का कोई अर्थ नहीं रहता । स्त्रियां स्वभाव से लज्जाशील होती हैं । यह पुराने संस्कारों का प्रभाव है । अब ये पुराने संस्कार लुप्त हो रहे हैं और तदनुसार स्त्रियों का स्वभाव भी बदल रहा है । पहले स्त्रियां पुरुषों की मंडली में बैठने से सकुचाती थीं, अब वह बात नहीं रही । यह परिवर्तन प्राकृतिक दृष्टि से अनुकूल है या प्रतिकूल, इसका निर्णय आज नहीं किया जा सकता । कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव सदियों में जाकर प्रकट होता है ।

वेद में विज्ञान

इस प्रश्न का उत्तर जयपुर के महामहोपाध्याय विद्यावाचस्पति पंडित मधुसूदन ओझा ने दिया है। उन्होंने वैदिक शब्दों का गहन अध्ययन तथा चिन्तन करके प्रमाणित किया है कि वेद में ज्ञान, कर्म उपासना के अलावा इतिहास तथा विज्ञान भी हैं। पंडित मधुसूदन ओझा रचित साहित्य हजारों पृष्ठों में है जिसका कुछ भाग उनके पुत्र प्रद्युम्न कुमार तथा शिष्य मोतीलाल शास्त्री ने प्रकाशित किया है। उनके शिष्य वासुदेव शरण अग्रवाल तथा गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी वैदिक विज्ञान पर पुस्तकें लिखी हैं। वेद में विज्ञान के क्या-क्या रहस्य छिपे हुए हैं, इनका कुछ परिचय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी की पुस्तक 'वैदिक विज्ञान' में दिया गया है। भारतीय परंपरा तथा संस्कृति पर गौरव करने वाले प्रत्येक भारतीय को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए। इस पुस्तक के तीन अंश मैं उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत करता हूं। ऋग्वेद में सूर्य का एक मंत्र है :

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ।।

इसका अक्षरार्थ सीधा-सादा यह होता है कि उस जातवेदा सूर्य को संसार को दिखाने के लिए, किरणें ऊपर लाती हैं।""किन्तु यह समझ में नहीं आता कि किरणें सूर्य को ऊपर किस प्रकार लाती हैं या ऊपर लाने से संसार को सूर्य किस प्रकार दिखाई दे जाता है।""ऊपर ले जाने से और संसार को दिखाने से क्या संबंध ? किसी भाष्य या व्याख्या में इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया। किन्तु आज वैज्ञानिकों की कृपा से इन अक्षरों का गंभीर भाव हम समझ सकते हैं।

वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि जिस समय हम सूर्य का उदय देखते हैं, वास्तव में उस समय सूर्य का उदय नहीं होता। अर्थात् क्षितिज पर जब तक सूर्य नहीं आता, क्षितिज से नीचे रहता है, तभी भू-वायु के ऊपरी स्तर पर किरणें गिरती हैं। तरल पदार्थ पर फिसल कर वक्र हो जाना किरणों का स्वभाव है, जैसे जल में डाली गई लकड़ी टेढ़ी दिखाई देती है।""इसी नियम के अनुसार वक्र होकर सूर्य किरणें हमारी आंखों पर पहले ही आ जाती है और उदय से पहले ही सूर्य को दिखा देती हैं। इस प्रकार किरणों का सूर्य को ऊपर लाना स्पष्ट हो गया।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ।।

यह मंत्र सनातन-धर्मानुयायिओं में इतना प्रसिद्ध है कि तिलक आदि करते समय आशीर्वाद के रूप में ब्राह्मण इसी का प्रयोग करते हैं। मंत्र का सरल

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुः तस्मादजायत ॥

सबके पूजनीय और यजनीय ईश्वर से ऋक, यजु, साम तथा छंद अर्थात् अथर्व वेद प्रकट हुए ।

ईश्वर तो निराकार है, फिर उसने शब्द के रूप में वेद को कैसे प्रकट किया ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्रत्येक कल्प के आरंभ में वेद का ज्ञान ऋषियों को समाधि–अवस्था में प्राप्त होता है । 'ऋषयोः मंत्रद्रष्टारः' अर्थात ऋषिगण मंत्रों के द्रष्टा होते हैं । निरुक्त में लिखा है :

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूयुः ।
तेवरेभ्यो साक्षात्कृत धर्मस्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः ॥

सारे जगत के वस्तु-धर्मों का तथा मनुष्यों के कर्त्तव्य आदि का ऋषियों को साक्षात्कार हुआ था और साक्षात्कार से प्राप्त उस धर्म के उपदेश के लिए उन्होंने मंत्रों की रचना की । मंत्र द्रष्टाओं में कई स्त्रियों के भी नाम हैं । वेद को श्रुति भी कहा जाता है क्योंकि इसे ऋषियों ने सुना था ।

वेद के विषय

प्राचीनकाल में वेद शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए होता था । इसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद सम्मिलित थे । 'मंत्र ब्राह्मण योर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मंत्र और ब्राह्मणों का नाम वेद है । आरण्यक तथा उपनिषद को ब्राह्मण के अन्तर्गत माना गया है । ब्राह्मण का अर्थ यहां ब्राह्मण जाति नहीं, वल्कि वेदार्थ को प्रकट करने वाले ग्रंथों से है ।

वेद को तीन कांडों में विभक्त किया गया है : ज्ञान, कर्म तथा उपासना । वेद मंत्रों में उपासना है । ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म है तथा आरण्यक और उपनिषदों में ज्ञान है । परन्तु वाद में ब्राह्मण ग्रन्थों को मूल वेद से पृथक मान लिया गया ।

वेद में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक, तीनों विषयों का सन्निवेश है । इसलिए इन तीनों भावों के अनुसार प्रत्येक वेद मंत्र के तीन अर्थ होते हैं । वेदों के विभिन्न भाष्य एकांगी हैं । भाष्यकारों ने किसी एक भाव को लेकर वेदमंत्रों की व्याख्या की है । सायणचार्य ने अवश्य कुछ मंत्रों के तीन-तीन अर्थ किये हैं ।

वेद को अनन्त ज्ञान का तथा संसार की सारी विद्याओं का भंडार माना जाता है, अर्थात उसमें सारी विद्याओं का सूत्ररूप में उल्लेख है । तो क्या आज जिसे विज्ञान कहा जाता है, वह विज्ञान भी वेद में है ?

पुष्य, चित्रा, श्रवण और रेवती, इन चार समानान्तर विभागों में विभक्त कर संपूर्ण खगोल को अपना कल्याणकारक बनाने की मनुष्य समाज की ईश्वर से प्रार्थना है।

वेद में वैज्ञानिक शिल्प

वेद में जो वैज्ञानिक शिल्प के बहुत-से वर्णन यत्र-तत्र मिलते हैं, उनमें से भी एक उद्धरण यहां दिया जाता है :

अनश्वो जतो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्र परिवर्त्तते रजः।
महत्तद्वो देवस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥

रथं ये चक्रः सुवृतं सुचेतसो-अवह्वरन्तं मन सस्परिध्यया।
तां उन्वस्य सवनस्य पीतये अधो वाजा ऋभवो वेदयामसि ॥ ऋग्वेद ॥

इन मंत्रों के दृष्टा वामदेव ऋषि हैं। ये ऋभु देवताओं की स्तुति के मंत्र हैं। ऋभु देवताओं का इतिहास भी बहुत-कुछ कई मंत्रों में बताया गया है और उनके संबंध में यह भी कहा गया है कि इन्होंने मनुष्य योनि से देवभाव प्राप्त किया था। इनकी मनुष्य दशा के या देव-भाव के विविध शिल्पों का वर्णन ऋक-संहिता के बहुतसे सूक्तों में मिलता है।

वेद भाष्यकार श्री माधवाचार्य के लेखानुसार प्रकृत मंत्रों का अभिप्राय यह है कि हे ऋभु देवताओं, आपने जो रथ बनाया है, वह घोड़े आदि वाहन की और लगाम आदि उपकरण की कोई अपेक्षा नहीं रखता। अतएव वह सर्वथा स्तुति के योग्य है। तीन पहिये का वह रथ अंतरिक्ष—लोक में भ्रमण करता है। यह आपका बहुत भारी काम आपके देवभाव का प्रख्यापक है, और ऐसे कार्यों से आप पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को पुष्ट करते हैं। हे ऋभु देवताओो, बड़े विचारशील जिन आप लोगों ने अपने मन के विचार से विना प्रयत्न ही सुन्दर, गोल और अकुटिल रथ बनाया है, उसको हम अपने इस यज्ञ में सोमपान के लिए निमंत्रित करते हैं।

एक वेद मंत्र में ऐसे रथ का भी वर्णन है जो भूमि,अन्तरिक्ष और जल, तीनों में समान गति रखता है।

ऋभु देवताओं ने एक ऐसा चमस (यज्ञ का एक पात्र) बनाया था जो एक रूप भी रहता था और चार रूपों में प्रकट कर दिया जाता था, ऐसा वर्णन भी मंत्रों में आता है।

वेद में जो विज्ञान प्राप्त होते हैं उनका दिग्दर्शन कराया गया। वेद तो अनन्त विज्ञानों की निधि है। मनु आदि परमाचार्य कहते आये हैं :

अर्थ यह कि (वृद्धश्रवाः) बड़ा यशस्वी वा अधिक धनवाला इन्द्रदेव हमारा कल्याणकारक हो, सबको जीतनेवाला वा सर्वधनयुक्त पूषा देवता भी हमारे लिए शुभ करे। (अरिष्टनेमिः) जिसके प्राणः, पक्ष आदि कभी नष्ट नहीं होते, ऐसा (तार्क्ष्य) गरुड़ हमारे लिए शुभप्रद हो, और बृहस्पति भी हमारे कल्याण को परिपुष्ट करे।

उच्च कक्षा के अधिकारी जब इसका मनन करेंगे और विचारेंगे कि इन्द्र, पूषा, तार्क्ष्य और बृहस्पति, इनको साथ-साथ इस मंत्र में कहने का क्या तात्पर्य है, तब अंगों की सहायता से उन्हें यहां एक विचित्र ही चमत्कार प्रतीत होगा। मनन से विदित होगा कि इस मंत्र में तारा संबंधी विज्ञान है।

संपूर्ण खगोल के ३६० कल्पित अंश है।....१३ अंश २० कला का एक भाग मानकर २७ भाग खगोल के किये जाते हैं जिन्हें अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र कहते हैं।....इन २७ भाग रूप नक्षत्रों में से कुछ कम ७ नक्षत्रों पर खगोल का एक चतुर्थांश (९० अंश) पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार के ९०–९० अंश के ४ खगोल भाग इस मंत्र द्वारा हमें बताये गये हैं।

कई नक्षत्र एक-एक तारा के है और कई दो-दो और बहुत-बहुत ताराओं की समष्टि रूप हैं। इनमें भी एक प्रधान तारा योग-तारा कहलाता है। उन प्रधान योग-ताराओं को वेद में इन्द्र, अग्नि, विष्णु, बृहस्पति आदि देवताओं के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।....ज्योतिष शास्त्र के 'मूहूर्त चिन्तामणि' आदि ग्रंथों में उन-उन नक्षत्रों के वे ही स्वामी माने गये हैं जो उनके प्रधान ताराओं के वैदिक देवता-संकेत हैं। इसके अनुसार चित्रा नक्षत्र २७ नक्षत्रों में मध्य का नक्षत्र है।....वृद्धश्रवाः का अर्थ है लंबे कान वाला। भारत के और दूसरे देशों के भी पुराने चित्रों में चित्रा नक्षत्र का आकार लंबे कान के उलूक जैसा बनाया हुआ मिलता है क्योंकि कौशिक नाम उलूक का भी है। अस्तु, इसके ठीक सम्मुख अर्द्ध-समानान्तर पर रेवती नक्षत्र है जिसका देवता पूषा है। अन्तिम नक्षत्र होने के कारण इस मंत्र में विश्ववेदाः (सर्वद्रव्य-युक्त या सर्वज्ञान युक्त) कहा गया है। मध्य में चित्रा से प्रायः चतुर्थांश (९० अंश) दूरी पर श्रवण नक्षत्र है जो इस मंत्र में 'तार्क्ष्य' शब्द से युक्त है। श्रवण नक्षत्र में तीन तारे हैं। तीन ताराओं को संस्कृत में 'तृक्ष' कहते हैं।....इस नक्षत्र का स्वामी विष्णु है और तार्क्ष्य (गरुड़) विष्णु का वाहन है। यह नक्षत्र सूर्य के क्रान्ति-वृत्त की अन्तिम सीमा पर पड़ता है, अतः इसे 'अरिष्टनेमि' कहा है।

इसके अर्द्धान्तर पर रेवती से चतुर्थांश की दूरी पर पुष्य नक्षत्र है। जिसका स्वामी बृहस्पति इस मंत्र के चतुर्थ पाद में निर्दिष्ट हुआ है। इस प्रकार

प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद थे। इनमें से भी अधिकतर लुप्त हो गये हैं। ऋग्वेद का एक ब्राह्मण (कोषीतकि) तथा एक आरण्यक (ऐतरेय) उपलब्ध है। यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा का एक ब्राह्मण (शतपथ) उपलब्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद् इसी का भाग है। सामवेद के आठ ब्राह्मण उपलब्ध हैं। छान्दोग्य तथा केन उपनिषद इन्हीं में सम्मिलित हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण का नाम गोपथ है। इसके ज्ञान कांड में अनेक उपनिषदें थी जिनमें से बीस के लगभग उपलब्ध हैं। अथर्ववेद में कुछ ऐसे कार्यों के भी मंत्र हैं जिन्हें तांत्रिक-प्रयोग कह सकते हैं।

ऋषि, देवता, छन्द

प्रत्येक वेदमंत्र के साथ उसके ऋषि, छंद तथा देवता का नाम आता है। जिस ऋषि को उस मंत्र के दर्शन हुए, वह उसका ऋषि, जिस छन्द में मंत्र रचा गया वह उसका छन्द और जिस देवता की उपासना का मंत्र है वह उस मंत्र का देवता कहे जाते हैं। छंद सात हैं : गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती। गायत्री छन्द का उपयोग सर्वाधिक हुआ है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र का नाम इसी छन्द के नाम पर है।

वेदांग : वेदों के सहायक शास्त्रों को वेदांग कहते हैं। इनकी संख्या छह है : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनके अध्ययन के बिना वेदों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

शिक्षा अथवा शीक्षा : यह एक प्रकार से ध्वनि-शास्त्र है। इसमें वेद-मंत्रों के शुद्ध उच्चारण की व्यवस्था है। मंत्रों के शुद्ध उच्चारण से ही उनका प्रभाव प्रकट होता है। वैदिक विज्ञान के अनुसार प्रत्येक मंत्र के उच्चारण से विशेष प्रकार की ध्वनि-तरंगें उत्पन्न होती हैं जो अपना विशिष्ट प्रभाव डालती हैं। अशुद्ध उच्चारण से अनर्थ हो सकता है। वेद मंत्र के शब्दों या अक्षरों में कोई परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर वेद पाठ के तीन रूप निश्चित किये गये हैं : क्रमपाठ, घनपाठ तथा जटापाठ। इन पाठों के कारण वेदमंत्रों के किसी एक अक्षर में तथा अक्षरों की मात्राओं तक में हेरफेर नहीं हो सकता। शिक्षा के विषय में पाणिनि का 'पाणिनीय शिक्षा' नामक ग्रन्थ मिलता है। मंत्रों की ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण का कालांश आदि इस शास्त्र के मुख्य विषय हैं। उच्चारण में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्तान, इन छह बातों का ध्यान रखा जाता है। स्वरों के तीन भेद हैं : उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। मात्राएँ तीन हैं : ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। वर्ण दो प्रकार के होते हैं : अल्पप्राण तथा महाप्राण। श्रुति मधुर पाठ को साम कहते हैं। संधि को सन्तान कहते हैं।

भूतं भवद् भष्यिच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ।

अर्थात् सब कालों के ज्ञान-विज्ञान वेद से ही सिद्ध होते है ।

वेद मंत्रों के अर्थ केवल निरुक्त और व्याकरण के आधार पर नहीं किये जा सकते । उनके गूढ़ार्थ जानने के लिए अन्तर्ज्ञान की आवश्यता होती है । भारत के कई योगियों ने वेदों के इन गूढ़ार्थ का अनुभव किया है और बताया है कि आधुनिक विज्ञान की अनेक खोजों का वेदों में संकेत है । जिज्ञासुओं को सर जॉन वुडरॉफ और स्वामी प्रत्यभिज्ञानंद के ग्रन्थ पढ़ने चाहिए ।

वेदों की संख्या

वेदों के बारे में यह मान्यता है कि प्रारम्भ में वेद की एक ही संहिता थी, जिसे छन्दस् कहते थे । इसमें गद्य, पद्य और गेय, तीनों प्रकार के मंत्र सम्मिलित थे । बादमें इनके तीन विभाग कर दिये गये । इनमें गद्य को यजुर्वेद, पद्य को ऋग्वेद और गान को सामवेद कहा जाता है । यही वेदत्रयी कहलाती है । इन तीन प्रकार की रचनाओं का तीन वेदों में विभाजन महर्षि वेदव्यास ने किया । इनके अलावा शांतिक, आभिचारिक, पौष्टिक आदि यज्ञ-कर्मों से संबंधित तथा ज्ञान-विज्ञान, आयुर्वेद आदि विषयों के मंत्रों का संग्रह अथर्ववेद में कर दिया । कुछ लोग इसे अथर्व अथवा अंगिरा ऋषि का संकलन मानते हैं । इस प्रकार चार वेद हो गये ।

ऋग्वेद संहिता के दस मंडल हैं और इसमें मंत्रों की संख्या दस हजार के लगभग है । पातंजल महाभाष्य में ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख है, परन्तु अब केवल दो प्राप्त हैं : शाकल और वाष्कल । इसमें भी शाकल शाखा ही प्रचलित है । ये शाखा भेद भी विभिन्न शिष्य परम्पराओं के कारण हुए बताये जाते हैं ।

यजुर्वेद के दो भाग हैं, शुक्ल तथा कृष्ण । शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी और माध्यन्दिनी संहिता भी कहते हैं । महाभाष्य के अनुसार यजुर्वेद की १०१ शाखाएं थीं जिनमें से अब केवल बारह शाखाएं तथा चौदह उप-शाखाएं ही उपलब्ध हैं ।

सामवेद की लगभग एक हजार शाखाओं में से अब केवल आठ शाखाएं मिलतीं हैं ।

अथर्ववेद का बहुत बड़ा अंश लुप्त हो गया है । इसकी नौ शाखाओं में से केवल एक शौनक शाखा ही उपलब्ध है ।

वेदमंत्रों के अर्थों के बारे में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो गयी थीं। निरुक्त पर कई टीकाएं हैं जिनमें दुर्गाचार्य की टीका तथा निरुक्त वार्तिक प्रसिद्ध है। बर्बरस्वामी, स्कन्द, महेश्वर तथा वररुचि ने भी निरुक्त पर टीकाएं लिखी हैं। निरुक्त वार्तिक अब नहीं मिलता।

व्याकरण : व्याकरण वह शास्त्र है जिसमें शब्दों तथा वाक्यों की रचना तथा उनके रूप निर्दिष्ट होते हैं। व्याकरण की सहायता के बिना किसी भाषा का समुचित ज्ञान तथा उपयोग नहीं हो सकता। व्याकरण को वेद का मुख कहा गया है।

संस्कृत का सबसे प्राचीन व्याकरण जो उपलब्ध है वह पाणिनि की अष्टाध्यायी है। पाणिनि से पहले गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, परन्तु इनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते। पाणिनि ने वैदिक शब्दों में धातुओं को खोजकर भाषा का संस्कार किया, इसीलिए वह संस्कृत कहलाई। वैदिक भाषा का नाम 'छन्दस्' था।

वेदों के अनेक शब्द पाणिनि के व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। उदाहरण के लिए उपनिषद् का 'सत्यमेव जयते' सूत्र पाणिनि के व्याकरण के अनुसार 'सत्यमेव जयति' होना चाहिए।

पाणिनि के समय के बारे में मतभेद है। विभिन्न इतिहासकारों ने इनका समय ई. पू. १००० तथा ४०० के बीच अनुमाना है।

पाणिनि के ग्रन्थ पर सबसे महत्त्वपूर्ण टीका पतंजलि का महाभाष्य है। कात्यायन तथा व्याड ने भी टीकाएँ लिखी हैं।

छन्द : छन्द शब्द का अर्थ है मनोहर, अर्थात् चित्त को प्रसन्न करने वाला। वेदों के पाठ को श्रुति मधुर बनाने के लिए जिस उपाय का अवलम्बन किया गया वह छन्द है। इसे वेद का चरण कहा गया है। छन्द से वेद मन्त्रों के सही उच्चारण तथा पठन का ज्ञान होता है। छन्दमय रचना को पद्य कहते हैं। पद्य का हमारे मस्तिष्क पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना गद्य का नहीं। कवि सम्मेलन और मुशायरे इसके प्रमाण हैं। इनमें श्रोताओं की भीड़ उमड़ पड़ती है।

पद्य में लय और ताल होते हैं, तथा वह गेय भी होता है। इसी कारण पद्य याद भी बहुत जल्दी हो जाते हैं। संस्कृत के श्लोक, हिन्दी के दोहे और उर्दू के शेर लोगों की जबान पर चढ़े रहते हैं।

वेद मंत्रों की लिपि में मंत्र के अक्षरों के ऊपर या नीचे रेखाएँ अंकित होती हैं। इन रेखाओं से निर्देश होता है कि किस अक्षर का किस प्रकार उच्चारण किया जाये।

कल्प : धार्मिक कर्मकांड, यज्ञों का विधान तथा संस्कारों की व्याख्या का निरूपण करने वाले ग्रन्थ कल्पसूत्र कहलाते हैं। इनके तीन विभाग हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। कल्पसूत्रों में कुल मिलाकर बयालीस कर्मों का उल्लेख है - श्रौत यज्ञ (१४), गृह्य यज्ञ (७), महायज्ञ (५), संस्कार यज्ञ (१६)।

सूत्र शैली में होने के कारण इन्हें सूत्र कहते हैं। प्रत्येक वेद संहिता का ब्राह्मण, उपनिषद आदि की भांति अलग सूत्र-ग्रन्थ होना चाहिए। इस प्रकार सूत्र ग्रन्थों की सख्या ११३० होनी चाहिए, परन्तु अब केवल चालीस कल्प सूत्र ही उपलब्ध हैं।

इन बातों से पता लगता है कि प्राचीन वैदिक वांग्मय का बहुत-सा भाग लुप्त हो गया है।

निरुक्त : वेद मंत्रों के अर्थों को समझने के लिए निघंटु तथा निरुक्त, इन दो ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक है। निघटु में वेदों के पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है। इसमें पांच अध्याय हैं। पहले तीन अध्यायों में एकार्थक शब्दों का और चौथे अध्याय में अनेकार्थक शब्दों का संग्रह है। निरुक्त को वेद का कान कहा गया है।

निरुक्त में निघंटु की व्याख्या है। इसमें वैदिक शब्दों की धातुओं से व्युत्पत्ति करके इनके अर्थ बताये गये हैं। निघंटु एक प्रकार से वैदिक शब्दों का कोश है और निरुक्त उसकी टीका है। इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता यास्क मुनि माने जाते हैं। इनका समय लगभग १००० ई. पू. अनुमाना गया है। निरुक्त पाणिनि के व्याकरण से पहले की रचना है, इसलिए व्याकरण शास्त्र में इसका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

निरुक्त के विषय ये हैं :

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तथार्थातिशयेन योगः तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

निरुक्त में तीन कांड हैं : नैघंटुक, नैगम तथा दैवत। इसमें चौदह अध्याय हैं। यास्क से पहले अनेक वैदिक शब्दों के अर्थ अज्ञात और अस्पष्ट हो गये थे, क्योंकि यास्क से पूर्व के सत्रह निरुक्तकारों के ग्रन्थ लुप्त हो चुके थे।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो तथा ।
तद्वत् वेदांग शास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ।।

जिस प्रकार मोर के सिर पर शिखा होती है और नाग के सिर पर मणि होती है, उसी प्रकार वेदांग शास्त्रों में ज्योतिष सबसे ऊपर स्थित है ।

वेदांग ज्योतिष पर बाल गंगाधर तिलक ने अंग्रेजी में पुस्तक लिखी है ।

ऋग्वेद की प्रचीनता

चारों वेदों में ऋग्वेद मुख्य है क्योंकि अन्य तीनों वेदों में इसी के मन्त्र पाये जाते हैं । इसकी प्राचीनता के बारे में विभिन्न मत हैं । इन सबका उल्लेख रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक अपनी पुस्तक में किया है । दिनकर ने लिखा है :

"ऋग्वेद आर्यो का ही नहीं, समस्त विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है । इसके काल निर्णय का प्रश्न इतना विलक्षण है कि कोई तो इसे पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानता है और कोई ईसा से सिर्फ दो सौ वर्ष पूर्व की चीज । सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् याकोबी ने ऋग्वेद का रचनाकाल ईसा से लगभग ६५०० वर्ष पूर्व माना है । लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना-काल ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व माना था । उनके मत से सारे मन्त्र एक साथ नहीं बने । ऋषियों और उनके वंशधरों ने समय-समय पर हजारों वर्षो में मन्त्र बनाये । इस तरह कुछ ऋचाएं दस हजार वर्षों की हैं, कुछ साढ़े आठ हजार वर्षों की और कुछ सात-साढ़े सात हजार वर्षों की । सभी प्राचीनतम ऋचाएँ ऋग्वेद की ही है । इस सम्बन्ध में सबसे उत्साहयुक्त दृष्टि डॉ. अविनाश चन्द्र दत्त की है जो ऋग्वेद को पचास से पचहत्तर हजार वर्ष पुराना मानते हैं । पं. रामगोविन्द त्रिवेदी का मत है कि ऋग्वेद में ऐसे अनेकानेक मन्त्र हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का निर्माण काल अठारह हजार से लेकर पचास हजार वर्ष के बीच का है । मैक्समूलर के मतानुसार ऋग्वेद ईसा से १२००-१००० वर्ष पूर्व बना था । इसके विपरीत विन्तरनित्स का मत है कि ऋग्वेद की रचना ईसा से २५०० वर्ष पूर्व हुई ।

"श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने प्रायः विन्तरनित्स के मत को स्वीकार किया है । वेदों का एक नाम श्रुति भी है जिससे यह यह अनुमान होता है कि वेदों की रचना मौखिक ही हुआ करती थी और मौखिक ही लोग उन्हें याद भी रखते थे । जब मन्त्रों की संख्या बहुत हो गई, तब उन्हें संहिताओं में विभाजित करना आवश्यक हो गया । श्रीजयचन्द्र का विचार है कि वेदों को संहिताओं में लिख डालने की बात तभी सूझी होगी, जब लेखन कला का आविष्कार हुआ

वेदों के अध्ययन में तो छन्द का ज्ञान अनिवार्य माना गया है ऋग्वेद तो सारा पद्यमय है। सामवेद तथा अथर्ववेद भी पद्यमय हैं। सामवेद के मन्त्र गाये जाते हैं, जिसे सामगान कहते हैं। यजुर्वेद में गद्य और पद्य दोनों हैं।

वेद में सात छन्दों का प्रयोग हुआ है : गायत्री, त्रिष्टुप, अनुष्टप, वृहती पंक्ति, उष्णिक और जगती। अनुष्टुप छन्द के बारे में आख्यान है कि यह सबसे पहले वाल्मीकि के मुख से प्रकट हुआ था। इसका अर्थ यही है कि इन सात छन्दों में से केवल अनुष्टुप छन्द का प्रयोग वाल्मीकि ने लौकिक छंद के रूप में किया था महाभारत में तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य में अनुष्टुप छन्द का ही सबसे अधिक प्रयोग हुआ है।

गायत्री छन्द में आठ-आठ वर्णों के तीन चरण होते हैं। उष्णिक में २८ वर्ण, अनुष्टुप में ३२ वर्ण, वृहती में ३६ वर्ण, पंक्ति में ४० वर्ण, त्रिष्टुक में ४४ वर्ण तथा जगती में ४८ वर्ण होते हैं।

छन्दशास्त्र के निर्माता महर्षि पिंगल माने जाते हैं। इसलिए छन्दशास्त्र को पिंगल भी कहते हैं। पिंगल में लगभग डेढ़ लाख वर्णवृत्तों का उल्लेख है; परन्तु संस्कृत साहित्य में लगभग पचास प्रकार के छन्द मिलते हैं। पिंगल वेदांग नहीं माना जाता।

ज्योतिष : ज्योतिष शास्त्र को वेद की आंख कहा गया है। 'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधक शास्त्र' अर्थात ज्योतिष सूर्य आदि ग्रहों का बोध कराने वाला शास्त्र है। वैदिक ऋषियों को सूर्य, चन्द्रमा आदि नवग्रहों का ज्ञान था और यज्ञ-याग के लिए उपयुक्त अयन, ऋतु, संत्वसर, मुहूर्त आदि निश्चित करने के लिए इनकी स्थिति का विचार किया जाता था। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में ज्योतिष का अधिक विस्तार से वर्णन है।

वेदों में ज्योतिष के सिद्धान्त चमत्कारिक रूप में बताये गये है। ऋग्वेद का नक्षत्र-सम्बन्धी एक मन्त्र इसी क्रम में दिया जा चुका हैं। ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में वर्ष के बारह मास ३६० दिन, और ७२० रात्रि-दिवस का वर्णन है :

द्वादश प्रध्यश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उनश्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवो अर्पिताः षष्टिर्न चला चलासः॥

ज्योतिष शास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदांग-ज्योतिष है। इसका रचना काल विभिन्न मतानुसार लगभग १४०० ई. पू. के बीच है। इसके विषय में कहा गया है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः ।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय उसके बाहु से, वैश्य कटि अथवा उदर से तथा शूद्र पांव से। इस मन्त्र को लेकर ब्राह्मणों ने वितंगडा खड़ा कर दिया कि वे सबसे ऊपर हैं और शूद्र नीच हैं। परन्तु इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि समाज रूपी विराट् पुरुष के ये चार अङ्ग है और इनमें से किसी भी अङ्ग के बिना उसका काम नहीं चल सकता। गुण और कर्मों के अनुसार समाज को चार भागों में बांट दिया गया है, एक मस्तिष्क से काम करने वाले ज्ञानी विद्वान् लोग, दूसरे देश की रक्षा करने वाले क्षत्रिय, तीसरे व्यापार-व्यवसाय करने वाले वैश्य तथा चौथे सेवा के कार्य करने वाले शूद्र। व्यवहार में आज भी यह चारों भेद प्रकट हो रहे हैं। इस भेद का तात्पर्य समाज को जातियों में विभाजित करना नहीं था। गीता में कृष्ण ने कहा है :

'चातुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुण कर्म विभागशः' अर्थात् मैंने गुण और कर्मों के भेद से चारों वर्णों को उत्पन्न किया है। गीता में ही ब्राह्मण के ये गुण बताये हैं :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिराजर्वमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ॥

शम (अन्तःकरण की शान्ति), दम (इन्द्रिय निग्रह), तप, भीतर तथा बाहर की पवित्रता, कष्ट—सहिष्णुता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा ईश्वर और वेद में विश्वास, ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

सर्वेषां भूषणं धर्मः ॥३६०॥

सब मनुष्यों का भूषण धर्म है ॥३६०॥

प्रथम सूत्र (सुखस्य मूलं धर्म) की व्याख्या में 'धर्म' की परिभाषा और विवेचना की जा चुकी है। इसी धर्म को मनुष्य मात्र का भूषण कहा गया है। जिस प्रकार आभूषण मनुष्य के शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार धर्म उसकी चारित्रिक शोभा बढ़ाता है। धर्म ही मनुष्य जाति को संसार को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाता है। इस विषय पर और अधिक लिखने की आश्यकता प्रतीत नहीं होती।

भूषणानां भूषणं सविनया विद्या ॥३६१॥

विनय सहित विद्या सारे भूषणों का भूषण है ॥३६१॥

होगा। भारत में लेखन कला का प्रचलन ईसा से १८०० वर्ष पूर्व हुआ और संहिताएँ भी तभी से लिखी जाने लगीं। लेकिन वेद, जिन संहिताओं में हमें अभी मिलते हैं, उनका संपादन कृष्ण द्वैपायन व्यास ने किया, जो महाभारत काल में जीवित थे। महाभारत का युद्ध ईसा से १४०० साल पूर्व हुआ था और उससे सौ साल पूर्व लेखन-कला का चलन हुआ। उससे भी सात सौ वर्ष पूर्व से वेदों की रचना होती आ रही थी। इस प्रकार हम कह सकते है कि ऋचाएँ ई. पू. २५०० से बनने लगीं . और ई. पू. १८०० तक अर्थात् सात सौ वर्षों तक बनती रहीं। ई. पू. १८०० के आसपास लेखन कला फैली और वेद-व्यास कृत संहिताओं का निर्माण ई. पू. १४०० में हुआ।"

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद सृष्टि के आरम्भ में प्रकट हुआ था अतः यह लगभग दो अरब वर्ष पुराना है। विलक्षण बात यह है कि वेद के मन्त्र तब से अविकल रूप में चले आ रहे हैं। शिक्षा के नियमों की जकड़बन्दी के कारण वेद मन्त्रों में एक मात्रा का भी अन्तर नहीं आया है और न वेदों में कोई क्षेपक जोड़ा जा सका है।

वेदों का महत्व

वैदिक धर्मानुयायी वेदों को समस्त भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा परम्परा का आदि स्रोत मानते हैं। मनु ने वेद को सब धर्मों का मूल कहा है (वेदोऽखिलो धर्म मूलम्)। जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते, उन्हें नास्तिक की संज्ञा दी जाती है (नास्तिको वेद निन्दकः)। जैन तथा बौद्ध श्रमण धर्म भी वेद से भिन्न नहीं। जैन मत के प्रवर्त्तक तथा प्रथम तीर्थङ्कर (आदिनाथ) ऋषभदेव वैदिक ऋषि हैं और भागवत् पुराण में भी इनकी प्रशस्ति है। प्रणव अथवा ओंकार की महिमा वेदों तथा उपनिषदों में दी गयी है। जैन तथा बौद्ध धर्मों ने भी इसे स्वीकार किया है। इसी प्रकार सत्य और अहिंसा भी वेद-विहित हैं।

ब्राह्मण का अर्थ

ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्रह्म का ज्ञाता, अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला। ब्रह्म से ईश्वर तथा वेद, दोनों का बोध होता है। वेदों में ब्राह्मण शब्द बहुत कम मिलता है। यजुर्वेद में ब्राह्मण शब्द यज्ञ-याग आदि कर्म करने वाले पुरोहित का वाचक है। यज्ञ कर्म वही करा सकता है, जो वेदों का ज्ञाता हो और वेदों का ज्ञान वही प्राप्त कर सकता है, जिसका मस्तिष्क पूरी तरह परिष्कृत हो। इसीलिए ब्राह्मण को मस्तिष्क के समान ऊँचा स्थान दिया गया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का एक मन्त्र है :

वालों की यही इच्छा रहती है किसी और देश में चले जायें, और जिनके पास साधन होते है, वे ऐसा करते भी हैं।

राज्ञो भेतव्यं सर्वकालम् ॥३६४॥

न राज्ञः परं दैवतम् ॥३६५॥

सुदूरमपि दहति राजवन्हिः ॥३६६॥

रिक्तहस्तो न राजामभिगच्छेत् ॥३६७॥

गुरुं च दैवं च ॥३६८॥

कुटुम्बिनो भेतव्यम् ॥३६९॥

गन्तव्यं च सदा राजकुलम् ॥३७०॥

राजपुरुषैः सम्बन्धं कुर्यात् ॥३७१॥

राजदासी न सेवितव्या ॥३७२॥

न चक्षुषापि राजधनं निरीक्षेत् ॥३७३॥

राजा से सदा डरना चाहिए ॥३६४॥
राजा से ऊपर कोई देवता नहीं होता ॥३६५॥
राजा की आग (क्रोध) दूर तक जलती है ॥३६६॥
राजा के पास रीते-हाथ नहीं जाये ॥३६७॥
गुरू और देवता के पास भी रीते-हाथ नहीं जाये ॥३६८॥
राजा के कुटुंबी-जनों से डरना चाहिए ॥३६९॥
राजकुल में सदा जाना चाहिए ॥३७०॥
राजनेताओं से संबंध बनाये रखना चाहिए ॥३७१॥
राजा की दासी की सेवा नहीं करे ॥३७२॥
राज्य के धन को आंखों से भी नहीं देखे ॥३७३॥

ये सारे सूत्र राजा से संबंध रखते हैं कि उसके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए।

इस युग में पहले जैसे राजा तो नहीं रहै, पर उनकी जगह नयी किस्म के राजाओं ने लेली है जिन्हें जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि कहा जाता है। इनके

पांचवें सूत्र (इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः) की व्याख्या में विनय का महत्व बतलाया जा चुका है। विद्या अपने आप में भूषण है, परन्तु जिस विद्या में विनय का गुण मिल गया हो, वह सारे भूषणों से श्रेष्ठ बन जाती है। विद्या और विनय दोनों मिलकर मनुष्य को श्रेष्ठ बना देते हैं।

अनुपद्रवं देशमावसेत् ।।३६२।।
उपद्रवहीन देश में निवास करे ।।३६२।।

जिस देश में उपद्रव होते रहते हैं, उसकी अर्थ-व्यवस्था तथा समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। ऐसी डांवा-डोल अवस्था में मनुष्य अपने कर्त्तव्यों का ठीक तरह पालन नहीं कर सकता। उपद्रवों में मनुष्य की जीविका का ठिकाना नहीं रहता और हर समय भय तथा आशंका का वातावरण बना रहता है। इसके कारण जीवन-निर्वाह तथा जीवन-रक्षा, दोनों कठिन हो जाते हैं। इसलिए उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्र को छोड़कर चले जाने में ही भलाई होती है।

हमारे देश के कई नगरों में साम्प्रदायिक उपद्रव होते रहते हैं। उन नगरों के निवासी अच्छी तरह जानते और महसूस करते हैं कि उन्हें कितनी मुसीबतें उठानी पड़ती है। कर्फ्यू के कारण सारे कारोबार ठप्प हो जाते हैं और गरीबों को तो रोजी-रोटी के भी लाले पड़ जाते हैं। अन्य उपद्रवों के समय भी बहुत लोग घर छोड़कर चले जाते हैं। फिर जहां निरन्तर उपद्रव होते हों, वहां तो रहना ही दुश्वार हो जाता है।

साधुजन बहुलो देशः ।।३६३।।
जहां बहुत साधुजन हो, वही देश होता है ।।३६३।।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को उसी देश में रहना चाहिए जिसमें सज्जनों का बाहुल्य हो।

प्रत्येक देश में भले और बुरे, दोनों तरह के लोग रहते हैं। जिस देश में भले आदमी ज्यादा हों, उस देश में उपद्रव नहीं होते और समाज-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है। भले आदमी धर्म-परायण होते हैं, इसलिए उनके देश में अपराध और पाप बहुत कम होते हैं। इसके विपरीत जिस देश में दुष्ट लोग ज्यादा हों, वहां अपराध और पाप भी ज्यादा होते हैं। इससे जन जीवन, अस्त-व्यस्त हो जाता है। लोगों के जान-माल सुरक्षित नहीं रहते। ऐसे देश में बसने

कार्य करता है जिससे कटुंब धन-धान्य संपन्न हो जाये। ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे कुल को कलंक लगे। यशस्वी और प्रतापी होता है। ऐसे पुत्र के लिए चाणक्य नीति में कहा है :

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासित् तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ।।

जिस प्रकार अच्छे वृक्ष के फूलों की सुगंध से सारा वन महकने लगता है, उसी प्रकार एक सुपुत्र से सारा कुल गौरवान्वित हो जाता है।

गुणवान पुत्र के आचार-व्यवहार से सारा परिवार सुखी रहता है, किसी को कोई क्लेश नहीं होता। इसी को स्वर्ग कहा गया है।

पुत्र गुणवान तभी होता है जब वह विद्या प्राप्त करले। विद्या से तात्पर्य आजकल की जैसी पुस्तकी विद्या या विश्वविद्यालय की डिग्रियों से नहीं। विद्या उसी को कहते हैं जो मनुष्य के चरित्र का निर्माण करे और उसे ऐसे कार्य में निपुण करे जिससे वह अपना तथा अपने कुटुंव का भरण-पोषण कर सके। आजकल इसे शिक्षा या एजुकेशन कहा जाता है। शिक्षा का क्या उद्देश्य है, उसका क्या स्वरूप हो, शिशुओं, बालकों, किशोरों तथा युवाओं को किस ढंग से शिक्षा दी जाये, शिक्षा की प्रणाली क्या हो, इन विषयों पर हजारों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, और प्राचीनकाल से लगाकर अब तक शिक्षाविदों, शिक्षाशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने अनेक गवेषणाएं तथा अनुसंधान किये हैं। परन्तु अभी तक कोई सर्वमान्य तथा सार्वभौम प्रणाली निश्चित नहीं की जा सकी है।

स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में से बेरोजगार युवकों की भीड़ निकलती जा रही है क्योंकि जो शिक्षा उन्हें दी जा रही है, वह विद्या नहीं। विद्या क्या है, इसके बारे में भर्तृहरि ने कहा है :

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकारी यशसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः ।

विद्या बंधुजनो विदेश गमने विद्या परा देवता
विद्या राज्यसु पूज्यते नहि धनं विद्या विहीनः पशुः ।।

विद्या ही मनुष्य का सुन्दर रूप और गुप्त धन है। विद्या भोग, यश, और सुख देने वाली है। विद्या गुरुओं की गुरु है। विद्या विदेशगमन में मित्र के समान है। विद्या सब देवताओं से ऊपर है। विद्या को राजा भी पूजते है, धन को नहीं। विद्या विहीन मनुष्य पशु के समान होता है।

अधीन राज्याधिकारी उसी तरह होते हैं जिस तरह राजाओं के राज्याधिकारी हुआ करते थे। प्राचीनकाल के राजा लोग निरंकुश होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं होते थे। आजकल के राजनेता तथा राज्याधिकारी तथाकथित अंकुश के रहते हुए भी, बहुत हद तक स्वेच्छाचारी बन गये हैं। इस स्वेच्छाचार को बहुमत का जामा पहना दिया जाता है।

इस लिहाज से चाणक्य के ये सूत्र आजकल के राजनेताओं तथा राज्याधिकारियों पर भी बखूबी लागू किये जा सकते हैं।

राजनेताओं से सदा डरना चाहिए क्योंकि ये नाराज हो जायें तो बहुत नुकसान पहुंचाते हैं। यह बात अनुभव-सिद्ध है।

राजा, गुरु तथा देवता के पास कुछ न कुछ लेकर जाना उनके प्रति श्रद्धा का प्रतीक माना जाता है। परन्तु आजकल किसी काम के लिए किसी राजनेता या राज्याधिकारी के पास 'रीते-हाथ' जाओ तो रीते हाथ ही लौटना पड़ता है। इनकी भेंट-पूजा किये बिना कोई काम नहीं होता। लोगों ने इसे रिश्वत का नाम दे दिया है।

राजनेताओं और राज्याधिकारियों के सिर्फ कुटुंबियों से ही नहीं, बल्कि चमचों से भी डरना चाहिए क्योंकि ये सब उनके एजेन्ट होते हैं। इन राजनेताओं तथा राज्याधिकारियों के 'दरबारों' में हाजिरी देनी चाहिए और उनसे अच्छे संबंध कायम रखने चाहिए। व्यवहार कुशलता इसी में है।

बांदियां अब नहीं होतीं। उनकी जगह रखैलों या कॉल-गर्ल्स ने ले ली है। इनसे दूर ही रहना अच्छा।

राज्य के धन को आंखों से नहीं देखें, इसका यह अर्थ है कि राज्य-कोश को हड़पने के लिए उसे लालच की नजर से नहीं देखे।

बात वही है, सिर्फ परिभाषाएं बदल गयी हैं। नयी बोतलों में वही पुरानी शराब है।

पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः ।।३७४।।

पुत्रा विद्यानां पारंगमयितव्याः ।।३७५।।

गुणवान पुत्र कुटुंब के लिए स्वर्ग के समान होता है ।।३७४।।

पुत्रों को विद्याओं में पारंगत बनाना चाहिए ।।३७५।।

गुणवान पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञाकारी होता है और उनकी सेवा करता है। कुटुंब के सब जनों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। ऐसे

इससे ऐसा मालूम होता है कि चाणक्य के सूत्रों की रचना पहले हुई होगी और फिर सूत्रों के आधार पर 'चाणक्य नीति' के श्लोक रचे गये होंगे। चाणक्य–सूत्रों तथा चाणक्य–नीति के श्लोकों में बहुत साम्य है।

इन सूत्रों तथा श्लोक का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को किसी बड़े हित के लिए छोटे हित को त्याग देना चाहिए। अंग्रेजी में इसे 'एनलाइटॅन्ड सॅल्फ–इन्टररॅस्ट' यानी प्रबुद्ध स्वार्थ कहते हैं।

जहां जनपद अर्थात् देश या प्रदेश के हित में तथा अपने ग्राम या नगर के हित में टक्कर होती हो, वहां देश के हित को सर्वोपरि समझना चाहिए। समूचे देश की उन्नति और समृद्धि के लिए प्रान्तीय अथवा स्थानीय भावना से ऊपर उठ कर विचार करना चाहिए।

हमारे देश में इस समय ऐसी भावना को बल देने की बहुत जरूरत है। हो यह रहा है कि प्रत्येक राज्य या प्रदेश अपने ही फायदे की बातें सोचता है और उन्हें सारे देश के सन्दर्भ में रख कर नहीं देखता। जब से भाषायी आधार पर प्रदेशों का विभाजन हुआ है, तब से तो अलगांव की यह भावना बहुत जोर पकड़ रही है। इसी भावना के कारण प्रदेशों के बीच सीमाओं, नदियों के जल वितरण, प्राकृतिक साधनों के उपयोग आदि के बारे में झगड़े चलते रहते हैं। प्रदेश अपने–अपने दावों और अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं, भले ही दूसरे प्रदेशों पर उनका विपरीत प्रभाव पड़े।

इसी प्रकार ग्राम या नगर के हित में कुटुम्ब के हित को छोड़ देना चाहिए और कुटुम्ब के हित में पुत्र को भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए। जैसे अपने परिवार की कोई जमीन है और सार्वजनिक उपयोग के लिए उसकी आवश्यकता है, तो वह जमीन ग्राम या नगर को अर्पण कर देनी चाहिए। ग्राम या नगर की सेवा के कार्य में हानि उठानी पड़े तो उसे सहर्ष सहन करना चाहिए।

यदि पुत्र अथवा कोई अन्य परिजन ऐसा कार्य करता है जिससे कुटुम्ब को हानि पहुंचती हो, या कुल को कलंक लगता हो, तो ऐसे पुत्र या परिजन को घर से निकाल देना चाहिए। अक्सर देखा जाता है कि पुत्र यदि कोई कुकर्म करता है तो माता–पिता उसे बचाने की चेष्टा करते हैं।

अतिलाभः पुत्रलाभः ॥३८०॥

प्रायेण हि पुत्राः पितरमनुवर्तन्ते ॥३८१॥

माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे पुत्रों को विद्या में पारंगत बनायें। इसका अर्थ यह है कि जो व्यापार, व्यवसाय, कला-कौशल आदि कुटुंब की परंपरागत सम्पत्ति हैं, उनमें पुत्रों को दक्ष और निपुण बनायें। कहा है :

सत्कुले योजयेत् कन्यां मित्रं धर्मेण योजयेत्।
व्यसने योजयेत् शत्रुन् पुत्रान् विद्यासु योजयेत् ।।

कन्या को अच्छे कुल में देना चाहिए। मित्र को धर्म के कार्यों में लगाना चाहिए। शत्रुओं को विपत्तियों में डालना चाहिए। पुत्र को विद्या से युक्त करना चाहिए। जो माता-पिता ऐसा नहीं करते, उनके लिए चाणक्य नीति कहती है ;

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।

अर्थात जो माता-पिता अपनी संतान को विद्या नहीं पढ़ाते, वे शत्रु के समान होते हैं। इसलिए

पुत्राश्च विविधैः शीलैः नियोज्याः सततं बुधैः

अर्थात समझदारों का कर्त्तव्य है कि अपने पुत्रों को सदा विविध प्रकार के शीलों से युक्त करें।

जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत् ।।३७६।।

ग्रामार्थं कुटुंबस्त्यजेत् ।।३७७।।

कुटुंबार्थं पुत्रस्त्यजेत् ।।३७८।।

आत्मार्थं सर्वत्यजति ।।३७९।।

जनपद के हित में ग्राम को छोड़ दे ।।३७६।।
ग्राम के हित में कुटुंब को छोड़ दे ।।३७७।।
कुटुंब के हित में पुत्र को छोड़ दे ।।३७८।।
आत्म कल्याण के लिये सब कुछ छोड़ दे ।।३७९।।

चाणक्य नीति में भी इसी आशय का एक श्लोक है :

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

कुल अर्थात् कुटुम्ब के हित में एक को छोड़ दे। ग्राम के हित में कुटुम्ब को छोड़ दे। जनपद के हित में ग्राम को छोड़ दे। आत्म-कल्याण के लिए संसार को छोड़ दे।

हुआ। अपविद्ध–कहीं पड़ा हुआ या अनाश्रित मिला हो और उसका पुत्र के समान लालन–पालन किया गया हो।

आजकल केवल औरस और दत्तक पुत्र ही पुत्र समझे जाते हैं। जिन जातियों में विधवा–विवाह (नाता–गोता) की प्रथा है, उनमें विधवा का पहले पति से उत्पन्न पुत्र भी मान्य होता है। इसे गैलडा या ल्हैतरा कहते हैं।

पुत्र अपने माता–पिता के अनुसार ही आचरण करता है। इसका कारण यह है कि शैशव अवस्था से ही उसके ऊपर माता–पिता के संस्कार पड़ते हैं। विद्वान् और सदाचारी माता–पिता की सन्तान भी वैसी ही होती है, हालाँकि इसके अपवाद भी देखने में आते हैं।

या प्रसूते सा भार्या ।।३८५।।

तीर्थ समवाये पुत्रवती मनुगच्छेत ।।३८६।।

जो संतान को जन्म देती है वही भार्या होती है ।।३८५।।

तीर्थ-यात्रा में पुत्रवती पत्नी साथ जाती है ।।३८६।।

पृथ्वी पर जितने भी जीव हैं, उन सबके नर-मादा के जोड़े होते हैं। वनस्पति वर्ग में भी यह लिंग भेद होता है। प्रकृति ने यह व्यवस्था इसलिए की है कि मूल तत्व का 'एकोहं बहुस्याम्' अर्थात् एक से अनेक होने का क्रम चलता रहे। यह क्रम सन्तानोत्पत्ति के विना नहीं चल सकता। सो इसके साथ यौनाचार की काम-भावना जोड़ दी है।

पुरुष और स्त्री के संबंध का भी मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है। प्रारंभ में यह संबंध मुक्त रूप से होता था। पर इसे मर्यादित करने के लिए विवाह की प्रथा का विधान किया गया। विवाह बंधन में रह कर ही माता-पिता सन्तान का ठीक तरह वे लालन-पालन और भरण-पोषण कर सकते हैं। मनुष्येतर प्राणियों में बच्चा जन्म लेने के कुछ ही समय बाद अपने सहज स्वभाव से स्वतंत्र हो जाता है। परन्तु मनुष्य जाति के बच्चों को युवावस्था तक सहारे की आवश्यकता होती है।

इसलिए जो स्त्री विवाह के बाद निस्संतान रहती है, उसे समाज में कुछ तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। उसे बांझ कहते हैं। पत्नीत्व की सार्थकता और सफलता मातृत्व में ही मानी जाती है।

भारतीय मान्यता के अनुसार मनुष्य का कोई भी धर्म-कर्म, यज्ञ-याग, पारिवारिक संस्कार, पत्नी के विना नहीं हो सकता। इसीलिए पत्नी को अर्धांगिनी और सह-धर्मिणी कहा गया है।

दुर्गतेः पितरौ रक्षति स पुत्रः ॥३८२॥

कुलं प्रख्यापयति पुत्रः ॥३८३॥

नानपत्यस्य स्वर्गः ॥३८४॥

पुत्र की प्राप्ति सबसे बड़ा लाभ है ॥३८०॥

पुत्र बहुधा अपने माता–पिता के अनुसार ही आचरण करते हैं ॥३८१॥

पुत्र वही है जो दुर्गति में पिता की रक्षा करता है ॥३८२॥

पुत्र कुल को यशस्वी करता है ॥३८३॥

सन्तानहीन मनुष्य को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता ॥३८४॥

ये पांचों सूत्र पुत्रों का महत्व बताते हैं और उनके कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य समाज पितृ–प्रधान चला रहा है। किसी युग में माता की प्रधानता रही होगी और आज भी कुछ जातियां मातृ–प्रधान हैं। इनमें वंशक्रम माता से होता है। केरल में राजा के मरने पर उसका साला गद्दी पर बैठता था, पुत्र नहीं। महाभारत में भी मातृ–प्रधान व्यवस्था के संकेत मिलते हैं। पांडु के पांचों पुत्र पाण्डु की औरस सन्तान नहीं थे। इसलिए अर्जुन को जगह–जगह कौन्तेय (कुन्ती–पुत्र) तथा पार्थ (पृथा–पुत्र) के नाम से सम्बोधित किया गया है। कृष्ण के भी देवकीनन्दन और यशोदानन्दन नाम हैं।

पितृ–प्रधान व्यवस्था में पुत्र से ही वंश चलता है। पुत्र न हो तो वह वंश समाप्त हो जाता है। इसलिए वंश–परम्परा को चालू रखने के लिए पुत्र की उत्पत्ति को सबसे बड़ा लाभ कहा गया है। हिन्दू मान्यता के अनुसार तो पुत्र अपने मृत पिता का पिण्डदान नहीं करे, तो पिता प्रेतयोनि में पड़ा रहता है। 'पुत्' अर्थात् नरक से 'त्र' अर्थात् छुटकारा दिलाने वाला पुत्र होता है।

मनुस्मृति में बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख है :

औरस–विवाहित पत्नी से उत्पन्न। पुत्रिका–पुत्र–दौहित्र यानी दोयता। क्षेत्रज–अपनी पत्नी में दूसरे पुरुष के नियोग से उत्पन्न। गूढज–पत्नी के गुप्त प्रेमी से उत्पन्न। कानीन–अविवाहित कन्या से उत्पन्न। सहोड–विवाह से पूर्व गर्भवती कन्या से उत्पन्न। पौनर्भव–पुनर्विवाहित विधवा का पहले पति से उत्पन्न। दत्तक–गोद लिया हुआ। क्रीत–खरीदा हुआ। स्वयंदत्त–अपने माता–पिता को छोड़कर दूसरे परिवार में आया हुआ। कृत्रिम–किसी दूसरे परिवार से लिया

इस सहशिक्षा का क्या परिणाम हुआ है, यह अमेरिका में किये गये सर्वेक्षणों की रिपोर्टों से प्रकट हो जाता है। सबसे पहले किन्सी रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, जिससे तहलका मच गया था। इसमें बताया गया था कि सहशिक्षा प्राप्त करने वाले अधिकांश लड़के और लड़कियों में यौन सम्बन्ध होने लगे हैं और वे यौन रोगों से ग्रस्त होते जा रहे हैं। अब तो यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गयी है कि चिंता का विषय बन गयी है। गर्भपातों और यौनरोगों में भयंकर बढ़ोत्तरी हो रही है। इसके कारण शराब, मारिजुआना, हशीश, एल. एस. डी. आदि मादक द्रव्यों का सेवन भी खूब बढ़ रहा है।

यही अवस्था अब हमारे देश में भी होती जा रही है, इसका पता पिछले वर्षों में किये गये सर्वेक्षणों से लगता है। मतलब यह है कि चाणक्य ने जो बात कही है, वह सिद्ध होती जा रही है।

सहशिक्षा के समर्थकों का कहना है कि लड़कों और लड़कियों के साथ पढ़ने से लिंग-भेद की मनोवैज्ञानिक भावना कम होती है और दोनों एक-दूसरे के नजदीक आते हैं। समाज में दोनों का समान दर्जा हो जाता है। चूँकि लड़कियाँ और स्त्रियां अब जीवन के हर क्षेत्र में आगे आ रही हैं, इसलिए सहशिक्षा आवश्यक है। परन्तु फिर भी विवाह से पहले यौनाचार को हेय दृष्टि से देखा जाता है। जिस लड़की के बारे में मालूम हो जाये कि उसका कौमार्य नष्ट हो गया है, उसे समाज में अब भी कलंकिनी समझा जाता है। लेकिन अब जो निषेधहीन, मर्यादाहीन और वर्जनाहीन समाज बन रहा है, उसे रोकने का कोई उपाय नजर नहीं आता।

इसी अनुभव के आधार पर हमारे शास्त्रकारों ने कहा है :

घृतकुंभं समा नारी तप्तांगारं समः पुमान्।
तस्मादग्निश्च कुंभश्च नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥

नारी घी की हांडी के समान होती है तथा पुरुष जलते अंगारे के समान होता है। इसलिए बुद्धिमान जन आग और घी को एकसाथ नहीं रखते।

न परक्षेत्रे बीजं निक्षिपेत् ॥२८८॥

दूसरे के क्षेत्र में बीज नहीं डाले ॥२८८॥

हमारे शास्त्रों में स्त्री को क्षेत्र कहा गया है और पुरुष को बीज डालने वाला। जिस प्रकार खेत में बीज डालने से फसल पैदा होती है, उसी प्रकार स्त्री में बीज डालने पर संतान उत्पन्न होती है।

मनुस्मृति में कहा है :

तीर्थ-स्नान भी पति और पत्नी साथ मिलकर करते हैं। दोनों गठ-जोड़ बांध कर पहले तर्पण करते हैं, फिर स्नान करते हैं। इसलिए कहा है कि तीर्थों में पत्नी पति के साथ जाती है। पुत्रवती इसलिए कहा है कि उसका पत्नीत्व तभी सार्थक होता है।

अब ऐसा जमाना आ रहा है कि यह परंपरा टूटती जा रही है। नारी स्वातंत्र्य के हामी अब स्त्री को पुरुष की पिछलग्गू होना पसंद नहीं करते। शिक्षित वर्ग में तो परम्परागत धर्म-कर्म आदि का लोप ही होता जा रहा है। ये लोग इन बातों को पोंगा-पंथी कहते हैं। पत्नी को पति की जीवन सहचरी नहीं मानते। उसे पति को तलाक देने का भी अधिकार है। इसका यही कारण है कि पुरानी मर्यादाएं नष्ट होती जा रही हैं। परन्तु इनके स्थान पर नयी शुभ मर्यादाएं स्थापित नहीं हो रहीं। इसलिए समाज में विकृतियां और विसंगतियां उत्पन्न हो रही हैं।

सतीर्थ्याऽभिगमनाद् ब्रह्मचर्य नश्यति ।।३८७।।

लड़कों और लड़कियों के सहपाठी होने से ब्रह्मचर्य का नाश होता है ।।३८७।।

तीर्थ शब्द का एक अर्थ गुरु भी है। इसलिए एक गुरु के समीप विद्याध्ययन करने वालों को सतीर्थ कहते हैं।

चाणक्य के इस सूत्र में लड़कों और लड़कियों की सह-शिक्षा का निषेध है, क्योंकि इससे दोनों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में अन्तेवासी विद्यार्थी को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। इसके बाद युवक तथा युवतियां गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

हमारे देश में भी जब लड़कियों की शिक्षा पर ध्यान देना शुरू हुआ तब उनके लिए अलग स्कूल खोले गये। उस समय लड़कियों के लिए उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। जब इसकी जरूरत महसूस हुई तब लड़कियों के लिए कालेज खोले गये।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से जब लड़कियां सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने लगीं, तब लड़कियों के स्कूलों और कालेजों की संख्या नाकाफी हो गयी। इनके लिए अलग स्कूल और कालेज खोलना बहुत खर्चीला था, सो सहशिक्षा की प्रणाली अपनायी गयी। हालांकि लड़कियों के स्कूल और कालेज अब भी हैं, पर इनकी संख्या बहुत कम है और स्कूलों और कालेजों में लड़के और लड़कियां साथ पढ़ने लगे हैं। सहशिक्षा अब साधारण बात हो गयी है।

यह सूत्र उन लोगों को चेतावनी है जिनके घर में काम करने वाली दासियां अथवा नौकरानियां रहती हैं। राजाओं के महलों में तो वहुत दासियां रहती थीं। अव भी जो राजा वच गये हैं उनके यहां तथा अमीर लोगों के यहां दासियां रहती हैं। वहुत सी दासियां सुन्दर और जवान होती हैं। कभी-कभी स्वामियों के इनसे अनुचित संवंध हो जाते हैं। तव ये दासियां उनके मुंह चढ़ जाती हैं और भेद खुलने के डर से स्वामी उसकी उंगलियों पर नाचता है। रजवाड़ों में दासियों के प्रभुत्व के इतिहास में भी उदाहरण मिलते हैं।

उपस्थिते विनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति ॥३६१॥

जिसका विनाश होनेवाला हो, वह हितकारी बात नहीं सुनता ॥३६१॥

जव किसी मनुष्य की घोर हानि होने वाली होती है, तव वह किसी की वात नहीं सुनता। इसका कारण यह कहा जाता है कि 'विनाशकाले विपरीत वुद्धिः' अर्थात विनाशकाल में आदमी की उलटी मति हो जाती है।

मनुष्य की मति भ्रष्ट हो जाये और वह किसी का हितकारी उपदेश सुनने को तैयार न हो, तव समझना चाहिए कि उसका विनाश होने वाला है।

एक और अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि जो मनुष्य मूर्खता के काम करने लगता है और किसी की सलाह नहीं मानता, वह अवश्य नष्ट होकर रहता है।

रावण को उसके सव हितेषियों ने सलाह दी थी कि सीता को लौटा दे और रामचन्द्र की सेना से युद्ध न करे परन्तु उसने किसी की वात नहीं मानी और अपना सर्वनाश करा लिया।

महाभारत में दुर्योधन का उदाहरण है कि उसने श्रीकृष्ण जैसे राजनीतिज्ञ और विदुर जैसे ज्ञानी की भी वात नहीं मानी क्योंकि उसकी वुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी। उसके पिता धृतराष्ट्र का भी यही हाल था। परिणाम यह हुआ कि कौरव वंश ही नष्ट हो गया।

इतिहास में हिटलर का उदाहरण है। उसके पहले नैपोलियन ने रूस को जीतने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसका वुरा हाल हुआ। इसे भूलकर हिटलर ने भी रूस पर चढ़ाई कर दी और यही अभियान उसके पतन का कारण वना। हिटलर की वुद्धि भी भ्रष्ट हो गयी थी तात्पर्य यह है कि जव मनुष्य पर कोई विपत्ति आयी हो, या आनेवाली हो, तो उसे अपनी सुध-वुध नहीं खोनी चाहिए और हितैपियों की सलाह माननी चाहिए।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्
क्षेत्र बीज समायोजन् संभवः सर्वदेहिनाम् ।।

स्त्री को क्षेत्र रूप और पुरुष को वीज रूप कहा गया है। क्षेत्र और वीज के संयोग से सब देहधारियों का जन्म होता है।

इस सूत्र में परायी स्त्री से व्यभिचार का निषेध है। मनुस्मृति भी कहती है :

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञान विज्ञान वेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परियोषिनि ।।

विद्वान, विनीत, ज्ञान-विज्ञान का जानने वाला और दीर्घजीवन की कामना करने वाला परायी स्त्री से गमन नहीं करे।

उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए यह मर्यादा बांधी गई है। व्यभिचार से समाज भी दूषित होता है।

पुत्रार्था हि स्त्रियः ।।३८९।।

स्त्रियां संतान उत्पन्न करने के लिये ही होती हैं ।।३८९।।

नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में ही मानी गयी है। प्रकृति ने भी नारी को संतान उत्पन्न करने के लिए ही रचा है। फिर संतान का लालन-पालन तथा गृहस्थी की व्यवस्था भी नारी ही करती है।

जिस गृहस्थ में पति तथा पत्नी दोनों अलग-अलग व्यवसाय करते हैं, उनका जीवन आर्थिक दृष्टि से भले ही संपन्न हो जाये, परन्तु न तो दोनों को गृहस्थी का पूरा सुख मिलता है, और न उसकी संतान का यथोचित लालन-पालन होता है। संतान पर माता-पिता के संस्कार पड़ने की वजाय स्कूलों के संस्कार पड़ते हैं। उनका माता-पिता से स्वाभाविक प्रेम भी नहीं होता क्योंकि माता-पिता का संसर्ग उन्हें वहुत कम समय मिलता है।

मनुस्मृति कहती है :

उत्पादनमपत्यस्य जनस्य पारिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रा याः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ।।

सन्तान उत्पन्न करना, सन्तान का पालन करना तथा प्रतिदिन गृहस्थ के कार्य करना स्त्री के वास्तविक कर्त्तव्य हैं।

स्वदासी परिग्रहो हि स्वदासभावः ।।३९०।।

अपनी दासी से संबंध उसका दास बना देता है ।।३९०।।

तिलमात्रमप्युपकारं शैलमात्रं मन्यते साधुः ॥३९४॥

उपकारोऽनार्येष्वकर्त्तव्यः ॥३९५॥

प्रत्युपकार भयादनार्यः शत्रुर्भवति ॥३९६॥

स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति ॥३९७॥

साधुजन तिल जैसे छोटे उपकार को भी पर्वत जैसा बड़ा मानते है ॥३९४॥

अनार्य के प्रति उपकार नहीं करना चाहिए ॥३९५॥

प्रत्युपकार के भय से अनार्य शत्रु हो जाता है ॥३९६॥

आर्य को तब तक नींद नहीं आती जब तक वह छोटे से उपकार का भी प्रत्युपकार न करे ॥३९७॥

इन सूत्रों में उपकार और प्रत्युपकार की महिमा बखानी गयी है। किसी की भलाई करना, सहायता करना, कष्ट निवारण करना, उपकार होता है। कृतज्ञता से इनके बदले में उपकार करना, प्रत्युपकार कहलाता है। 'परोपकाराय सतां विभूतयः' अर्थात् सज्जनों का जीवन परोपकार के लिए ही होता है। कहा है:

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अठारह पुराणों में व्यास के दो ही वचन हैं: परोपकार पुण्य है और दूसरों को कष्ट देना पाप है।

भागवत पुराण में रन्तिदेव की गाथा है:

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।

न तो मुझे राज्य की कामना है, न स्वर्ग की और न मोक्ष की। मेरी यही कामना है कि दुखों में जलते हुए प्राणियों के कष्टों को दूर करूं।

भर्तृहरि ने कहा है:

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमः नवाम्बुभिर्भूमि विलम्बिनो घना।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

जैसे फल लगने पर वृक्ष झुक जाते हैं और नवीन जल से भरे बादल पृथिवी पर गिरते हैं, वैसे ही समृद्धि प्राप्त होने पर सत्पुरुष भी झुक जाते हैं, (क्योंकि) परोपकारियों का यही स्वभाव होता है।

नास्ति देहिनां सुखदुःखाभावः ॥३९२॥

मातरमिव वत्साः सुखदुःखानि कर्तारमेवानुगच्छति ॥३९३॥

देहधारियों को सुख-दुख भुगतने पडते हैं ॥३९२॥

सुख-दुख माता के पीछे चलने वाले बच्चे के समान मनुष्य के साथ लगे रहते हैं ॥३९३ ॥

सुख और दुख की विवेचना प्रथम सूत्र (सुखस्य मूलं धर्मं) की व्याख्या में की जा चुकी है। संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रिय वेदना सुख होती है और अप्रिय वेदना दुख होती है। ऐसी वेदनाएं सभी देहधारी प्राणियों को होती हैं, परन्तु मनुष्यों को इनकी विशेष अनुभूति होती है क्योंकि उनमें विकसित बुद्धि होती है। मनुष्य के जीवन में सुख और दुख के क्षण अथवा समय आते-जाते रहते हैं, चाहे ये सुख और दुख आधिभौतिक हों, आधिदैविक हो या आध्यात्मिक अथवा शारीरिक हों या मानसिक। सुख का अभाव दुख है और दुख का अभाव सुख। दोनों का एक साथ अभाव कभी नहीं हो सेकता।

इसका कारण यह है कि मनुष्य कर्ता है, अर्थात् हर समय कार्य करता रहता है। चिन्तन-मनन, अर्थात सोच-विचार भी कर्म हैं। इन्हीं कर्मों के अनुसार वह सुख और दुख का अनुभव करता है। शुभ कर्म सुखदायक होते हैं और अशुभ कर्म दुखदायक होते हैं। कर्मों के अनुसार ये सुख और दुख हरदम मनुष्य के पीछे लगे रहते हैं। माता अपने बच्चों को चाहें जितना दूर रखने का प्रयत्न करे, पर वह उसका पीछा नहीं छोड़ते। बछड़ा भी गाय के पीछे ही लगा रहता है। इसी प्रकार अध्यात्म रामायण में कहा है :

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सुख और दुख को देने वाला कोई दूसरा नहीं। जो यह समझता है कि ये दूसरों के दिये हुए हैं, वह कुबुद्धि है, ना-समझ है।

इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को सुख और दुख दोनों को अनिवार्य समझ कर स्वीकार करना चाहिए। वर्षा, तूफान, भूकंप, अकाल आदि आधिदैविक दुखों को रोकने का तो उपाय ही नहीं। उन्हें सहन करना पड़ता है। युद्ध, उपद्रव आदि में भी दुख उठाने पड़ते हैं। परन्तु अपने ही कर्मों तथा कार्यों से उत्पन्न होने वाले दुखों से बचा जा सकता है अर्थात् ऐसे कर्म ही न किये जायें, जिनसे दुख उत्पन्न हो।

देहधारियों में भी अनेक जीव–जन्तु हैं, जिनके आंखें नहीं होतीं। चींटी ऐसा ही एक जीव है। इसके विपरीत मक्खी, मधु–मक्खी, मकड़ी आदि जीवों के हजारों आंखें होती हैं। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था करदी है कि जिन जीवों के आंखें नहीं होतीं, वे अन्य इन्द्रियों से काम चला लेते हैं। मनुष्यों में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं कि नेत्रहीन की कोई दूसरी ज्ञानेन्द्रिय इतनी विकसित और संवेदन–ग्राहक हो जाती है कि आंख का अभाव असहाय नहीं रहता। मिस हैलन कैलर की स्पर्शेन्द्रिय इतनी चैतन्य हो गयी थी कि वह उंगलियों से छूकर वस्तुओं के रंगों तक को पहचान लेती थी। अन्धे लोग महाकवि सूरदास की तरह गानविद्या में निपुण हो जाते हैं।

आंख को शरीर की नेता कहा है। आंख का पर्यायवाची शब्द 'नेत्र' इसी अर्थ का परिचायक है। जिस प्रकार नेता अपने अनुगामियों का मार्गदर्शक होता है, उसी प्रकार आंखें मनुष्य की मार्गदर्शक होती हैं। वह उसे रास्ते में ठोकर खाने से, गड्ढों में गिरने से, कीचड़ में फंसने से बचाती हैं। कोई चीज सामने आ जाये तो उससे टक्कर नहीं होने देतीं। नेता में यही गुण होते हैं।

खड़ी बोली की कविता के अग्रणी नाथूराम 'शंकर' शर्मा ने आंखों की उपमाओं की लड़ी बांध दी है:

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवरों में, सूख-सूख शकर सरोज सड़ जायेंगे॥
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
कहो इन अंखियों की होड़ करने को अब कौनसे अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे॥

न नग्नो जलं प्रविशेत् ॥४०२॥

नाप्सु मूत्रं कुर्यात् ॥४०३॥

नंगा होकर जल में प्रवेश नहीं करे ॥४०२॥

जल में मूत्र नहीं करे ॥४०३॥

हमारे देश के नीतिकारों ने केवल धर्म, सदाचार, नीति, राजनीति आदि के ही उपदेश नहीं दिये हैं, जीवन के व्यवहार का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं रहा है। जो कुछ उन्होंने कहा है, वह अनुभव की कसौटी पर परख कर कहा है। उनके वचनों में ज्ञान और विज्ञान, दोनों भरे पड़े हैं। कमी यही रही है कि उन्होंने अपने परिणामों के कारण और उन पर पहुँचने की प्रक्रिया नहीं बतायी। पुराने जमाने के लोग उनकी बातों को बिना किसी ना–नुच और तर्क-वितर्क के आप्त वचन मान कर अंगीकार करते थे। आज भी कोई इलाज के लिए

साधुजन अर्थात सत्पुरुष स्वयं तो उपकार करते ही हैं, परन्तु यदि कोई उनके प्रति तिल जैसा भी उपकार करे तो उसे पर्वत के समान समझते हैं। वे उपकार करने वाले के सदा कृतज्ञ रहते हैं। परन्तु अनार्यों का उपकार नहीं करते। अनार्य शब्द यहां दुष्टजनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। दुष्टों का उपकार नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह बताया है कि दुष्ट का उपकार किया जाये तो उसे सदा यह भय रहता है कि उपकार का बदला चुकाना पड़ेगा, इसलिए वह शत्रु बन जाता है। सत्पुरुष तो दुष्टों का भी उपकार करते है, परन्तु साधारण जनों को भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

दुष्ट लोग तो अकृतज्ञ होते है, परन्तु आर्य अर्थात् श्रेष्ठ जन इतने कृतज्ञ होते हैं कि जब तक छोटे-से भी उपकार का प्रत्युपकार न करें, तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ता।

न कदापि देवताऽवमन्तका ।।३९८।।

देवता का कभी अपमान नहीं करे ।।३९८।।

माता, पिता, गुरु तथा ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध जन देवता कहे जाते हैं। इनका कभी अपमान नहीं करना चाहिए। इनको सदा आदर की दृष्टि से देखना चाहिए। यदि वे कोई कड़वी बात भी कहें, उसे कड़वी दवा की भांति हितकारी समझकर ग्रहण कहण करना चाहिए। कोई अनुचित बात कहें तो उसे भी शिष्टतापूर्वक मानने से इन्कार करना चाहिए।

न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति ।।३९९।।

चक्षुर्हि शरीरिणां नेता ।।४००।।

अपचक्षुः किं शरीरेण ।।४०१।।

आंख के समान कोई ज्योति नहीं ।।३९९।।

आंख ही शरीरधारियों की नेता है ।।४००।।

आंख न हो तो शरीर किस काम का ।।४०१।।

आंखों में ज्योति या रोशनी नहीं होती, लेकिन आंखें न हों कोई भी ज्योति या रोशनी नजर नहीं आ सकती। इसलिए आंख को ही ज्योति कहा है। इसके समान और कोई ज्योति नहीं होती, क्योंकि इस पृथिवी पर सूर्य से अधिक प्रखर ज्योति कोई नहीं, वह भी अन्धे मनुष्य को रोशनी नहीं दिखा सकती। उसके लिए तो अन्धेरा ही रहता है। जन्म से अन्धा आदमी तो जानता ही नहीं कि रोशनी क्या चीज होती है।

यथा शरीरं तथा ज्ञानम् ॥४०४॥

जैसा शरीर वैसा ही ज्ञान ॥४०४॥

इस सूत्र पर शंका हो सकती है कि ज्ञान तो मस्तिष्क का विषय है, शरीर से उसका क्या सम्बन्ध है ?

इस प्रश्न का उत्तर स्वास्थ्य ओर मनोविज्ञान के आधार पर दिया जा सकता है।

मनुष्य का शरीर एक सम्पूर्ण इकाई है। मस्तिष्क शरीर का ही एक अंग है। शरीर के किसी अंग में विकार या दोष उत्पन्न हो जाये तो उसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। इसके विपरीत आधुनिक आयुर्विज्ञान ने शरीर के अंगों को मशीन के पुर्जों जैसा मान लिया है। एक पुर्जा खराव हो जाये तो उसे ठीक कर दो, या वदल दो, मशीन फिर काम करने लगेगी। इसी सिद्धान्त के अनुसार आधुनिक आयुर्विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान में विशेषीकरण (स्पेशलाइजेशन) हो गया है। कोई मस्तिष्क (न्यूरोलॉजी) का डाक्टर है, कोई दांतों का डाक्टर है, कोई हृदय रोगों का डाक्टर है, कोई सूत्र रोगों का डाक्टर है, कोई चर्म रोगों का डाक्टर है, इत्यादि. इत्यादि। किसी ने मजाक किया कि अगर विशेषीकरण की यही प्रवृति चलती रही तो एक दिन ऐसा भी आ जायेगा कि आंखों के भी दो डाक्टर होंगे—एक दायीं आंख का, दूसरा वायीं आंख का।

मस्तिष्क सारे शरीर का केन्द्र होता है। वह सारी क्रियाओं का संचालन करता है, परन्तु उसे पुष्टि देने वाले अंग है उदर तथा हृदय। उसे सूचना देने वाली ज्ञानेन्द्रियां हैं और उसके आदेशों का पालन करने वाली कर्मेन्द्रियां हैं। शरीर की सारी प्रणालियां और सारी इन्द्रियां ठीक तरह से काम करती हों, तो मस्तिष्क भी ठीक तरह से काम करता है। इसी प्रकार मस्तिष्क में विकार हो जाये तो उसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है।

हमारे यहां कहा है : 'शरीरहि खलु मोक्ष साधनम्' अर्थात् शरीर ही मोक्ष का साधन है। मनुष्यों के सारे कर्म शरीर से ही होते हैं। यह शरीर मोक्ष का साधन तभी वन सकता है जव स्वस्थ हो। इसीलिए कहा है : 'धर्मार्थ काम मोक्षाणां आरोग्यं मूल कारणं', अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य है। शरीर रोगी हो तो मनुष्य इन चारों पुरुषार्थों को भली प्रकार सिद्ध नहीं कर सकता।

डॉक्टर, वैद्य, या हकीम के पास जाता है, तो बहस नहीं करता। अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञों की राय भी सबको मान्य होती है।

प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों, शास्त्रकारों आदि की बहुत-सी बातें, जिनकी लोग खिल्ली उड़ाते थे, आज सही साबित हो रही हैं। वेदों, उपनिषदों, दर्शनशास्त्रों आदि पर पश्चिमी देशों में शोध और अनुसंधान हो रहे हैं। हमारे देश के बहुत-से शिक्षित लोगों की यह आदत पड़ गयी है कि जब तक देश के किसी प्राचीन मत को पश्चिम का सर्टिफिकेट न मिल जाये, तब तक उसे मानने को तैयार नहीं होते। हमने पश्चिम की मानसिक गुलामी स्वीकार कर ली है।

नदी, सरोवर, आदि जलाशयों में नंगा होकर स्नान करने का निषेध दो कारणों से किया गया है। नंगा का अर्थ केवल कमर के भाग को नंगा रखने से हैं, क्योंकि इस भाग में जननेन्द्रियां होती है। इनका प्रदर्शन अश्लील माना जाता है। इसके अलावा गुप्तांग अथवा गुदा में जल के किसी कीड़े के प्रवेश का या काटने का भी डर रहता है।

जल में मूत्र-त्याग का निषेध जल का प्रदूषण रोकने के लिए किया गया है। बहते पानी में तो यह प्रदूषण कम होता है, पर बंधे पानी में तो कभी मूत्र-त्याग करना ही नहीं चाहिए।

मनुस्मृति में नग्न-स्नान तथा मल-मूत्र-त्याग के सम्बन्ध में स्पष्ट आदेश है :

नान्नमद्यादके वास: न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ।।
न फाल कृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्ण देवायतने, न वल्मीके कदाचन ।।

एक वस्त्र धारण करके अन्न न खावे और नग्न होकर स्नान न करे। रास्ते में, राख में और गायों के रहने के स्थान में मूत्र नहीं करे।

हल से जोते हुए खेत में, जल में, पजावे में, पर्वत पर, मन्दिर के खंडहर में और सांप की बांबी में या चींटी, दीमक आदि के बिलों में भी मूत्र-त्याग नहीं करे।

आज तो हालत यह है कि शहरों में लोग जहां जगह मिल जाये, वहीं बेशर्मी से मूत्र-त्याग करते हुए नजर आते हैं। मूत्र-त्याग का मनाही करने वाले वाक्यों पर तो कोई ध्यान ही नहीं देता। इसका एक कारण यह है कि शहरों में पेशाब-घर बहुत कम होते हैं।

उसके भोजन के लिए भेज दिया जाये, ताकि अन्य सब जीव सुरक्षित रहें। सिंह ने उनकी यह बात मानली। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आयी। उसने सोचा कि कोई ऐसी तरकीब करनी चाहिए, जिससे इस सिंह से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाये। तरकीब सोचकर वह बहुत देर में सिंह पास पहुंचा। सिंह ने क्रोध में भरकर कहा : इतनी देर से क्यों आये ? खरगोश ने जवाब दिया : इसमें मेरा दोष नहीं। रास्ते में एक बलवान सिंह ने मुझे पकड़ लिया था। मैं उससे प्रतिज्ञा करके आया हूं कि आपको सूचना देकर उसके पास पहुंच जाऊंगा। सिंह ने कहा : मुझे बताओ वह सिंह कहां है ? खरगोश उसे एक गहरे कुए के ऊपर ले गया और बोला कि वह सिंह आपके डर से इस कुए में छिप गया है। सिंह ने कुए में झांका तो उसे पानी में अपनी परछाईं नजर आयी। वह दहाड़ा तो कुए में से दहाड़ की गूंज आयी। सिंह ने समझा कि कुए में वास्तव में शेर बैठा है, सो उसने उससे लड़ने के लिए कुए में छलांग लगायी और मर गया।

बुद्धि के बल पर ही चाणक्य ने नन्द के वंश को नष्ट करके चन्द्रगुप्त को मगध का राजा बनाया था। इसके बारे में श्लोक है :

बुद्धिरेव जयत्येका पुंसः सर्वार्थसाधनी।
यद्बलादेव किं किं न चक्रे चाणक्य भूसुरः॥

मनुष्यों को विजय दिलाने वाली और उनके सब कार्यों को सिद्ध करने वाली केवल बुद्धि ही है। इसके बल पर ब्राह्मण चाणक्य ने क्या-क्या नहीं कर दिखाया।

अग्नावग्निं न निक्षिपेत् ॥४०६॥

आग में आग मत डालो ॥४०६॥

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि हिंसा को हिंसा से, क्रोध को क्रोध से तथा बुराई को बुराई से रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

हिंसा के बदले में हिंसा से प्रतिहिंसा उत्पन्न होती है और यह सिलसिला चलता रहता है। इससे वैर बढ़ता जाता है जिसका कभी अन्त नहीं होता।' युद्ध को रोकने के लिए युद्ध तथा शस्त्रों का मुकाबला करने के लिए शस्त्रों का संचय, ये दोनों आधुनिक सिद्धान्त इसके बिलकुल विपरीत हैं। यह होड़ आज संसार में तनावों की जड़ है।

इसी प्रकार क्रोध को भड़काने की जगह उसे अक्रोध से शान्त करना चाहिए। कहा है : 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' अर्थात् क्रोध को अक्रोध से जीतना चाहिए।

शरीर रोगी हो, रक्त शुद्ध नहीं हो, तो मस्तिष्क में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। शारीरिक कष्ट में मनुष्य का चित्त वेचैन रहता है। इसलिए जव मस्तिष्क में शान्ति न हो, तव मनुष्य का मन ज्ञान प्राप्ति में भी नहीं लग सकता। शरीर रोगी हो तो मस्तिष्क में अच्छे विचार करने की क्षमता नहीं रहती। वह बुरे विचारों में फंस जाता है। तव उसका ज्ञान भी विकृत हो जाता है। मस्तिष्क का शरीर के अन्य अंगों के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। स्वस्थ शरीर में ही मस्तिष्क स्वस्थ रह सकता है।

यथा बुद्धिस्तथा विभवः ॥४०५॥

जैसी बुद्धि वैसा ही वैभव ॥४०५॥

बुद्धि दो प्रकार की होती है : एक सहज बुद्धि, दूसरी प्रज्ञा बुद्धि। सहज बुद्धि सभी प्राणियों में होती है। इसे 'इन्सटिंक्ट' कहते हैं। मनुष्येतर प्राणियों के सारे कार्य सहज बुद्धि से होते हैं। वे अपने सहज स्वभाव के अनुसार व्यवहार करते हैं, उन्हें सोचना नहीं पड़ता। मनुष्यों में भी सहज बुद्धि होती है, पर इसके अलावा उनमें विचार करने की शक्ति भी होती है। इस बुद्धि की सहायता से मनुष्य भले और बुरे में विवेक कर सकता है, सुख प्राप्ति के और दुःख निवारण के उपाय सोच सकता हैं और अपने कार्यों तथा व्यवहारों को निश्चित कर सकता है। जिस मनुष्य की बुद्धि जितनी अधिक विकसित हो, उसी परिणाम में वह जीवन में सफलता प्राप्त करता है। यही बुद्धि चतुराई भी कहलाती है। चतुर जन अपनी बुद्धि से ऐसे कार्य करते हैं कि उन्हें वैभव अर्थात् धन-सम्पदा प्राप्त हो जाती है। किसी क्षेत्र में निपुणता, दक्षता तथा श्रेष्ठता प्राप्त करना भी बुद्धि का काम है। ये भी वैभव के लक्षण हैं।

बुद्धि से मनुष्य ऐसे काम कर सकता है जो उसकी शारीरिक सामर्थ्य से वाहर हों। मनुष्य की बुद्धि ने ही मशीनों का अविष्कार किया है, जिससे वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जा रहा है। इसीलिए बुद्धि को वल भी कहा गया हैं। चाणक्य नीति में कहा हैं :

बुद्धिर्यस्य वलं तस्य निर्बुद्धिस्तु कुतो वलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः, शशकेन निपातितः ॥

जिसके पास बुद्धि हैं उनके पास वल है। निर्बुद्धि के पास वल कहां ? वन में रहने वाले भयंकर सिंह को खरगोश ने मार डाला।

इसकी कथा यह है कि किसी वन में एक सिंह रहता था, जो वन के प्राणियों को मार-मार कर खाया करता था। उसके अत्याचारों से तंग आकर वन के सारे जीवों ने निश्चय किया कि प्रतिदिन वारी-वारी से एक-एक पशु को

व्यभिचारिणी कहा जाता है। चाणक्य का सूत्र पुरुषों पर भी व्यभिचार का प्रतिबंध लगाता है।

अन्नदानं भ्रूण हत्यामपि प्रभार्ष्टि ॥४०९॥

अन्नदान से भ्रूण हत्या जैसे पाप का भी परिमार्जन हो जाता है ।४०९॥

भ्रूण अथवा गर्भस्थ शिशु की हत्या महापाप माना गया है। इस महापाप का प्रायश्चित अन्नदान से हो जाता है, यह चाणक्य का मत है। अन्नदान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि अन्न ही जीवन है और अन्नदान से जीवन की रक्षा होती है। इस प्रकार यदि भ्रूण हत्या करने वाला एक जीव को मारता है, तो अन्नदान से दूसरे का जीवन बचाना है।

न वेदबाह्यो धर्मः ॥४१०॥

न कदाचिदपि धर्मं निषेधयेत् ॥४११॥

वेद से बाहर कोई धर्म नहीं ॥४१०॥

धर्म का कभी निषेध नहीं करे ॥४११॥

धर्म क्या है और वेद किसे कहते हैं, इन दोनों की विवेचना पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्या में की जा चुकी है। वैदिक मान्यता के अनुसार वेद सारे ज्ञान-विज्ञान का भंडार है और मनुस्मृति में वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन है।

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

मनु ने जिसका जो धर्म बताया है, वह सब वेदों में वर्णित है। वेद ही सारे ज्ञान का आगार है।

इसलिए धर्म-विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। कहा है :

न जातुकामान्नभयान्नलोभाद् धर्मंत्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

मनुष्य को काम, भय तथा लोभ के वशीभूत होकर जीवित रहने के लिए भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

स्वर्गं नयति सूनृतम् ॥४१२॥

नास्ति सत्यात्परं तपः ॥४१३॥

सत्यं स्वर्गस्य साधनम् ॥४१४॥

बुराई के बदले में बुराई का परिणाम भी भयंकर होता है। कहा है :

जो तोकूं कांटा बुवे ताहि बोय तू फूल।
तोकों फूल के फूल हैं वाकों हैं तिरसूल ॥

तपस्विनः पूजनीयाः ॥४०७॥

तपस्वी पूजनीय होते हैं ॥४०७॥

तप का शाब्दिक अर्थ ताप या गरमी है, परन्तु यह शब्द लाक्षणिक रूप में इन्द्रिय-निग्रह तथा शरीरिक कष्ट सहन करने के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसलिए तपस्वी केवल वह नहीं होता जो जंगल में जाकर तपस्या करे, या धूनी रमाये। इन्द्रियों को जीतने वाला तथा सब प्रकार के शारीरिक कष्ट सहन करने की क्षमता रखने वाला तपस्वी होता है। ऐसे लोग सब तरह से पूजनीय तथा आदरणीय होते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

परदारान् न गच्छेत् ॥४०८॥

पर स्त्री से संभोग नहीं करे ॥४०८॥

पुरुष और स्त्री का यौन संबंध एवं प्राकृतिक कर्म है। इसके बारे में लिखा जा चुका है। इसलिए नर और नारी का संयोग कोई अप्राकृतिक कर्म नहीं और यह प्राकृतिक अपराध नहीं। पशु-पक्षियों में तो मुक्त यौनाचार होता ही है, मनुष्यों में भी अलग-अलग जातियों अथवा देशों में इसके बारे में अलग-अलग मान्यताएं हैं। सभ्य कहलाने वाले समाज में परस्त्री गमन को व्यभिचार कहा जाता है। हमारे शास्त्रों में व्यभिचार को पाप माना गया है। कुछ देशों में इसे केवल अपराध माना जाता है और कुछ देशों में तो इसकी उपेक्षा की जाती है। पश्चिम के देशों में पुरुष का परस्त्री गमन या स्त्री का परपुरुष गमन (ऐडल्टरी) अपराध नहीं माना जाता। केवल तलाक का कारण बन सकता है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, यह प्रतिबंध समाज की एक मर्यादा है। इस मर्यादा को कायम रखने के लिए विवाह की प्रथा चालू की गयी थी। प्राचीन काल में तो नियोग की प्रथा भी थी, अर्थात यदि पति नपुंसक हो तो पत्नी किसी दूसरे आदमी से नियोग करके संतान उत्पन्न कर सकती थी। विधवा को भी एक संतान के लिए नियोग का अधिकार था। शन्तनु के तीनों पुत्र, धृतराष्ट्र, पांडु तथा विदुर, नियोग से ही उत्पन्न हुए थे।

हमारे देश में व्यभिचार की परिभाषा एकांगी बन गयी है। पुरुष परस्त्री गमन करे तो बुरा नहीं समझा जाता, परन्तु स्त्री परपुरुष गमन करे तो उसे

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवींचान्तरिक्षमथो स्वः ॥

हिरण्यगर्भ के तप से ऋत और ऋत से सत्य उत्पन्न हुआ । फिर अंधकार उत्पन्न हुआ और उसके बाद समुद्र और अर्णव उत्पन्न हुए । फिर काल का विभाग होकर वर्ष, रात्रि और दिन का आविर्भाव हुआ । अन्त में सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष पूर्व कल्पों के समान उत्पन्न हुए ।

इस सूक्त में सृष्टि की रचना का जो विज्ञान है, उसका संक्षेप में वर्णन नहीं किया जा सकता ।

सत्याद् देवो वर्षति ॥४१६॥

सत्य से देव वर्षा करते हैं ॥४१६॥

इस सूत्र के दो अर्थ किये जा सकते हैं ।

जब प्रकृति के सारे कार्य सत्य के आधार पर अर्थात् नियमपूर्वक होते रहते हैं, तब वर्षा होती है । वर्षा ही इस पृथ्वी के प्राणियों के जीवन का आधार है क्योंकि जल वर्षा से ही प्राप्त होता है । वर्षा न होने से अकाल पड़ जाता है । वनस्पतियां सूख जाती हैं । पशुओं को चारा नहीं मिलता और मनुष्यों के लिए अन्न नहीं उपजता । प्रकृति के सारे व्यापार नियमपूर्वक होते हैं, परन्तु मनुष्य इसमें व्यवधान डालता है । आधुनिक विज्ञान ने जहां मनुष्य जाति के लिये सुख-सुविधा के अनेक साधन तथा उपकरण बनाये हैं, वहां उसने प्रकृति का संतुलन बिगाड़ दिया है । जल तथा वायु के प्रदूषण की भयंकर समस्या उत्पन्न हो गयी है ।

दूसरा अर्थ यह है कि जब मानव जाति असद् व्यवहार करने लगती है, तब देवता अर्थात् प्रकृति रुष्ट हो जाती है और वर्षा नहीं होती । इस सम्बन्ध में चरक संहिता में एक आख्यान है । आयुर्वेद के प्रवर्तक महर्षि अत्रि के शिष्य अग्निवेश ने प्रश्न किया था :

अथ खलु भगवन् कुतो मूलमेषां वायव्यादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते
येनोत्पन्ना जनपद मुद्ध्वंसयन्तीति ॥

भगवन, वायु आदि में विगुण कैसे उत्पन्न हो जाते हैं और देश को विध्वंस कर देते है ।

आत्रेय ने उसका उत्तर दिया :

वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः । तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम् । तयोर्योनिः प्रजापराध एव । तद्यथा यदा देश नगर निगम जनपद

सत्येन धार्यते लोकः ।।४१५।।

सत्य मनुष्य को स्वर्ग ले जाता है ।।४१२।।

सत्य से श्रेष्ठ कोई तप नहीं ।।४१३।।

सत्य स्वर्ग प्राप्ति का साधन है ।।४१४।।

संसार सत्य से ही धारण किया हुआ है ।।४१५।।

सत्य के अर्थों, तात्पर्यों तथा मर्यादाओं की विवेचना की जा चुकी है।

सत्य के लिए सूनृत (सून्-ऋत्) और असत्य के लिए अनृत (अन्-ऋत्) शब्दों का प्रयोग वेदों तथा उपनिषदों में हुआ है। सृष्टि के प्रारम्भ में ऋत उत्पन्न हुआ और उससे सत्य उत्पन्न हुआ।

सत्य की उपासना या आराधना से स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। यजुर्वेद का मंत्र है :

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेऽराध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।।

हे व्रतों के पति अग्नि, मैं तेरी आराधना करता हूं कि जो व्रत मैंने किया है उसका पालन कर सकूँ। मैं असत्य से पृथक होकर सत्य को प्राप्त करूं।

इन सूत्रों में सत्य शब्द का प्रयोग सत्य वचन के लिए नहीं, बल्कि परम सत्य अर्थात् परमब्रह्म के लिए किया गया है। परमब्रह्म परमात्मा की उपासना ही मोक्ष का मार्ग है और मोक्ष प्राप्त करने का साधन है। इसीलिए इससे श्रेष्ठ तप और कोई नहीं। तप भी मोक्ष का एक साधन है। योग साधन भी तप है। इसी को तपस्या भी कहते हैं।

सारा विश्व सत्य पर हीं टिका हुआ है। इसका अर्थ यह है कि ऋत से सत्य और सत्य से पंच भूतों की उत्पत्ति होती है जिनसे सारा विश्व बना हुआ है। विश्व के सारे घन पदार्थ सत्य के ही रूप हैं। सत्य के अभाव में सारे पिंड पिघल कर ऋत की तरल अवस्था में पहुँच जायें।

ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में सृष्टि की रचना का क्रम बताया गया है :

ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो राञ्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।
समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।।

साधारण तौर पर झूठ बोलना कोई अपराध नहीं माना जाता। उसे पाप कहना तो बेहूदा बात समझी जाती है। लोग अपने दूसरे पापों को छिपाने के लिए झूठ का आसरा लेते हैं।

युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य को मारने के लिये झूठ का सहारा लिया था। भीम ने अश्वत्थामा नामक एक हाथी को मार डाला। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य के पुत्र का भी नाम था। सो कृष्ण के कहने पर युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के सामने जाकर पहले तो जोर से कहा : अश्वत्थामा मारा गया। फिर धीरे से कह दिया : नर था या हाथी। युद्ध के शोरगुल में द्रोणाचार्य ने सिर्फ यही सुना कि अश्वत्थामा मारा गया। अपने पुत्र के शोक में वह हथियार डालकर बैठ गया। तब धृष्टद्युम्न ने उसका सिर काट दिया। युधिष्ठिर को धर्मराज कहा जाता है। कहते है कि उसका रथ पृथ्वी से चार अंगुल ऊंचा उठा रहता था। अश्वत्थामा के बारे में झूठ बोलने के बाद उसका रथ जमीन पर टिक गया। इस आख्यान का तात्पर्य यह है कि झूठ बोलना भी घोर पाप है।

नीति का वचन है :

योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा सत्सुभाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥

जो मनुष्य अपने ऊपर विश्वास करने वालों से झूठ बोलता है वह पापी, चोर और अपनी आत्मा का हनन करने वाला होता है।

न मीमांसा गुरवः ॥४१८॥

गुरुजनों की मीमांसा नहीं करनी चाहिए ॥४१८॥

माता, पिता और आचार्य अर्थात् गुरु इन तीनों को हमारे शास्त्रों में देवता का दर्जा दिया गया है।

गुरु दो प्रकार के होते हैं : एक लौकिक शिक्षा प्रदान करने वाले, दूसरे आध्यात्मिक साधना का मार्ग बताने वाले। मंत्र-योग की साधना के लिये गुरु ही जप करने का मंत्र देता है।

गुरु उसी को बनाना चाहिए जो अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो अथवा सिद्ध योगी हो। जब एक बार किसी को गुरु बना लिया तो उसके वचन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिए, उसकी मीमांसा नहीं करनी चाहिए। मीमांसा तभी की जाती है जब गुरु के प्रति अश्रद्धा हो या उसकी किसी बात में संशय हो। गीता में कहा है 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' अर्थात अल्पज्ञ, अश्रद्धावान तथा संशयी नर का विनाश हो जाता है।

प्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति । तेषां तवान्तर्हितं धर्मेणामाधर्म प्रधानानामपक्रांत देवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति नवा वर्षति वाता न सम्यगभिवान्ति क्षितिर्व्यापद्यते सलिलान्यपशुष्यन्ति ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम् । ततः उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्श्याभ्यवहार्यं दोषात् ।।

वायु आदि में जो दोष उत्पन्न होता है, उसका मूल अधर्म है। अधर्म का मूल लोगों के असत् कर्म हैं। दोनों का मूल प्रजा का अपराध है। जब देश नगर ग्राम तथा जनपद के प्रधान पुरुष धर्म का मार्ग छोड़ कर प्रजा से अधर्मयुक्त व्यवहार करते हैं, तब उनके आश्रित तथा उपाश्रित पुरजन (नागरिक) तथा व्यवसाय करने वाले लोग पापों को अधिक बढ़ाते हैं। तब वह अधर्म धर्म को ढक लेता है। तब वे धर्म को ढक कर अधर्म प्रधान बन कर देवताओं का अपमान करने लगते हैं। उनके प्रभाव से देव यथासमय जल नहीं बरसाता या बिलकुल नहीं बरसता, या वर्षा विकृत हो जाती है। वायु ठीक नहीं चलती। पृथ्वी बांझ हो जाती है। जलस्रोत सूख जाते हैं। अनाज अपना गुण छोड़ कर विकृत हो जाते हैं। तब इन व्यवहार–दोषों के संसर्ग से जनपद नष्ट हो जाते हैं।

अत्रि ऋषि के कथन का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मनुष्यों के कुकर्मों तथा कुविचारों का प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है। जब देश के नेता असद् व्यवहार अर्थात् भ्रष्टाचार करते हैं तब सारी जनता उनका अनुसरण करती है। इससे आध्यात्मिक पर्यावरण दूषित हो जाता है और मनुष्यों को इसका दंड भुगतना पड़ता है।

विचारों में शक्ति होती है, इस बात को अब आधुनिक विज्ञान भी मानने लगा है।

नानृतात्पातकं परम् ।।४१७।।

असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं ।।४१७।।

जब सत्य को सारे धर्मों से श्रेष्ठ मान लिया गया, तब असत्य अपने आप ही सारे अधर्मों अर्थात पापों से बढ़ कर हो जाता है।

असत्य का अर्थ केवल झूठ बोलना नहीं। चोरी, ठगी, जालसाजी, गबन, मिलावट, कम तौलना वगैरा सब असत् कर्म हैं तथा अधर्म है, इसलिए पापों की श्रेणी में आते हैं। झूठ बोलने को तो लोग बुरा ही नहीं समझते। झूठ बोलना अपराध तभी होता है जब झूठा हलफनामा दिया हो या झूठी गवाही दी हो।

अति शूरो दान शूरः ।।४२२।।

दानवीर महावीर होता है ।।४२२।।

दान की महिमा पिछले कई सूत्रों की व्याख्या में वर्णन की जा चुकी है। शूरता बलवान होने में नहीं, बल्कि दानशील होने में है। लौकिक भाषा में भी दानदाताओं को दानवीर कहा जाता है।

गुरु देव ब्राह्मणेषु भक्तिर्भूषणम् ।।४२३।।

गुरु, देवता और ब्राह्मण की भक्ति ही मनुष्यों का भूषण है ।।४२३।।

भक्ति का मतलब यह नहीं कि गुरु, देवता और ब्राह्मण की धूप, दीप, नैवेद्य आदि से पूजा की जाये। इसका अर्थ यह है कि इनके प्रति श्रद्धा, आदर और सम्मान की भावना होनी चाहिए और उनके उपदेशों का पालन करना चाहिए। ब्राह्मण भी भक्ति का पात्र तभी होता है जब वह वेद-शास्त्रों का ज्ञाता हो। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही कोई भक्ति का पात्र नहीं होता।

इनकी भक्ति को भूषण इसलिए कहा गया है कि भक्ति से मनुष्य अनेक गुण प्राप्त करता है और गुण ही मनुष्य के सच्चे भूषण होते हैं।

सर्वस्य भूषणं विनयः ।।४२४।।

अकुलीनोऽपि विनीतः कुलीनाद्विशिष्टः ।।४२५।।

आचारवान् विनितोऽकुलीनोऽपि आर्यः ।।४२६।।

आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च ।।४२७।।

विनय सबका भूषण है ।।४२४।।

विनयशील मनुष्य अकुलीन होने पर भी कुलीन से श्रेष्ठ होता है ।।४२५।।

सदाचारी विनयशील मनुष्य अकुलीन होने पर भी आर्य है ।।४२६।।

सदाचार से आयु तथा कीर्ति बढ़ती हैं ।।४२७।।

पांचवें और छठे सूत्रों की व्याख्या में 'विनय' की विवेचना की जा चुकी है। विनय के गुण में अनेक गुण समा जाते हैं, जो विनयशील मनुष्य को अन्य लोगों से ऊंचा उठा देते हैं। प्राचीन काल में कुल को बहुत महत्व दिया जाता था। इसके पीछे यह मान्यता थी कि प्रत्येक कुल के अपने-अपने वंशानुगत तथा परम्परागत संस्कार होते हैं और मर्यादाएं होती हैं। अच्छे संस्कार वाले कुल में

यह बात आजकल के अनेक पाखंडी गुरुओं पर लागू नहीं होती ।

खलत्वं नोपेयात् ॥४१६॥

नास्ति खलस्य मित्रम् ॥४२०॥

खलत्व (शठता, धूर्त्तता) से दूर रहो ॥४१६॥

शठ का कोई मित्र नहीं होता ॥४२०॥

धूर्त्तता, शठता, दुष्टता आदि दुर्गुणों का नाम खलत्व है । ठगी, बेईमानी, धोखेबाजी, दगाबाजी वगैरा भी इसी के नाम हैं । इन दुर्गुणों से दूर रहना चाहिए । यह उपदेश इतना स्पष्ट है कि व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता ।

खल यानी धूर्त्त या शठ नर किसी का मित्र नहीं होता । इसका अर्थ यह है कि मौका लग जाये तो वह अपने मित्र तक को धोखा देने में नहीं चूकता । खलों के स्वभाव का वर्णन किया जा चुका है ।

न दुर्जन सहायः स्यात् भुजंग प्रकृतिर्यतः ।
उपकारच्छलेनैव पश्चात् दुःखं प्रदास्यति ॥

दुर्जन की प्रकृति सांप जैसी होती है । वह किसी की सहायता नहीं करता । वह उपकार के बहाने मित्र से भी छल करता है और उसे दुख देता है ।

लोकयात्रा दरिद्रं बाधते ॥४२१॥

निर्धनता लोक-यात्रा में बाधक होती है ॥४२१॥

धन की उपयोगिता और निर्धनता से होने वाली दुर्दशा के बारे में पूर्ववर्ती कई सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है । धनहीन मनुष्य अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर पाता और उसे तथा उसके आश्रितों को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं ।

आज के युग में निर्धन भी दो तरह के होते हैं । एक तो वे जो दो जून की रोटी भी नहीं जुटा पाते । दूसरे वे जो अपने घर का खर्च तो किसी तरह चला लेते हैं, पर जीवन की आधुनिक सुख-सुविधाएं प्राप्त नहीं कर सकते । तुलनात्मक दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य अपने से अच्छी स्थिति वालों को धनवान समझता है और नीची स्थिति वालों को निर्धन समझता है । कहा है :

अधोधः पश्यतः कस्य महिमा नोपजायते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्वे एव दरिद्रति ॥

नीचे की ओर देखने वाला कौन है जो अपने को बड़ा नहीं समझता । ऊपर की तरफ देखने से सभी अपने को दरिद्र समझते हैं ।

ऐसी बात नहीं कहानी चाहिए जो प्रिय होते हुए भी अहित करने वाली हो ॥४२८॥

सत्य की मर्यादाओं की विवेचना की जा चुकी है मनुस्मृति कहती है :

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष: धर्म: सनातनः ॥

सत्य बोलो और प्रिय बोलो । अप्रिय सत्य मत बोलो । प्रिय लगने वाला असत्य भी मत बोलो । यही सनातन धर्म हैं ।

इस सूत्र का भावार्थ यह है किसी को नुकसान पहुंचाने वाली बात नहीं कहनी चाहिए, भले ही वह ऊपर से मीठी लगने वाली हो । इसका व्यतिरेक यह हो सकता है कि जो बात हितकर हो, वह अवश्य कहनी चाहिए, भले ही वह अप्रिय हो ।

यह सूत्र खुशामद यानी झूठी प्रशंसा करने वाले लोगों पर लागू होता है जो अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मीठी-मीठी बातें बनाते है । अपनी प्रशंसा सुनने वाला खुश होता है, पर वह यह नहीं महसूस करता कि खुशामदियों के चक्कर में आकर उसे नुकसान उठाना पड़ेगा ।

बहुजनविरुद्धमेकं नानुवर्तेत ॥४२९॥

बहुजन के विरुद्ध एक के पीछे नहीं चलना चाहिए ॥४२९॥

पाश्चात्य दार्शनिकों का मत है कि मनुष्य को ऐसे कार्य करने चाहिए जो 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' हों अर्थात् बहुत लोगों का हित करने वाले तथा उन्हें सुख देने वाले हों (ग्रेटेस्ट गुड ऑव द ग्रेटेस्ट नंबर) । यदि कोई कार्य बहुजन के लिए अहितकर हो, तो उसे नहीं करना चाहिए । चाणक्य कहता है किसी बहुजन विरोधी कार्य को किसी एक आदमी की बात मानकर उसका अनुगमन नहीं करना चाहिए । ऐसी बात करने वाला चाहे जितना बड़ा आदमी हो, उसका तिरस्कार करना चाहिए ।

राजनीति में यह बात जनता के या पार्टियों के उन नेताओं के अनुयाइयों पर लागू होती है जो तानाशाह बन जाते हैं । तानाशाह जो बात कहता है उसे उसके अनुयायी सही मानते हैं और उसी के अनुसार कार्य करते हैं । वे यह नहीं सोचते कि वह बात 'बहुजन हिताय' है या बहुजन विरोधी है । हिटलर के पीछे चलने वालों ने संसार को युद्ध की आग में झोंक दिया था । मुसोलिनी ने भी उसका साथ दिया था ।

जन्म लेने वाला कुलीन कहलाता था और दुराचारी कुल में जन्म लेने वाला अकुलीन कहा जाता था।

विनय का गुण ऐसा आभूषण है जो धारण करने वाले को अलंकृत कर देता है। यदि कोई मनुष्य कुलीन न हो, परन्तु विनीत हो, अर्थात विनय के गुण से युक्त हो, तो वह कुलीन जन से भी श्रेष्ठ होता है। सद्गुण की प्रशंसा में अनेक सूक्तियां हैं ;

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितुर्वंशो निरर्थकः।
गुणैः गौरविमायाति न महत्यापि संपदा ॥
गुणैस्तुंगतां याति नोच्चैरासन संस्थितः।
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः ॥

गुणों की सब जगह पूजा होती है। पितृवंश अर्थात् कुल का कोई मूल्य नहीं।

गुण से ही गौरव मिलता है, धन संपत्ति से नहीं। मनुष्य गुणों से ऊंचा होता है, ऊंचे आसन पर बैठने से नहीं।

गुणीजन में गुण ही पूजा के स्थान होते हैं। लिंग (पुरुष या स्त्री) और अवस्था पूजनीय नहीं होते।

विनयशील मनुष्य यदि आचारवान अर्थात सदाचारी भी हो, तो सोने में सुगन्ध जैसा मेल हो जाता है। ऐसा मनुष्य नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी आर्य अर्थात श्रेष्ठ होता है। सदाचार ऐसा गुण है जो मनुष्य की आयु तथा कीर्ति को बढ़ाता है। हमारे शास्त्रों में तो आचार को परम धर्म कहा गया है : 'आचारः परमो धर्मः'। सदाचार से आयु इस कारण बढ़ती है कि सदाचारी मनुष्य इन्द्रियों के विषय-भोगों से दूर रहता है और संयमी होता है, सो वह निरोग रहता है। उसका हृदय भी शुद्ध होता है, सो वह मानसिक चिन्ताओं से भी मुक्त रहता है। चिन्ताएं भी अनेक रोगों का कारण होती हैं। आरोग्य से मनुष्य की आयु बढ़ती है।

सदाचारी मनुष्य सबके साथ उत्तम व्यवहार करता है। परोपकार उसका स्वभाव बन जाता है। इसलिए सब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। जिस मनुष्य की सब लोग प्रशंसा करें, उसकी कीर्त्ति अपने आप फैल जाती है। वह यश और ख्याति का पात्र बन जाता है।

प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम् ॥४२८॥

दूसरा देश उनके देश से शत्रुता रखता है, तो उसे साम, दाम, दंड, भेद की नीतियों से समाप्त कर देना चाहिए। शत्रु की उपमा आग की चिनगारी से दी जाती है। चिनगारी सुलगती रहे तो उसे कभी भी आग लग सकती है। इसलिए उसे बुझा देना चाहिए।

रोग को पूरी तरह समाप्त करने की बात तो स्वयंसिद्ध है। जब तक कोई रोग जड़ से नष्ट नहीं होता तब तक उसके फिर से भड़क उठने की आशंका रहती है। कोई मामूली-सी भी बीमारी हो जाये तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और उसके कारणों को दूर करने का उपाय करना चाहिए। रोगी मनुष्य का शरीर निर्बल हो जाता है और वह काम करने में असमर्थ या अशक्त हो जाता है। इसलिए कहा है : 'धर्मार्थ काम मोक्षाणां आरोग्यं मूल कारणं', अर्थात धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह निरोग हो।

भूत्यनुवर्तनं पुरुषस्य रसायनम् ।।४३२।।

धन-दौलत का उपभोग मनुष्य के लिए रसायन होता है ।।४३२।।

रसायन उस औषधि को कहते हैं जो मनुष्य का कायाकल्प कर देती है, अर्थात् उसे सब व्याधियों से मुक्त करके बूढ़े को नौजवान बना देती है। आयुर्वेद में रसायन की यह परिभाषा है :

दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधां आरोग्यं तरुणं वयः।
देहेन्द्रियबलं कान्तिं नरोविन्देद् रसायनात् ।।

रसायन से नर दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, शरीर तथा इन्द्रियों का बल और कान्ति प्राप्त करे।

इस सूत्र में धन–समत्ति को रसायन कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि धन-सम्पत्ति से मनुष्य को वे सब पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं जो रसायन से प्राप्त होते हैं। धनवान मनुष्य स्वास्थ्यप्रद और पौष्टिक भोजन कर सकता है, रोगी होने पर अच्छा इलाज करा सकता है और जीवन की सारी सुख-सुविधाएं प्राप्त कर सकता है। भौतिक दृष्टि से वह सुखी रहता है क्योंकि उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं रहता। परन्तु यह तभी सम्भव है जब मनुष्य सदाचारी तथा संयमी हो और ईमानदारी से धन कमाता हो। असंयमी, दुराचारी और बेईमान आदमी को सदा चिन्ताएं घेरे रहती है इसलिए वह सुखी नहीं रह सकता और कोई भी रसायन उसे फायदा नहीं पहुंचा सकता। इसलिए विदुरनीति में कहा है :

आज भी कई देशों में ऐसे तानाशाह हैं जो बहुजन विरोधी नीतियां अपना रहे हैं। परन्तु दोष उनका है जो तात्कालिक लाभ उठाने की नीयत से उनके पीछे चल रहे हैं।

न दुर्जनेषु भावधेयः कर्त्तव्यः ॥४२६॥

न कृतार्थेषु नीचेषु सम्वन्ध ॥४३०॥

दुर्जन के साझे में कार्य नहीं करना चाहिए ॥४२६॥

कृतकार्य नीच से सम्बन्ध मत रखो ॥४३०॥

खल, शठ, धूर्त, दुष्ट, नीच आदि शब्द दुर्जन के लिये ही प्रयोग में आते हैं। इनके बारे में पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्याओं में काफी लिखा जा चुका है। दुर्जन के साझे में कोई काम किया जाये तो वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता और साझी को धोखा दे देता है।

नीच आदमी जीवन में चाहे जितना सफल हो जाये और धन–संपति अर्जित करले, फिर भी उससे दूर ही रहना चाहिए। उसके भुलावे में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि नीच मनुष्य तो स्वभाव से ही दुष्ट होता है, उससे किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए।

ऋण शत्रु व्याधिष्यशेषः कर्त्तव्यः ॥४३१॥

ऋण, शत्रु और रोग को पूरी तरह समाप्त कर देना चाहिए ॥४३१॥

ऋण यानी कर्ज वहुत बुरी चीज है। जब कोई आदमी एक वार कर्ज में फंस जाता है तो वह उसके लिए जी का जंजाल बन जाता है। उसे हर समय कर्ज या उसका व्याज चुकाने की चिन्ता सताती रहती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक कर्ज को वायदे के मुताबिक चुकाने के लिए किसी दूसरे से कर्ज लेना पड़ता है और फिर यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होता। कुछ लोग मरने के बाद भी कर्ज का बोझ छोड़ जाते हैं जो उनकी सन्तान को उठाना पड़ता है। इसलिए कहा है : 'ऋणशेष न कारयेत्' अथात कर्ज को बाकी नहीं छोड़ना चाहिए। अगर बहुत जरूरत पड़ने पर कर्ज लेना भी पड़े तो उसे जल्दी से जल्दी चुका देना चाहिए। मित्रों से लिया हुआ कर्ज तो कभी बाकी रहना ही नहीं चाहिए, क्योंकि बाकी रहने से मित्रता टूट जाती है।

शत्रु को समाप्त करने का उपदेश सर्वसाधारण पर लागू नहीं होता। अगर हर आदमी अपने दुश्मन को खत्म करने पर आमादा हो जाये तो समाज में बहुत गड़बड़ी फैल जाये। इसलिए यह सूत्र देश के शासकों के लिए है। अगर कोई

किसी बहुत मुश्किल काम में कुछ कमी या त्रुटि रह जाये तो इसमें काम करने वाले का क्या दोष है, अगर उसने पूरी ताकत और लगन से काम किया हो। जितना वह कर सका हो, उसकी तारीफ करनी चाहिए और उसे हिम्मत दिलानी चाहिए ताकि उसका उत्साह बना रहे।

लेकिन जिस आदमी ने काम पूरा कर दिखाया हो, उसका अपमान करना तो हद दर्जे की कृतघ्नता यानी एहसान-फरामोशी है। उसे तो पुरस्कार देना चाहिए। यह नहीं कि सफलता का सेहरा अपने सिर बांधा जाये। यह तो वह कहावत हुई कि "कड़वा-कड़वा थू और मीठा-मीठा गप"। बुराई दूसरे के सिर और भलाई अपने पल्ले। नीचता का इसके सिवाय और क्या लक्षण हो सकता है ?

नाकृतज्ञस्य नरकान्निवर्तनम् ॥४३५॥

अकृतज्ञ (कृतघ्न) मनुष्य का नरक से छुटकारा नहीं होता ॥४३५॥

अकृतज्ञता अर्थात किसी का उपकार- न मानना बहुत बड़ा पाप है। इसी को कृतघ्नता या एहसान-फरामोशी कहते हैं।

इस मंत्र का संबंध ऊपर वाले सूत्र से ही है। कहते हैं कि कृतघ्न मनुष्य नरक में जाता है और युग-युगान्तर तक वहां पड़ा रहता है। यह तो मरने के बाद की बात हैं और स्वर्ग या नरक को बहुत लोग कोरी कल्पना समझते हैं। पुनर्जन्म में विश्वास करने वालों की मान्यता है कि पापी को अगले जन्म में बहुत दुख भोगने पड़ते हैं। कर्मों के अनुसार उसका मनुष्य के अलावा किसी अन्य प्राणी रूप में भी जन्म हो सकता है।

बहुत लोगों का मत है कि स्वर्ग और नरक कहीं और नहीं, इसी पृथ्वी पर हैं। सुखी जीवन स्वर्ग है और दुखी जीवन नरक है। सो कृतघ्न मनुष्य को उसके कर्मों का फल यहीं मिल जाता है। वह सुखी नहीं रह सकता। राजिया का एक दूहा है :

कोधोड़ो उपकार नर कृतघण मानै नहीं ।
लानत दे ज्यां लार रजी उठावो राजिया ॥

कृतघ्न मनुष्य अपने ऊपर किये गये उपकार को नहीं मानता। उसके पीछे लानत भेजो और धूल उड़ाओ।

गिरधर ने कहा है :

दोस मनुष्य शरीर में एक दोय नहीं कोट ।
पुनि जो एक कृतघ्नता या सम और न खोट ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठाणि दरिद्राणां महीपते ।।

संसार में बहुधा धनवानों में भोजन पचाने की शक्ति नहीं होती । गरीबों को काठ भी पच जाता है ।

नार्थिष्ववज्ञा कार्या ।।४३३।।

अर्थी का अपमान नहीं करे ।।४३३।।

अर्थी या याचक का अर्थ भिखारी या भिखमंगा नहीं, बल्कि वह मनुष्य है जिसे जरूरतमंद कहा जाता है । कोई मनुष्य कष्ट में हो, आर्थिक चिन्ता से ग्रस्त हो, या अभावग्रस्त हो, और अपनी जरूरत के लिए कुछ मांगें, तो उसका अपमान नहीं करना चाहिए । उसकी मजबूरी का खयाल करके सहानुभूति दिखानी चाहिए और भरसक मदद करनी चाहिए । इसी को सच्चा दान कह सकते हैं । रहीम का एक दोहा है :

रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ मांगन जाहिं ।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ।।

जो लोग कहीं मांगने जाते हैं, वे मानो मर चुके । परन्तु उनसे भी पहले वे मर जाते हैं जिनके मुंह से 'नहीं' निकलती है ।

इसका तात्पर्य यह है कि मांगने वाला अपनी इज्जत खो देता है और इज्जत खोना मरने के समान होता है । परन्तु जो लोग मांगने वाले को इन्कार करते हैं या उसका अपमान करते हैं, उनकी इज्जत भी खाक में मिल जाती है ।

मांगने वाला तो मजबूर हो कर ऐसा करता है, इसलिए वह दया का पात्र होता है । परन्तु उसका अपमान करने वाला हृदयहीन होता है ।

सुदुष्कर कर्म कारयित्वा कर्त्तारमवमन्यते नीचः ।।४३४।।

जो मनुष्य किसी से कठिन कार्य करवा कर उसका अपमान करता है, वह नीच हैं ।।४३४।।

कुछ लोगों की आदत होती है कि जो मुश्किल काम वे नहीं कर सकते उसे दूसरों से करवाते हैं । अगर वह काम ठीक न हो तो काम करने वाले को गालियां देते हैं । इतना ही नहीं, अगर काम अच्छा भी हो जाये तो उसका श्रेय खुद लेते हैं और काम करने वाले का अपमान करते हैं । ऐसे लोगों को इस सूत्र में नीच कहा गया है जो मुनासिब है ।

सत्य, प्रिय तथा मृदु वचन बोलने वाला जीवन में सफल होता है। इसके विपरीत वाणी के प्रयोग करने वाला नष्ट हो जाता है।

प्रिय वचन बोलने वाले का कोई शत्रु नहीं होता, इसका अर्थ यह हैं कि वह शत्रुओं से भी कठोर वचन नहीं बोलता।

तुलसीदास ने कहा है :

तुलसी मीठे वचन तें सुख उपजत चहुं ओर ।
वसीकरन यह मंत्र हैं तजि देहु बचन कठोर ।।

एक लोकोक्ति है :

ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय ।
औरन को सीतल करे आपुन सीतल होय ।।

चाणक्य नीति कहती है :

प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्रदेव वक्तव्यं वचने किं दरिद्रता ।।

प्रिय वचन बोलन से सारे प्राणी खुशी हो जाते हैं। इसलिए प्रिय वचन ही बोलने चाहिए। इसमें कंजूसी क्यों की जाये ?

मीठी बोली का केवल मनुष्यों पर ही नहीं, पशु–पक्षियों पर भी प्रभाव पड़ता है। गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली आदि पालतू जानवर रखने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते हैं।

वैसे स्वादेन्द्रिय के रूप में भी जीभ मनुष्य के उत्थान या पतन का कारण बन सकती है। स्वाद की इच्छा को पूरी करने के लिए भी मनुष्य तरह–तरह के पाप करता है। मांस खाने के लिए जीवों की हत्या करता हैं या करवाता है। भागवत पुराण में कहा है :

तावज्जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
नजयेद्रसं यावत् जिते सर्वे जिते रसे ।।

अन्य ईन्द्रियों को जीतने वाला मनुष्य जब तक रसना (जीभ) को नहीं जीत लेता, तक उसे जितेन्द्रिय नहीं कह सकते। रस अर्थात् स्वाद को जीतने पर सबको जीत लिया, ऐसा कह सकते हैं।

स्तुताऽपि देवता तुष्यन्ति ।।४३९।।

स्तुति से देवता भी प्रसन्न होते हैं ।।४३९।।

मनुष्य के शरीर में एक दो नहीं वल्कि करोड़ों दोष हैं। परन्तु एक कृतघ्नता ऐसा दोष है जिसके समान दूसरा नहीं।

वाल्मीकि रामायण में आख्यान है कि लंका विजय के बाद रामचन्द्र ने जव अयोध्या लौटकर राजकाज संभाला तव हनुमान को विदा करते समय कहा : मैं चाहता हूं कि तुमने मेरे ऊपर जो उपकार किया है उसका प्रत्युपकार कभी न कर सकूं, ताकि मैं जीवन पर्यन्त तुम्हारा कृतज्ञ वना रहूं।

जिह्वायत्तौ वृद्धि विनाशौ ॥४३६॥

विषामृतराकरो जिह्वा ॥४३७॥

प्रियवादिनो न शत्रुः ॥४३८॥

मनुष्य की उन्नति अथवा अवनति उसकी
जीभ पर निर्भर करती है ॥४३६॥

जीभ विष या अमृत की खान होती है ॥४३७॥

प्रिय बोलने वाले का कोई शत्रु नहीं होता ॥४३८॥

जिह्वा यानी जीभ ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। ज्ञानेन्द्रिय के रूप में वह स्वाद ग्रहण करने वाली स्पर्शेन्द्रिय है। कर्मेन्द्रिय के रूप में वह वोलने का काम करती है, जिसे वाणी कहते हैं। इसलिए जिह्वा का लाक्षणिक अर्थ वाणी होता है। इन सूत्रों में जिह्वा का यही अर्थ अभिप्रेत है।

मनुष्य की वाणी उसकी उन्नति अथवा अवनति का कारण होती है। इसका अर्थ यह है कि यदि मनुष्य अपनी वाणी का सद्-प्रयोग करे तो वह उन्नति कर सकता है और बुरा प्रयोग करे तो उसका पतन हो जाता है। वाणी ही सच या झूठ, मीठे या कड़वे, कठोर या मृदु वचन वोलती हैं। इसीलिए जिह्वा को विप या अमृत की खान कहा है। सत्य वचन, प्रिय वचन और मृदु वचन अमृत के समान होते हैं। इसके विपरीत असत्य वचन, अप्रिय वचन और कठोर वचन विप के समान होते हैं। अमृत के समान वचन वोलने वाली वाणी रसवती होती है। कहा है :

वाणी रसवती यस्य भार्या पुत्रवती सती।
लक्ष्मीदानवती यस्य सफलं तस्य जीवनम् ॥

जिसकी वाणी रसवती हो, पत्नी पुत्रवती तथा सती हो और धन दान के लिए हो, उसका जीवन सफल होता है।

दुर्वचन का लौकिक नाम गाली है। गालियां देना एक तरह से मनुष्य-मात्र का स्वभाव हैं। कुछ गालियां क्रोध में भर कर दी जाती है, कुछ निन्दा करने के लिए दी जाती है और कुछ प्रताड़ना करने के लिए। किसी को किसी पर गुस्सा आता है तो वह गालियां वकने लगता है, जिनका कोई आधार नहीं होता। ऐसी गालियां अश्लील भी होती है। किसी की निन्दा करने के लिए दो तरह की गालियां दी जाती हैं। एक गालियां तो सच्ची होती हैं जैसे किसी चोर को चोर कहना। दूसरी गालियां झूठी होती है, जैसे कोई चोर न भी हो तो उसे चोर या बदमाश कहना। इन सब गालियों के पीछे दुर्भावना होती है। परन्तु बच्चों को शिष्यों को या गलती करने वालों को प्रताडना के तौर पर जो गालियां दी जाती हैं, उनके पीछे कोई दुर्भावना नहीं होती वल्कि सद्भावना होती है।

दुर्भावना से जो गालियां दी जाती हैं, उनका बुरा प्रभाव पड़ता है, चाहे वे सच्ची हों या झूठी। ये गालियां वाण की तरह हृदय को छेद देती हैं और इनका प्रभाव वहुत समय तक बना रहता है। कहावत है : तलवार का घाव भर जाता है, पर वाणी का घाव कभी नहीं भरता। विदुर नीति में कहा है :

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वचा दुरुक्तया विद्धं न संरोहति वाक्क्षतम्॥

वाण से वींधा हुआ घाव भर जाता है। कुल्हाड़ी से काटे हुए वन भी फिर हरे हो जाते है। परन्तु वुरी तरह कहे हुए वचन का वींधा हुआ कभी नहीं भरता।

जब सच्ची गाली से ही लोग चिढ़ जाते हैं और उसे नहीं भूलते, तब झूठी गाली तो वहुत ही गहरा घाव करती है।

महाभारत में आख्यान है कि युधिष्ठर ने अपने राजसूय यज्ञ में जब कृष्ण को प्रधान की पदवी पर विठाया तब शिशुपाल कृष्ण को गालियां देने लगा। कृष्ण ने सौ गालियां तो सहन कर लीं, पर सौवीं गाली के बाद सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट दिया।

ऐसे महापुरुष भी हुए हैं और होते हैं जिन पर गालियों का कोई असर नहीं होता। गीता में इन्हें स्थितप्रज्ञ कहा गया है। भगवान बुद्ध के वारे में गाथा है कि एक वार उनके एक विरोधी ने उन्हें भोजन का न्यौता दिया। बुद्ध उसके घर गये तो भोजन कराने के बाद उसने बुद्ध को वहुत गालियां सुनायीं। बुद्ध चुपचाप सुनते रहे। जब गालियों का अन्त हो गया तो उन्होंने पूछा : क्यों भाई, भोजन की जो वस्तुएं मैंने ग्रहण नहीं की है, उनका क्या

स्तुति का अर्थ है प्रशंसा या बड़ाई। स्तुति वाचक रचना गद्य हो या पद्य, स्तोत्र कहलाती है। सभी मजहबों और सम्प्रदायों में अपने-अपने ईश्वर या देवता की स्तुति के स्तोत्र हैं। हिन्दुत्व में तो अनगिनती देवताओं के अनगिनती स्तोत्र हैं। बाइबिल के तो एक भाग का नाम ही स्तोत्र-ग्रन्थ है।

धर्म-परायण लोगों की मान्यता है कि स्तोत्रों का पाठ करने से देवता प्रसन्न हो जाते हैं। यह भक्ति-मार्ग का प्रभाव है और इसने लोगों को बहुत भ्रमित किया है। लोग समझते है कि चाहे जितने पाप करो, देवता की भक्ति से सब धुल जाते हैं। यह धारणा कर्म-विपाक से सिद्धान्त के प्रतिकूल है, जिसके अनुसार मनुष्यों को अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। देवता न तो रुष्ट होते हैं न तुष्ट होते हैं।

भागवत पुराण में आख्यान है कि एक बार इस लोक में भ्रमण करते हुए नारद ने एक मरणासन्न वृद्धा को देखा। पूछने पर उसने अपना नाम 'भक्ति' बताया। नारद को उस पर दया आयी और उसने बैकुण्ठ में जा कर विष्णु भगवान से उसे जीवन-दान देने की प्रार्थना की। भगवान ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वृद्धा का कायाकल्प हो गया। तब उसने नारद से कहा: मैं तो फिर युवा हो गयी, परन्तु मेरे दो पुत्र भी मरणासन्न हैं। उनके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है। उन पुत्रों के नाम उसने 'ज्ञान' और 'वैराग्य' बताये। नारद उनके पास गये और भगवान से उन्हें भी जिलाने की प्रार्थना की। भगवान की कृपा से वे भी स्वस्थ हो गये।

इस आख्यान का तात्पर्य यह है कि ज्ञान और वैराग्य के बिना भक्ति शून्य के समान हैं। संसार में जितने भी भक्त सन्त हुए हैं, उन सबके जीवन में ज्ञान और वैराग्य का दर्शन होता है।

एकाग्र होकर स्तोत्र का पाठ करने से मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। चित्त को शान्ति मिलती है। परन्तु जब तक ज्ञान और वैराग्य से चित्त-शुद्धि न हो, तब तक यह शान्ति अल्पकालिक होती है।

इसीलिए देवता अपनी स्तुति को तभी स्वीकार करते हैं, जब भक्ति के साथ ज्ञान और वैराग्य हो। हां, मनुष्यों के लिए यह कहा जा सकता है कि वे अपनी प्रशंसा सुनकर फूले नहीं समाते। इसी प्रवृत्ति ने चाटुकारिता यानी खुशामद को जन्म दिया है।

अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति ॥४४०॥

दुर्वचन झूठा भी हो तो भी उसका प्रभाव
दीर्घकाल तक बना रहता है ॥४४०॥

सत्पुरुषों का उद्देश्य स्वधर्म का पालन होता है ॥४४३॥

इस सूत्र में स्वधर्म शब्द आया है। वर्ण–व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण का धर्म स्वधर्म कहा जाता था।

यहां धर्म शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य के लिए किया गया है क्योंकि धर्म के मौलिक तत्व अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि तो सारी मनुष्य जाति पर समान रूप से लागू होते हैं। प्राचीन काल में वेदशास्त्र पढ़ना ब्राह्मणों का, रक्षा करना क्षत्रियों का, वाणिज्य–व्यवसाय करना वैश्यों का तथा सेवा करना शूद्रों का स्वधर्म माना जाता था। यहां तक कि पशुओं की हिंसा करना भी बधिकों यानी कसाइयों का स्वधर्म होता था। सत्पुरुष उसे कहते थे, जो स्वधर्म का पालन करता था, चाहे वह स्वधर्म लौकिक दृष्टि से कितना ही बुरा क्यों न हो। गीता में कहा है :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

आज जब वर्ण–व्यवस्था का लोप हो गया है, तब यह कहना कठिन है कि किसी के लिए स्वधर्म क्या हैं और पर-धर्म क्या है ?

नास्त्यर्थिनो गौरवम् ॥४४४॥

अर्थी का समाज में गौरव नहीं होता ॥४४४॥

अर्थी शब्न के दो अर्थ है : याचक और धनी। इन सन्दर्भो में गौरव के भी दो अर्थ हो जाते हैं : सम्मान तथा महत्व या बडप्पन।

याचकों यानी मांगने वालों का सब तिरस्कार करते हैं और उन्हें दूर रखना चाहते हैं। चार-सौ-चौंतीसवें सूत्र की व्याख्या में दो तरह के याचक बताये गये थे। एक जरूरतमन्द, दूसरे भिखमंगे जिनका पेशा ही भीख मांगना होता है। याचकों की तीसरी किस्म भी होती है।

निराश्रित बूढ़ों, अपाहिजों और अपंगों को भीख मांगने पर मजबूर होना पड़ता है। दूसरी किस्म के याचक ही तिरस्कार के योग्य होते हैं क्योंकि शरीर से समर्थ होते हुए भी वे कुछ काम नहीं करना चाहते। हमारे देश में साधुवेशधारी ऐसे भिखारियों की भरमार है। ये लोग भोले-भाले लोगों की धार्मिक भावना का लाभ उठाकर मौज करते हैं।

इस प्रकार के याचकों के लिए कहा है : 'तृणादपि लघुस्तूलः तूलादपि च याचकः' अर्थात् रुई तिनके से भी हलकी होती है, किन्तु याचक रुई से भी हलका होता है। जब इतना हलका होता है तो हवा उसे क्यों नहीं उडा ले

करोगे ? उसने जवाब दिया : मैं उन्हें रख लूंगा । तब बुद्ध ने कहा : तुमने मुझे जो गालियां दी है, उन्हें मैंने ग्रहण नहीं किया । उन्हें भी तुम ही रख लो ।

राजद्विष्टं न च वक्तव्यं ॥४४१॥

श्रुति सुखात्कोकिलालापात्तुष्यन्ति ॥४४२॥

राजा के बारे में द्वेषपूर्ण बात नहीं कहनी चाहिए ॥४४१॥

सुनने में सुखद बातें मनुष्य को उसी प्रकार प्रसन्न करती हैं जिस प्रकार कोयल की कूक ॥४४२॥

राजा सम्बन्धी यह सूत्र आजकल के शासक वर्ग पर लागू किया जा सकता है ।

शासकों के कुछ काम या आदेश ऐसे हो सकते हैं कि जनता उन्हें पसन्द न करे । लोकतन्त्र में सरकारों के कामों की आलोचना करने का जनता को अधिकार होता है । विपक्ष के नेता और अखबार ऐसी आलोचनाएं किया करते हैं । जहां तक ये आलोचनाएं तथ्यात्मक तथा युक्ति-संगत हों, तब तक उपयोगी तथा स्वागत योग्य होती है । परन्तु कुछ आलोचनाएँ केवल आलोचना की नीयत से की जाती हैं । इनके पीछे सरकार या शासक वर्ग के प्रति द्वेष की भावना होती है । इस भावना के कारण सरकार के हर काम में दोष खोजे जाते हैं और उन्हें उछाला जाता है । चाणक्य इसी प्रवृत्ति का निषेध करता है ।

अगले सूत्र का तात्पर्य यह प्रतीत होता हैं कि शासकों को प्रसन्न करने के लिए उनके सामने ठकुर सुहाती बातें करनी चाहिए । वसन्त ऋतु में कोयल की कूक सबको प्यारी लगती है । इसी प्रकार कानों को सुख देने वाली बातें प्रत्येक मनुष्य को प्रसन्न करती है । शासकों का कृपापात्र बनने के लिए यह नुस्खा बहुत लोग काम में लाते हैं । इसलिए शासक वर्ग को ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए ।

महाभारत में कहा है :

सुलभाः पुरुषाः राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

हमेशा प्रिय बोलने वाले आसानी से मिल जाते हैं, किन्तु अप्रिय बात कहने वाला और सुनने वाला बहुत मुश्किल से मिलता है ।

स्वधर्म हेतुः सत्पुरुषः ॥४४३॥

शत्रोरपि न पतनीया वृत्तिः ।।४४६।।

शत्रुभिरनभिपतनीया वृत्तिः ।।४४७।।

शत्रु की भी आजीविका नष्ट नहीं करनी चाहिए ।।४४६।।

अपनी आजीविका की शत्रु से रक्षा करनी चाहिए ।।४४७।।

जीवन-निर्वाह का साधन यानी रोजी-रोटी कमाने का धंधा वृत्ति या आजीविका कहलाता है। छोटे परिवार में कमाने वाला एक होता है और खाने वाले कई होते है। बड़े परिवारों में कमाने वाले कई होते हैं तो आश्रितों की संख्या भी ज्यादा होती है।

किसी के जीवन-निर्वाह का साधन यानी कमाई का जरिया न रहे, तो उसके सारे कुटुम्ब को कष्ट उठाना पड़ता है। इसलिए चाणक्य कहता है कि शत्रु की भी आजीविका पर हाथ नहीं डालना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसका सारा कुटुम्ब मुसीबत में पड़ जाता है। शत्रुता किसी एक आदमी से होती है, उसके सारे कुटुम्ब से नहीं। उस एक शत्रु से बदला लेने के लिए उसके कुटुम्ब पर वार करना उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि कुटुम्बियों ने कुछ नहीं बिगाड़ा। ऐसा भी देखा गया है कि किन्हीं दो आदमियों से दुश्मनी होती है, पर उनकी सन्तानों के बीच मेल-जोल होता है।

वैसे भी कहावत है कि किसी के पेट पर लात नहीं मारनी चाहिए अर्थात् किसी की जीविका नहीं छीननी चाहिए।

जिस प्रकार शत्रु की जीविका नष्ट नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार अपनी आजीविका की भी शत्रु से रक्षा करनी चाहिए। जो बात शत्रु के कुटुम्ब पर लागू होती है, वही अपने कुटुम्ब पर भी लागू होती है।

कुछ लोग अपने दुश्मन को पूरी तरह बर्बाद करने पर उतारू हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति निर्दयता और हृदयहीनता की द्योतक है। दो आदमियों का आपसी वैर कभी मिट भी सकता है लेकिन अगर वैर एक दूसरे को बर्बाद करने की हद तक पहुंच जाये, तो फिर वह पीढी-दर पीढ़ी चलता रहता है।

अप्रयत्नोदकं क्षेत्रम् ।।४४८।।

जल के क्षेत्र में बिना प्रयत्न के उपज होती है ।।४४८।।

यह सूत्र सिंचाई से संबन्ध रखता है। जिस भूमि में जल सुलभ हो, वहां खेती में अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जल ही कृषि यानी खेती का मुख्य आधार है। यह तथ्य स्वयंसिद्ध है। इसकी विवेचना अनावश्यफ है।

जाती ? हवा कहती है : मैं उसके पास इसलिए नहीं जाती कि कहीं मुझसे भी कुछ मांग न बैठे। इसीलिए कहा है कि याचक आदर और सम्मान का पात्र नहीं होता।

धनवानों पर इस सूत्र को लागू करें तो यह अर्थ निकलता है कि कोरा धनवान होना ही महत्व या बड़प्पन प्रदान नहीं करता। धन के साथ मनुष्य में सद्‌गुण तथा विद्वता भी होने चाहिए तभी वह गौरव प्राप्त कर सकता है।

चाणक्य नीति कहती है :

विद्वत्वंच नृपत्वंच नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।।

राजा भी कभी विद्वान् के तुल्य नहीं हो सकता। राजा तो स्वदेश में ही पुजता है, पर विद्वान् सब जगह पूजा जाता है।

यही बात धनवान के लिए भी कही जा सकती है। धनवान का सम्मान या गौरव सीमित दायरे में होता है जहां लोग उसे जानते हों। यह सम्मान भी तभी तक रहता है जब तक उसके पास धन हो। निर्धन होने पर उसे कोई नहीं पूछता।

स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यम् ।।४४५।।

स्त्रियों का भूषण सौभाग्य है ।।४४५।।

सौभाग्यवती उस स्त्री को कहते हैं जिसका पति जीवित हो। भारतीय संस्कृति में पति तथा सन्तान का सुख ही स्त्री का सौभाग्य माना जाता है। इसका कारण यह है कि स्त्री को गृह-स्वामिनी कहा गया है, अर्थात् गृहस्थी को सम्भालने की तथा सन्तान के लालन-पालन की सारी जिम्मेदारी उसके ऊपर होती है। पति की जिम्मेदारी परिवार के भरण-पोषण के लिए धन कमाने की है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन स्त्री और पुरुष मिलकर करते हैं। गृहस्थी को रथ की उपमा दी जाती है। पति और पत्नी इस रथ के दो पहिये होते हैं।

अब यह व्यवस्था बदलती जा रही है। स्त्रियां हर क्षेत्र में पुरुषों का मुकाबला करने लगी हैं। अविवाहित अथवा विधवा स्त्रियां भी समाज में आदर और सम्मान प्राप्त कर रही हैं। पश्चिम के देशों में तो विवाह अब कोई पवित्र बंधन नहीं माना जाता। पति-पत्नी में अनबन हो जाये तो दोनों के लिए तलाक का रास्ता खुला हुआ है।

परन्तु जब तक उसने साधना का तप करके ज्ञान प्राप्त न कर लिया हो, तब तक उसकी विद्याएं सार्थक नहीं होतीं।

न प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः ।।४५३।।

बहुत वृद्धि गुणों का कारण नहीं होती ।।४५३।।

वृद्धत्व कई प्रकार का हो सकता है। कोई नर अवस्था में वृद्ध (वयोवृद्ध) होता है या विद्यावृद्ध या धनवृद्ध या यशोवृद्ध या बलवृद्ध होता है। कोई रूपवान होता है। किसी में एक से अधिक वृद्धत्व भी हो सकते हैं। परन्तु इन वृद्धत्वों का यह अर्थ नहीं कि वह गुणवृद्ध अर्थात गुणों का भी आगार हो।

अवस्था में वृद्ध होना तो प्राकृतिक नियम है। धनवान होने के लिए भी किन्हीं विशेष सद्गुणों का होना अनिवार्य नहीं। लोग बेईमानी से भी धनवान बन जाते हैं। किसी को विरासत में धन मिल जाता है तो किसी को अकस्मात ही धन प्राप्त हो जाता है। जुआ, सट्टा, लाटरी आदि ऐसे ही आकस्मिक कारण होते हैं। स्कूलों, कालेजों आदि में शिक्षण या प्रशिक्षण प्राप्त करके मनुष्य विद्यावान बन सकता है। आजकल के विश्वविद्यालय तो ऐसे विद्यावानों की खानें बन गये हैं।

यश प्राप्त करना भी सद्गुणों पर निर्भर नहीं होता। ऊंचे पदों पर पहुंचने वालों का नाम हो जाता है। जीवन के किसी एक क्षेत्र में विशिष्ट उन्नति करने से भी यश मिल जाता है। आजकल सिनेमा के अभिनेताओं तथा खिलाड़ियों का जितना नाम है उतना बड़े-बड़े पण्डितों और विद्वानों का भी नहीं।

बलवान होना केवल शारीरिक क्षमता से संबन्ध रखता है। कुछ लोग केवल संयोग से या भाग्य से ही धन और यश प्राप्त कर लेते हैं। धूर्त लोग भी धनवान और कीर्त्तिवान बन जाते हैं।

सद्गुण उन्हीं लोगों में पाये जाते हैं जो ज्ञानवृद्ध हों। अन्य लोगों में भी सद्गुण हो सकते हैं और होते भी हैं, परन्तु सभी तरह के वृद्धों में सद्गुणों का होना जरूरी नहीं।

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि किसी वयोवृद्ध, विद्यावान, धनवान या यशवान को देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह गुणवान भी है। उसे कसौटी पर कस कर देखना चाहिए। यह कसौटी चाणक्य नीति में बतायी गयी है :

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणं छेदन ताप ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।।

एरंडमवलंब्य कुंजरं न कोपयेत् ।।४४९।।

अरंडी के पेड का सहारा लेकर हाथी को कुपित नहीं करे ।।४४९।।

अरंडी का पेड बहुत कमजोर होता हैं। कद में भी छोटा होता है। आदमी उस पर चढ़ ही नहीं सकता। कोई यह सोचे कि हाथी को छेड़कर अरंडी के पेड पर चढ़ कर अपनी रक्षा कर लेगा, तो उसे मूर्ख ही कहा जायेगा। इस सूत्र का भावार्थ यह है कि किसी कमजोर आदमी के आसरे की आशा से बलवान को चुनौती देना मूर्खता है।

राजनीति के क्षेत्र में यों कह सकते है कि निर्बल मित्र के भरोसे बलवान शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। ऐसा करना सर्वनाश को न्यौता देना है।

अतिप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तंबो न भवति ।।४५०।।

शीशम का बहुत विशाल वृक्ष भी हाथी को बाँधने का खंभा नहीं होता ।।४५०।।

हाथी में इतना बल होता है कि वह शीशम के बहुत बड़े पेड़ को भी उखाड़ सकता है। इसलिए उसे हाथी को बांधने का खंभा नहीं बनाना चाहिए। इस सूत्र का भावार्थ भी पूर्ववर्ती सूत्र के समान है। बहुत बलवान से टक्कर लेनी हो, तो ऐसा बलवान तलाश करना चाहिए जो उसकी टक्कर को झेल सके या स्वयं इतना बलवान होना चाहिए।

अतिदीर्घोऽपि कर्णिकारो न मुसली ।।४५१।।

कनेर का पेड बहुत दीर्घ होने पर भी मूसल बनाने के काम का नहीं होता ।।४५१।।

मूसल बहुत कठोर लकड़ी का बनाया जाता है क्योंकि उससे चीजें कूटी जाती हैं। कनेर के पेड़ की लकड़ी कमजोर होती है। कनेर के बड़े से बड़े पेड़ की लकड़ी से मूसल नहीं बन सकता। भावार्थ यह है कि जिस काम के लिए जो वस्तु उपयुक्त हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए। बलवान शत्रु से निबटने के लिए ऐसे शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र होने चाहिए जो उसका नाश कर सकें।

अतिदीप्तोऽपि खद्योतो न पावकः ।।४५२।।

बहुत रोशनी देने वाला जुगनू भी आग का काम नहीं दे सकता ।।४५३।।

जुगनू रात में चमकता है लेकिन वह चाहे जितना चमके, आग नहीं पैदा कर सकता। उसमें सिर्फ रोशनी पैदा करने की शक्ति होती है, गर्मी नहीं होती। भावार्थ यह है कि कोई मनुष्य विद्याएं प्राप्त करके चाहे जितना चमक जाये,

इन दोनों सूत्रों के भावार्थों में कुछ भेद है। दूसरा सूत्र साधारण अवस्था का द्योतक है कि मनुष्य जिस कुल या वंश में जन्म लेता है, उसी के अनुसार उसका आचरण–व्यवहार होता है। जिस कुल की अच्छी परम्पराएँ होती हैं, उस कुल में जन्म लेने वालों का आचार–व्यवहार अच्छा होता है और विपरीत अवस्था में विपरीत होता है। यह साधारण बात है परन्तु अपवाद इसमें भी होते हैं।

पहला सूत्र अपवादों को ध्यान में रखकर कहा गया प्रतीत होता है। इसका अर्थ यही है कि कुल धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए।

न चागतं सुखं परित्यजेत् ॥४५६॥

उपस्थित या वर्तमान सुख का परित्याग नहीं करे ॥४५६॥

इस सूत्र का भावार्थ यह प्रतीत होता है कि अनागत अर्थात् भविष्य के सुख की आशा में वर्तमान सुख का परित्याग नहीं करना चाहिए।

अंग्रेजी की एक कहावत है : 'अ बर्ड इन हैन्ड इज वर्थ टू इन द बुश,' अर्थात् हाथ में आयी हुई एक चिड़िया की कीमत झाड़ी में बैठी दो चिड़ियों के बराबर है। हाथ की चिड़िया को छोड़कर उन दो चिड़ियों के पीछे दौड़े तो शायद एक भी हाथ न आये। इसी आशय की हिन्दुस्तानी कहावत है : नौ नकद न तेरह उधार। कोई कहे कि नौ रुपये नकद ले लो या तेरह रुपये उधार ले लो तो नौ रुपये नकद लेना बेहतर है।

वर्षा की आशा में अगर कोई घड़े फोड़ दे, तो उसे मूर्ख ही कहा जायेगा।

एक कहानी है कि किसी निर्धन ने शिव की आराधना की। शिव ने प्रसन्न होकर उसे एक बटिया दी और कहा कि यह बटिया जो मांगेगा सो दे देगी। बटिया के वरदान से उसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी होने लगीं। उसके पड़ौसी को यह देखकर आश्चर्य हुआ। उसने एक दिन चुपचाप उसके घर में आकर उस बटिया की करामात देख ली और मौका पाकर बटिया को चुरा ले गया। पहले का निर्धन फिर दुःखी हो गया और उसने फिर शिव से प्रार्थना की। इस बार शिव ने उसे एक शंख दिया और कहा कि इसे ऐसी जगह रखे जहां से पड़ौसी उसकी आवाज सुन सके और तब जो चाहे सो मांगे। उसने ऐसा ही किया और शंख से दो अशर्फियां मांगी। शंख ने कहा : आज दो नहीं कल चार अशर्फियां दूंगा। दूसरे दिन जब उसने चार अशर्फियां मांगी तो शंख ने अगले दिन आठ देने की बात कहीं। पड़ौसी ने यह बातें सुनी तो उसके मुंह में पानी आ गया।

जिस प्रकार कसौटी पर घिस कर, काट कर, तपाकर और कूट-पीटकर, चार तरीकों से सोने की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार त्याग, शील, गुण और कर्म, इन चार बातों से मनुष्य की परीक्षा की जाती है ।

तात्पर्य यह है कि किसी मनुष्य का मूल्यांकन करने के लिए उसके बाहरी गौरव या प्रतिष्ठा या ऐश्वर्य का विचार नहीं करना चाहिए, बल्कि देखना चाहिए कि उसमें मानवोचित सद्गुण हैं या नहीं ।

सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शंकुलायते ।।४५४।।

संस्कृतः पिचुमन्दो न सहकारो भवति ।।४५५।।

नीम के बड़े पेड से भी खूंटा नहीं बनता ।।४५४।।

नीम का पेड संस्कार करने पर भी आम का पेड़ नहीं बन सकता ।।४५५।।

लोहे की कील का काम तो किसी भी पेड़ की लकड़ी नहीं दे सकती और खूंटा भी मजबूत लकड़ी का ही बनता है । नीम का नाम शायद इसलिए लिया गया है कि यह पेड़ बहुतायत से पाया जाता है और इसकी लकड़ी बहुत आसानी से मिल जाती है ।

सूत्र का भावार्थ यह है कि किसी काम के लिए किसी चीज की जरूरत हो, तो वही चीज लेनी चाहिए जो उस काम के उपयुक्त हो । ऐसी चीज तत्काल उपलब्ध न हो, तो काम चलाने के लिए आसानी से मिलने वाली चीज का उपयोग नहीं करना चाहिए । इससे काम बिगड़ने का अन्देशा रहता है ।

यही बात मनुष्यों पर भी लागू होती है । किसी काम पर उसी आदमी को लगाना चाहिए जिसमें वह काम करने की योग्यता और क्षमता हो ।

नीम के पेड़ को चाहे जितने जतन से सींचा जाये, वह आम का पेड़ नहीं बन सकता । आम का पेड़ बनना तो दूर की बात है, उसका कड़वापन भी नहीं मिटाया जा सकता ।

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ के सहज प्राकृतिक स्वभाव को बदला नहीं जा सकता । मनुष्येतर प्राणियों के सारे कर्म और व्यवहार उनके स्वभाव के अनुसार होते हैं । मनुष्यों के स्वभाव या आदतों को शिक्षा और संस्कार से बदला जा सकता है परन्तु कुछ आदतें ऐसी होती हैं जो छुड़ाये नहीं छूटतीं । इनके बारे में जो कहावत है, उसमें भी नीम के पेड़ की उपमा दी गई है : जाकी जैसी टेव छुटे नहिं जी से, नीम न मीठो होय सींचो गुड़ घी से ।

राजपुरुषों के व्यवहार की नकल करके मनुष्य स्वयं दुख में फंसता हैं ।।४६१।।

यह रवैया आम-तौर पर देखने में आता है कि छोटे लोग खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, साज-सज्जा वगैरा में बड़े लोगों की नकल करते हैं। मध्यम वर्ग के लोग धनिक वर्ग की नकल करते हैं और निम्न वर्ग के लोग मध्यम वर्ग की। इसका नतीजा यह होता हैं कि उन्हें अपनी आमदनी से ज्यादा खर्च करने पड़ते हैं। फिर या तो वे बेईमानी से धन कमाने के उपाय खोजते हैं, या कर्ज के बोझ से दब जाते हैं। झूठी शान-शौकत पर खर्च करने से वे हारी-बीमारी में तथा बाल-बच्चों के भरण-पोषण के लिए पैसा नहीं बचा पाते और मुसीबत में फंस जाते हैं।

आजकल हमारे देश में यह प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ रही है। बदलते फैशन के अनुसार बढ़िया कपड़े, टी. वी., फ्रिज, डाइनिंग टेबल, सिनेमा देखना, वगैरा 'स्टेटस सिम्बल' यानी शान के प्रतीक बन गये हैं और मध्यम वर्ग के लोग अपनी औकात से बाहर इन पर खर्च करते हैं—यह दिखाने के लिए कि वे भी 'बड़े आदमी' हैं। औरतों में तो इन्हीं चीजों की चर्चाएं होती है और जिसके घर में टी. वी और फ्रिज न हों, उसे नीची निगाह से देखा जाता है। भ्रष्टाचार पनपने का यह भी एक कारण हैं।

इसलिए झूठे आडम्बर के मोह में न पड़ कर अपनी सामर्थ्य तथा अवस्था के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। कहा है : 'तेते पांव पसरिये जेती लांबी सौर'। एक नीतिकार ने कहा है :

इदमेव हि पांडित्यं इयमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मः न आयादधिको व्ययः ।।

आमदनी से ज्यादा खर्च मत करो। इसी में बुद्धिमानी हैं, इसी में चतुराई है और यही सबसे ऊंचा धर्म है :

न रात्रिचारणं कुर्यात् ।।४६२।।
न चार्धरात्रं स्वपेयात् ।।४६३।।
रात में विचरण नहीं करे ।।४६२।।
आधी रात नहीं सोये ।।४६३।।

इन दोनों सूत्रों का अर्थ यह है कि मनुष्य को अपने सारे काम दिन में ही निबटा देने चाहिए और आधी रात से पहले सो जाना चाहिए।

जिसमें संत्रास और नर–हत्याएँ भी शामिल हैं। इसके विपरीत गांधीजी ने सदा साधनों की शुद्धि पर जोर दिया। उद्देश्य चाहे जितना अच्छा हो, उसके लिए अशुद्ध साधनों के प्रयोग से विद्वेप फैलता है और अन्त में बुरे परिणाम निकलते हैं।

वैदिक और श्रमण मान्यताओं का कर्मविपाक का सिद्धान्त इसी तर्क पर आधारित है कि जैसा कर्म होगा उसी के अनुसार उसका फल मिलेगा। यह अटल नियम है। बुरे कर्मों का फल इस जन्म में भी मिल सकता है और मरने के वाद दूसरे जन्म में भी। जो मजहव या सम्प्रदाय पुनर्जन्म को नहीं मानते, उन्होंने भी अच्छे कर्मों के लिए स्वर्ग की और बुरे कर्मों या पापों के लिए नरक की कल्पना की हैं।

तात्पर्य यह है कि अच्छे बीज से अच्छे फल का सिद्धान्त एक आदर्श सिद्धान्त है। प्रकृति के सारे व्यापार इसी सिद्धान्त के अनुसार होते हैं।

यथाश्रुतं तथा बुद्धिः ।।४५७।।

जैसी शिक्षा हो वैसी ही बुद्धि होती है ।।४५७।।

आजकल जिसे शिक्षा या सिखाना कहा जाता है, उसे प्राचीन काल में श्रुत अर्थात् सुना हुआ कहते थे। इसका कारण यह है कि उस समय गुरु अपने शिष्यों को मौखिक रूप में ही विद्याएँ पढ़ाता था।

मनुष्य की बुद्धि का विकास शिक्षा से ही होता है। इसीलिए वच्चों की अच्छी शिक्षा पर जोर दिया जाता है। वच्चे सवसे पहले तो माता–पिता से सीखते हैं, फिर पाठशालाओं में सीखते हैं और साथ–साथ अपने चौगिर्द से भी वहुत कुछ सीखते हैं। इन सवके संस्कार उनके मन पर और उनकी बुद्धि पर पड़ते है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि का विकास, शिक्षा या अध्ययन पर निर्भर करता है। इसलिए शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थी में बुद्धि का विकास हो। आजकल की पुस्तकी शिक्षा इस उद्देश्य को पूरा नहीं करती। गांधीजी ने वुनियादी शिक्षा की प्रणाली इसी उद्देश्य से रची थी, परन्तु सरकार ने उसे ढोंग वना दिया।

यथा कुलं तथा आचारः ।।४५८।।

जैसा कुल हो वैसा ही आचार होता है ।।४५८।।

तीन-सौ-पच्चीसवें सूत्र में कहा गया है कि कुल के अनुरूप आचरण होना चाहिए। अव कहते हैं कि आचरण कुल के अनुसार होता है।

उन्हें समय नहीं मिलता क्योंकि उन्हें दिन में सोना पड़ता है। उनका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर गीता कहती है :

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःख हा ॥

जिनका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का अ चरण नपा-तुला है और सोना-जागाना परिमित है, उनका योग सुखदायक होता है।

परगृहमकारणो न प्रविशेत् ॥४६४॥

पराये घर में बिना प्रयोजन के मत जाओ ॥४६४॥

यह सूत्र उन निठल्ले लोगों के लिए है जो अपना वक्त गुजारने के लिए बिना किसी कारण या प्रयोजन के किसी मित्र या रिश्तेदार के घर जा धमकते हैं। उस वेचारे को शिष्टाचार के नाते अपना काम-काज छोड़कर मेहमान की आव-भगत करनी पड़ती है और उससे वातें करनी पड़ती हैं। इसलिए बिना बुलाये या विना किसी काम के किसी के घर नहीं जाना चाहिए। किसी काम से जाना हो, या कोई जरूरी बात करनी हो, तो वह काम या बात पूरी होते ही चले आना चाहिए। एक दोहा है :

पर घर कबहुं न जाइए गये घटत है जोत।
रवि मण्डल में जात शशि छीन कला छवि होत ॥

पराये घर कभी मत जाओ क्योंकि जाने से प्रतिष्ठा घटती है। चन्द्रमा जब सूर्य के प्रकाश में आता है तो उसकी कला क्षीण हो जाती है। उसका रंग फीका पड़ जाता है।

ज्ञात्वापि दोषमेव करोति लोकः ॥४६५॥

लोग जान-बूझकर भी बुरे काम करते हैं ॥४६५॥

हरेक आदमी जानता है कि झूठ बोलना, वेईमानी करना, धोखा देना, मिलावट करना, रिश्वत खाना, गबन करना, अपने पद का दुरुपयोग करना, वगैरा सब बुरे काम हैं। फिर भी ऐसे लोग हैं जो यह जानते हुए भी इस तरह के बुरे काम करते हैं। इनके पीछे स्वार्थ और लोभ की प्रवृत्तियां होती हैं। ये अवगुण मनुष्य को अंधा कर देते हैं। कहा है : 'स्वार्थी दोष न पश्यति' अर्थात स्वार्थी आदमी को बुराई नजर नहीं आती।

फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।
फलं पुण्यस्य चेच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ॥

वह चुपचाप आकर वटिया तो रख गया और शंख उठा ले गया। अपने घर में शंख को सामने रखकर उसने आठ अशर्फियां मांगी तो शंख ने कहा : कल सोलह ले लेना। अगले दिन उसने कहा कल वत्तीस ले लेना और फिर वह हर रोज दुगुनी संख्या बनाने लगा। पड़ोसी ने हैरान होकर शंख से कहा : तू रोज कल देने की बात कहता है। मुझे तो आज ही दे। तब शंख बोला : देने वाली तो वह वटिया थी, मैं तो ढपोलशंख हूं। सिर्फ कहता हूं देता नहीं।

इस तरह आगे की आशा में वह पड़ोसी मूर्ख बन गया और उसे चोरी का फल भी मिल गया।

मतलब यह कि सामने जो अवसर हो, उसे भविष्य में अधिक अच्छे अवसर की आशा में छोड़ना नहीं चाहिए।

स्वयमेव दुःखमधिगच्छति ।।४६०।।

मनुष्य स्वयं ही दुखों में फंस जाता है ।।४६०।।

मनुष्य जैसा कार्य करता है वैसा ही फल उसे मिलता है। अपने दुखों का कारण वह खुद ही होता है, क्योंकि दुख देने वाले काम जान-बूझ कर करता है। गीता में कहा है :

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवआत्मनो बंधुः आत्मैव रिपुरात्मनः ।।

मनुष्य अपना उद्धार आप ही करे। अपने को गिरने न दे। (क्योंकि प्रत्येक मनुष्य) स्वयं ही अपना बन्धु (मित्र या सहायक) है और स्वयं ही अपना शत्रु होता है।

फारसी की एक कहावत है : 'चिरा कारे कुनद आकिल कि बाद आयद परेशानी' अक्लमन्द आदमी ऐसे काम क्यों करे जिनसे बाद में परेशानी उठानी पड़े।

एक दोहा है :

करनी ऐसी क्यों करे जो पीछे पछताय।
बोवे पेड़ बबूल का आम कहां से खाय ।।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को सोच-समझ कर ऐसे कामों से बचना चाहिए जिनसे दुख उठाना पड़े।

स्वयमेव दुःखमधिगच्छति राजचर्यात् ।।४६१।।

न पाणिपाद चपलो न नेत्र चपलो मुनिः।
न च वाग्भंग चपलो इति शिष्टस्य लक्षणम् ॥

जिसके न तो हाथ-पांव चपल यानी अनियन्त्रित हैं, न नेत्र चपल हैं, न वाणी चपल है और जो संयमी है, वह शिष्टता के लक्षणों से युक्त होता है।

तात्पर्य यह है कि जब किसी लोक व्यवहार के बारे में शंका हो, तब शिष्ट जनों का अनुकरण करना चाहिए।

इस शिष्टाचार को शास्त्र से भी ज्यादा वजनी कहा गया है। इसका कारण यह है कि शास्त्रों की रचना समाज की तत्कालीन अवस्था के अनुरूप हुई थी। देश, काल और परिस्थिति में परिवर्तन के अनुसार समाज में भी परिवर्तन होते रहते है। अंग्रेजी कवि टेनीसन की एक कविता में यही बात कही गयी है: पुरानी व्यवस्था बदलती है और नयी व्यवस्था उसका स्थान ले लेती है। यही प्रकृति का नियम है, ताकि कोई अच्छी रीति भी समाज को भ्रष्ट न कर दे।

यदि कोई परम्परागत रीति समयानुकूल नहीं रही हो, तो केवल शास्त्र का प्रमाण देकर लकीर के फकीर नहीं होना चाहिए। अधिकारी पुरुषों ने जो नया रास्ता बताया हो, उस पर चलना चाहिए।

सभी मजहबों, संप्रदायों वगैरा के कट्टरपंथियों और रूढिवादियों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

गतानुगतिको लोकः ॥३६९॥

लोग आगे जाने वाले के पीछे चलते हैं ॥४६९॥

आम तौर पर लोगों की यह आदत होती है कि जिधर एक आदमी दौड़ रहा हो, उसी तरफ सब दौड़ पड़ते हैं। यह नहीं सोचते कि वह आदमी क्यों दौड़ रहा है और उसके पीछे दौड़ने का क्या नतीजा होगा। संस्कृत की न्यायावली में इस आशय के दो न्याय हैं:

अन्ध परंपरा न्याय।
गड्डुलिका प्रवाह न्याय।

किसी परम्परा के पीछे अन्धे की तरह चलना। अन्धा आदमी खुद तो सही रास्ते पर चल नहीं सकता। उसकी लाठी को पकड़ कर जो ले जाये उसी के पीछे हो लेता है।

एक भेड़ जिधर भागती है, उसी तरफ भेड़ों का सारा रेवड़ भागने लगता है। इसे भेड़ चाल कहते हैं। एक भेड़ कुंए में गिर जाये तो उसके पीछे सारी भेड़ें भी गिर जाती हैं।

पुराने जमाने में लोग रात को घर से नहीं निकलते थे। इसका कारण यह था कि रात को आजकल जैसी बिजली की रोशनी तो होती नहीं थी, सो घर के बाहर अन्धेरा रहता था। दूसरे, रात को चोरों और लुटेरों का डर रहता था। रात में जंगली जानवर भी भोजन की तलाश में घूमते थे क्योंकि बस्तियां छोटी होती थीं और दूर-दूर होती थीं। रात को लोग जल्दी सो जाते थे क्योंकि रात में मनोरंजन के आजकल जैसे साधन नहीं थे।

परन्तु इन दोनों सूत्रों का वैज्ञानिक महत्व आज भी वह है जो पुराने जमाने में था। निशिचर जीवों के अलावा सारे जीव सूरज छिपते ही सोने को चले जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि प्रकृति में रात का समय विश्राम के लिए ही उपयुक्त है। रात में सूर्य की प्राणदायिनी किरणों का प्रकाश नहीं रहता। प्राणियों के श्वास-प्रश्वास से तथा वस्तुओं के जलने से कार्बन-डाई-आक्साइड नामक गैस बनती रहती है। पेड़-पौधे इस गैस को सोखकर इसका कार्बन अंश अपने पोषण के लिए रख लेते हैं और प्राणवायु आक्सीजन निकालते रहते हैं। यह प्रक्रिया सिर्फ सूर्य के प्रकाश में ही होती है, रात में बन्द हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि रात में वायुमण्डल में कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए रात में घूमने-फिरने या शारीरिक श्रम करने में श्वास के साथ कार्बन-डाई-आक्साइड की अधिक मात्रा फेफड़ों में जाती है। यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है।

वैज्ञानिकों ने एक महत्वपूर्ण बात का पता लगाया है कि मनुष्य के शरीर में एक घड़ी जैसी चीज होती है जिसे 'बायलोजिकल क्लॉक' अर्थात जैविक घड़ी कहा जाता है। मनुष्यों के सारे शारीरिक अवयवों का चालन इस घड़ी के अनुसार होता है। परन्तु जब कोई इस घड़ी के प्रतिकूल व्यवहार करता है, तो यह घड़ी बिगड़ जाती है और इसका प्रभाव मनुष्य के नाड़ी-संस्थान पर पड़ता है। इस दृष्टि से दिन के काम जब रात में किये जाते हैं या सोने के समय जागरण किया जाता है, तो इससे शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन आधुनिक सभ्यता में तो 'नाइट-लाइफ' यानी रात की मौज बहार के बिना लोगों को आनन्द ही नहीं आता। इससे अनेक मानसिक तथा शारीरिक विकार पैदा हो रहे हैं।

हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण से पता लगा है कि रात-पाली में काम करने वालों की मानसिक दशा में परिवर्तन हो जाता है। वे लोग सामाजिक जीवन से बिल्कुल कट जाते हैं। अपने मित्रों तथा परिजनों से मिलने-जुलने का

बिछा रखा है। चाणक्य रचित अर्थशास्त्र में गुप्तचरों के प्रकारों तथा उनकी नियुक्ति से संबंधित एक पूरा अधिकरण हैं।

पूजिताश्चार्थमानाभ्यां राजा राजोपजीविनाम् ।
जानीयुः शौचमित्येताः पंच संस्था प्रकीर्तिताः ।।

राज्य में कर्मचारियों तथा प्रजा की शुद्धता को जांचने के लिए राजा पांच प्रकार के गुप्तचर नियुक्त करे और धन तथा मान से उनको संतुष्ट रखे।

राज्य कर्मचारियों तथा मंत्रियों की ईमानदारी और वफादारी जानने के लिए अर्थशास्त्र में चार विधियां बतायी गई हैं : धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा तथा भयोपधा।

धर्मोपधा : जिस मंत्री की परीक्षा करनीं हो गुप्तचर उसके पास जाये और कहे : मुझे राजपुरोहित ने भेजा है। उसने कहा कि हमारा राजा अधार्मिक हो गया है और राज्य करने योग्य नहीं। हमें उसके स्थान पर किसी योग्य सामन्त को बिठाना चाहिए। आपकी क्या राय हैं ?

यह बात सुनकर मंत्री यदि गुप्तचर को फटकार दे, तो उसे शुद्ध समझना चाहिए, अन्यथा अशुद्ध।

अर्थोपधा : गुप्तचर किसी मंत्री के पास जाकर कहे : मुझे सेनापति ने भेजा है। उन्होंने कहा है कि यदि आप राजा को गिराने में हमारी सहायता करेंगे, तो आपको जितना मांगो उतना धन दिया जायेगा। आपकी क्या राय है ?

यदि मंत्री इस प्रस्ताव को ठुकरा दे तो उसे शुद्ध समझना चाहिए, अन्यथा अशुद्ध।

कामोपधा : राजा किसी गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासिनी को रनिवास में रखे और सबको यह विश्वास हो जाये कि वह रानी की विश्वासपात्र है। वह सन्यासिनी किसी मंत्री या राज कर्मचारी के पास जाकर कहे : रानी तुम से प्रेम करती है। तुम्हें उसका प्रेम स्वीकार करना चाहिए, वरना तुम्हारा अनिष्ट हो जायेगा।

यदि अधिकारी उसे फटकार दे तो शुद्ध अन्यथा अशुद्ध समझा जाये।

भयोपधा : किसी निकाले हुए मंत्री या राज्य अधिकारी के पास जाकर गुप्तचर उसे इस प्रकार उकसाये : यह राजा अन्यायी है, अयोग्य पुरुषों को पसंद करता है। इसे मार कर किसी दूसरे को राजा बनाना चाहिए। बहुत सारे अधिकारी इसके विरूद्ध हो गये हैं। तुम्हें भी उनका साथ देना चाहिए, वरना तुम्हारे लिए खतरनाक होगा।

लोग पापों के फल तो नहीं चाहते, परन्तु पाप बहुत जतन से करते है। पुण्यों के फल तो चाहते है, पर पुण्य नहीं करना चाहते।

शास्त्रप्रधानां लोकवृत्तिः ।।४६६।।

शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत् ।।४६७।।

नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः ।।४६८।।

लोकाचार शास्त्रों के आधार पर निश्चित किये गये हैं ।।४६६।।

जो बात शास्त्र में न हो, या शास्त्र का ज्ञान न हो, तब शिष्टाचार का पालन करना चाहिए ।।४६७।।

शिष्टाचार शास्त्रों से अधिक महत्वपूर्ण होता है ।।४६८।।

लोकाचार का अर्थ है किसी समाज में प्रचलित रूढियां तथा रीतियां यानी रस्में, रिवाज या दस्तूर। शास्त्र उन नियमों, उपदेशों, आदेशों, परम्पराओं आदि का नाम है जो किसी देश या समाज या वर्ग या मजहब या सम्प्रदाय के शास्त्रकारों, शासकों, ऋषियों, प्रवर्तकों वगैरा ने निश्चित किये हैं।

मनुष्यों के आदिकाल में कोई शास्त्र नहीं था क्योंकि तब समाज की स्थापना नहीं हुई थी। जैसे-जैसे समाज का तथा मनुष्यों की बुद्धि का विकास होता गया, वैसे ही वैसे समाज को व्यवस्थित रखने के लिए शास्त्रों का निर्माण होता गया। धीरे-धीरे लोगों को इन शास्त्रों के अनुसार चलने की आदत पड़ गयी और ये लोकाचार बन गये। अर्थात् जितने भी लोकाचार अर्थात् परम्परागत लोक-व्यवहार हैं, उनका आधार किसी न किसी शास्त्र पर है। ये ही लोकाचार आज रीति-रिवाजों के रूप में प्रचलित हैं जो रूढ़ हो गये हैं। कालान्तर में इन रीति-रिवाजों में अनेक विकृतियां तथा विसंगतियां भी पैदा हो गयीं। सबसे बड़ी विकृति यह हुई कि बहुत लोग लकीर के फकीर बन गये।

इसलिए यह कहना सही है कि प्रारम्भ में लोकाचार का आधार शास्त्र था।

अगर कोई मामला ऐसा हो जिसके बारे में शास्त्रों कोई आदेश न हो, तो उस अवस्था में शिष्टाचार का पालन करना चाहिए, अर्थात शिष्ट जन जैसा व्यवहार करें, उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। महाभारत में भी कहा है। 'महाजनो येन गतः स पंथाः' अर्थात जिस रास्ते पर महापुरुष गये हों, उसी रास्ते पर चलना चाहिए। शिष्टजन के ये लक्षण बताये गये हैं :

रसद : ये गुप्तचर क्रूर स्वभाव वाले होते थे और राजा के शत्रुओं को जहर देकर मारने में भी संकोच नहीं करते थे। इस श्रेणी के गुप्तचर अधिकारियों के घरों में रसोई बनाने वाला, स्नान कराने वाला, हाथ-पांव दबाने वाला, बिस्तर बिछाने वाला, नर्तक अथवा गायक के रूप में प्रवेश करते थे और इनकी गतिविधियों की सूचना राजा को देते थे।

भिक्षुकी : विधवा ब्राह्मणी के रूप में ये गुप्तचर अधिकारियों के जनानखानों में प्रवेश करके अन्दरूनी मामलों का पता लगाती थीं और 'रसद' को सूचना देती थीं।

ये चारों प्रकार के गुप्तचर विशेषतया मन्त्रियों, पुरोहितों, सेनापति, युवराज, समाहर्त्ता (लगान वसूल करने वाला) दुर्ग रक्षक, सीमा रक्षक आदि उच्च राजाधिकारियों की शुद्धता का पता लगाने के लिए नियुक्त किये जाते थे।

ये गुप्तचर राज्य के शत्रु देशों में भी विचरण करते थे। शत्रु देश के राज्याधिकारियों की नौकरी भी कर लेते थे और उनकी गतिविधियों को अपने राजा को भेजते रहते थे। इन गुप्तचरों की शुद्धता की जांच करने के लिए अन्य गुप्तचर भी नियुक्त किये जाते थे, जो देखते थे कि वे शत्रु पक्ष से मिल तो नहीं गये।

इसी से मिलती-जुलती संस्थायें आज भी बड़े-राष्ट्रों ने स्थापित कर रखी हैं। इसे 'एस्पायनेज' कहा जाता है। विशेषकर रूस और अमेरिका के जासूस आजकल संसार के सारे देशों में कार्यरत हैं और कुछ तो इनके 'डबल-एजेंट' हैं, यानी एक देश के गुप्तचर होते हुए दूसरे देश की गुप्तचर संस्था में प्रवेश करते हैं।

जैसा चाणक्य ने कहा है, गुप्तचर लोग आज भी देश के शासन की आंखों का काम करते हैं।

जीविभिस्तस्मिन्नाजीवेत् ।।४७१।।

जिस प्रकार प्राणी जीते हैं उस प्रकार न जिये ।।४७१।।

कहते हैं फारस के एक बादशाह ने अपने देश के एक विद्वान से निवेदन किया कि मनुष्य जाति का इतिहास लिखकर लाये। विद्वान ने कई वर्षो के परिश्रम से इतिहास के हजारों पृष्ठ लिखे और उनकी जिल्दें बंधवा कर ऊंट गाड़ी में लादकर बादशाह के पास ले गया। बादशाह ने जब यह अम्बार देखा तो बोला : इतना बड़ा ग्रन्थ पढ़ने की फुरसत नहीं मिलेगी, इसे छोटा करके लाओ। विद्वान ने बहुत-सा मसाला काट दिया और बाकी की जिल्दें ऊंट पर लाद कर ले गया। बादशाह ने कहा। मुझे इसे भी पढ़ने की फुरसत नहीं। तब विद्वान ने

भारवि की उक्ति है :

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमानः ।
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति लोकपंक्तिः ।।

कालक्रम के अनुसार संसार में परिवर्तन होते रहते हैं । परन्तु लोगों की भीड़ गाड़ी के पहिए की लीक के समान चलती है । एक दोहा है :

लीक लीक गाड़ी चले लीकहि चलै कपूत ।
लीक छांडि तीनों चलैं सायर सिंह सपूत ।।

गाड़ी हमेशा लीक पर चलती है । इसी प्रकार कपूत भी लीक पर चलता है, अर्थात जो ढर्रा बन गया है, उसी पर चलता रहता है । उसमें अपने आप पहल करने की या नये रास्ते पर चलने की योग्यता नहीं होती । परन्तु शूरवीर, सिंह और सपूत सदा लीक छोड़कर चलते हैं ।

इसी को भीड़ मनोवृत्ति भी कहते हैं । इसकी मिसालें अक्सर सामने आती रहती है । आजकल जरा-जरासी बात को लेकर प्रदर्शन, रैलियां, जुलूस, वगैरा मामूली बातें हो गयी हैं । घोषणाएं तो ये की जाती है कि ये शान्तिपूर्ण होंगे और हिंसा की कोई वारदात नहीं होगी । लेकिन होता यह कि भीड़ हिंसा पर उतारू हो जाती है । मारपीट, लूटपाट और आगजनी की घटनाएं हो जाती हैं । इसका कारण यह है कि भीड़ में कोई एक आदमी बेकाबू हो जाता है और उपद्रव करने लगता है तो सब लोग वैसा व्यवहार करने लगते हैं ।

ऐसा भी देखा गया है कि कोई आदमी झूठी अफवाह उड़ा देता है कि फलां जगह ऐसा हो रहा है, तो लोग बिना सोचे विचारे उधर को भागने लगते हैं और एक तमाशा बन जाता है । पूछो तो भागने का कारण कोई नहीं बताता । बस, भेड़ चाल चलने लगते हैं ।

इसलिए यह भेड़ चाल एक तरफ तो मूर्खता की निशानी है, दूसरी तरफ खतरनाक भी होती है । इसकी वजह से उपद्रवों में कितने ही लोगों की जानें चली जाती हैं ।

दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा ।।४७०।।

गुप्तचरों की आंखों से राजा दूर की भी बातें देख लेता है ।।४७०।।

इस सूत्र से पता लगता है कि चाणक्य कितना महान राजनीतिज्ञ था । उसने गुप्तचरों यानी जासूसों को राज्य शासन का एक महत्वपूर्ण अंग माना है । आज के युग में हरेक बड़े राष्ट्र ने संसार भर में अपने-अपने जासूसों का जाल

कुछ लोगों की आदत होती है कि जो उन्हें जीविका देता है, उसी की निन्दा करते हैं। यानी जिस थाली में खाते हैं उसी में छेद करते हैं। इसे नमक हरामी भी कह सकते हैं। ऐसा व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता।

आजकल सब तरफ अधिकारों की चर्चा है और इन्हीं का शोर मचाया जाता है। मानो अधिकार कोई निरपेक्ष चीज है। अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी जुड़ा रहता है और इन दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध होता है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। परन्तु कर्त्तव्यों की बात कोई नहीं करता। श्रमिक वर्ग की मांग है कि उसे जीवन निर्वाह का वेतन तथा जीवन की सारी सुविधाएं मिलनी चाहिए। पर जब उनसे कहा जाता है कि तुम पूरी शक्ति से काम करके उत्पादन बढाओ, तो कहते हैं यह हमारी जिम्मेदारी नहीं, हमारा कर्त्तव्य नहीं। उनकी मांगें पूरी नहीं की जातीं तो वे नियोजकों को गालियां देते हैं। दूसरी तरफ बहुत से नियोजक भी महसूस नहीं करते कि उनके अधीन काम करने वालों के प्रति उनका क्या कर्त्तव्य है। उनकी जीविका भी तो कर्मचारियों पर निर्भर होती है।

इसलिए मालिक और मजदूर, दोनों को एक दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए क्योंकि दोनों की जीविकाएं अन्योन्याश्रित होती हैं। निन्दा की बजाय अपने झगड़े या मतभेद सद्भावना से निबटाने चाहिए, ताकि संघर्ष की नौबत न आने पावे। संघर्ष भी अनिवार्य हो, तो सिद्धान्तों को लेकर लड़ना चाहिए, गाली-गलौच का सहारा नहीं लेना चाहिए। हाय-हाय या मुर्दाबाद के नारे लगाने से समस्याएं हल नहीं होतीं, बल्कि वैमनस्य बढ़ता है।

तपः सार इन्द्रियनिग्रहः ।।४७३।।

इन्द्रियनिग्रह सारे तपों का सार है ।।४७३।।

'तप' शब्द का अर्थ है उष्णता या गर्मी। व्रत, अनुष्ठान आदि यज्ञाग्नि के सामने बैठकर किये जाते हैं। योग की साधना खुले में बैठकर की जाती है, चाहे जितनी कड़ी धूप या सर्दी पड़ रही हो। इसलिए तप का लाक्षणिक अर्थ हो गया किसी व्रत, अनुष्ठान या साधना के लिए शरीर को कष्ट देना। ऐसी साधना 'तपस्या' हो गयी और साधक 'तपस्वी' कहलाने लगे।

इन्द्रिय-निग्रह के बारे में पिछले कई सूत्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है। मनु ने इन्द्रिय-निग्रह को धर्म का एक लक्षण बताया हैं। इन्द्रिय-निग्रह अर्थात इन्द्रियों को वश में करना अपने आप में एक तप है क्योंकि इसकी साधना बहुत कष्टपूर्ण होती है। इन्द्रिय-निग्रह को सारे तपों का सार-इसलिए कहा है कि इन्द्रियों को वश में वही साधक कर सकता है जिसने अपने मन को वश में कर

यदि ऐसा भय दिखाने पर भी अधिकारी उसकी बात से सहमत न हो, तो उसे शुद्ध समझना चाहिए, अन्यथा अशुद्ध ।

जो अधिकारी धर्मोपधा से शुद्ध प्रमाणित हो जाय, उसे न्याय के काम में लगाना चाहिए । अर्थोपधा से शुद्ध अधिकारी को कर-संग्रह के कार्य में लगाना चाहिए । कामोपधा की परीक्षा में खरे उतरने वाले को अंतःपुर, विहार आदि का अध्यक्ष बनाना चाहिए । जो भयोपधा से शुद्ध सिद्ध हुआ हो, उसे राजा विश्वासपात्र मानकर महत्वपूर्ण कार्य सौंपे ।

जिन अधिकारियों की चारों विधियों से परीक्षा कर ली गयी हो, उन्हें ही अमात्य या मंत्री के पद पर नियुक्त करे । अशुद्ध प्रमाणित होने वालों को छोटे पदों पर नियुक्त कर दे ।

अर्थशास्त्र में गुप्तचरों की पांच संस्थाओं का वर्णन है ।

कापटिक : ये गुप्तचर विद्यार्थी का कपटवेश धारण करक विचरण करते थे । राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्रों का पता लगाना और उनकी सूचना देना इनका काम था ।

उदास्थित : ये गुप्तचर सन्यासी के वेश में गांवों के वाहर मठ बनाकर रहते थे । इनका काम किसानों की गतिविधियों पर नजर रखना होता था ।

गृहपतिक : ये गुप्तचर गृहस्थ होते थे और राज्य की ओर से उन्हें गुप्त रूप से जीविका प्रदान की जाती थी । ये लोग राजा के पक्ष में प्रचार करते थे ।

वैदेहक : ये गुप्तचर वैश्यों के व्यापार स्थानों में रहते थे और उनकी गतिविधियों की सूचना देते थे ।

तापस : इस श्रेणी के गुप्तचर तपस्वी के वेश में कापटिक छात्रों के साथ नगर के पास रहते थे । ये तपस्या का आडम्बर रचकर जनता का विश्वास प्राप्त करते थे । कापटिक छात्र भिक्षा मांगने के वहाने नगर में जाते थे और तापस गुप्तचर के बारे में प्रसिद्ध करते थे कि वह सिद्ध योगी और भविष्यवक्ता है । लोग अपना भविष्य पूछने इसके पास आते थे तब वह वातों-वातों में उनके मन के भेदों का पता लगा लेता था ।

इन पांच संस्थाओं के अलावा चार अन्य प्रकार के गुप्तचरों का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है ।

सत्री : अंगविद्या (हस्तरेखा–विज्ञान), जंभक विद्या (वशीकरणमंत्र) और निमित्त ज्ञान (शकुन शास्त्र) में पारंगत ये गुप्तचर प्रजा की राजा के प्रति वफादारी का परिचय प्राप्त करते थे ।

तीक्ष्ण : ये गुप्तचर अत्यन्त वलवान और शूरवीर होते थे तथा राजा की सेवा में अपने प्राण तक निछावर करने को तत्पर रहते थे ।

ये पांचों सूत्रों नारी जाति से संबंध रखते हैं। इनको पढ़कर यह धारणा बनाना स्वाभाविक है कि प्राचीन काल में स्त्रियों को नीची निगाह से देखा जाता था और उनको अनिष्ट की जड़ समझा जाता था। इसका कारण यह बताया जाता है कि समाज की व्यवस्था पुरुष-प्रधान थी।

आज तो नारी-मुक्ति आन्दोलन के समर्थकों का कहना है कि स्त्रियां किसी बात में भी पुरुषों से कम नहीं। जो काम पुरुष कर सकते हैं, वही स्त्रियां भी कर सकती है। लिंग-भेद कोई महत्व नहीं रखता।

इस संबंध में आधुनिक यौन-विज्ञान के विशेषज्ञ बहुत अनुसंधान कर रहे हैं। वे इस नतीजे पर पहुंच गये है कि सभी प्राणियों में नर और मादा का लिंग भेद प्राकृतिक है। प्रकृति ने ही इनके शरीरों की रचना में भेद कर दिया है। यह भेद 'होर्मोन्स' के कारण है। 'होर्मोन्स' शरीर की कुछ विशेष ग्रन्थियों के स्राव होते हैं। कुछ होर्मोन नर प्रकृति के होते हैं और कुछ मादा प्रकृति के। अगर नर होर्मोन्स के इन्जेक्शन किसी स्त्री के शरीर में लगाये जायें, तो उसके शरीर की रचना तथा स्वभाव में पुरुषों जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

साथ ही कुछ यौन-वैज्ञानिकों की यह भी मान्यता है कि संस्कारों का भी प्रभाव पड़ता हैं। आज नर और नारी के बीच का भेद संस्कारों के कारण कम होता जा रहा है।

प्राचीन काल के मनीषियों ने अनुभव किया होगा कि स्त्रियों का मन चंचल होता है और जब वे कामातुर हो जाती हैं, तो पर-पुरुष गमन पर भी उतारू हो जाती हैं। इसी बात को लक्ष्य करके कहा गया था : 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' अर्थात् जब कोई मनुष्य चाहे पुरुष हो या स्त्री, कामातुर हो जाता हैं तब उसे न किसी का डर रहता और न लज्जा रहती है। यह प्रवृत्ति आज भी देखने में आती है। कामातुर पुरुषों के आचरण प्रकाश में आते रहते हैं, परन्तु कामातुर स्त्रियों के आचरण प्रकाश में नहीं आते। यह भी कहा जाता है कि बलात्कार के कुछ मामले बनावटी होते हैं और कोई अकेला पुरुष किसी स्त्री से बलात्कार नहीं कर सकता।

इसलिए चाणक्य ने चेतावनी दी है कि जो मनुष्य सब प्रकार के अनिष्टों से बचना चाहता हो, उसे स्त्रियों में आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

यज्ञफलज्ञास्त्रिवेद विदः ॥४७९॥

तीनों वेदों के विद्वान यज्ञों के फलों को जानते हैं ॥४७९॥

वेदों की ऋचाएं पद्य, गद्य और गान के रूप में हैं। महर्षि वेद व्यास ने इन ऋचाओं को तीन संहिताओं में बांट दिया था। ऋग्वेद पद्यमय है, यजुर्वेद गद्यमय है और सामवेद गानमय है। इसलिए ये तीन वेद ही मुख्य माने जाते हैं।

और काट-छांट की और जिल्दें गधे पर लादकर ले गया । वादशाह ने कहा : अव मेरी जिन्दगी के थोड़े ही दिन रह गये हैं, सो इन्हें भी नहीं पढ़ सकूंगा । और कम करके लाओ । विद्वान ने तव सारा इतिहास एक जिल्द में भर दिया और वादशाह के पास ले गया । उस समय वादशाह मृत्युशय्या पर पड़ा था । उसने कहा : मैं तो कुछ ही दिनों का मेहमान हूं । तुम तो मुझे वहुत संक्षेप में मनुष्य जाति का इतिहास वता दो, ताकि मेरी साध पूरी हो जाये । यह सुनकर विद्वान ने कहा—मैं एक वाक्य में मनुष्य जाति का सारा इतिहास वयान कर देता हूं : उन्होंने जन्म लिया, जीवन विताया, आनंद भोगे, मुसीवतें झेलीं और दुनियां से कूच किया ।

वास्तव में इस संसार में अधिकतर साधारण लोगों के जीवन की यही कहानी है । जन्म से मृत्यु तक आमतौर पर सवका जीवन एक ही ढर्रे पर चलता है, उसमें कोई विशेषता नहीं होती ।

ऐसे वहुत कम लोग होते हैं जो साधारण चर्या से ऊपर उठकर महान कार्य करते हैं और अपना नाम छोड़ जाते हैं । कीर्तिः यस्य स जीवतिः । जीने को तो पशु–पक्षी तथा अन्य सारे प्राणी भी जीते हैं । यदि मनुष्य भी उसी तरह व्यवहार करे तो उसमें तथा अन्य प्राणियों में कोई भेद नहीं रहता ।

इसलिए इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को केवल जिन्दा रहने के लिए नहीं जीना चाहिए, वल्कि अपने जीवन को किसी न किसी रूप में सार्थक वनाना चाहिए । इस लोक में समानता का प्रयास करना चाहिए और साथ में आध्यात्मिक उन्नति भी करनी चाहिए ।

यामनुजीवेत्तं नापवदेत् ॥४७२॥

जिसके सहारे जीता हो, उसकी निन्दा नहीं करे ॥४७२॥

जीने से तात्पर्य जीविकोपार्जन से है । प्रत्येक मनुष्य को अपनी जीविका यानी रोजगार के लिए किसी न किसी के आश्रय में या अधीन रहना पड़ता है । नौकरी पेशा लोग किसी एक आदमी के या किसी संस्था या संगठन के या सरकार के या किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान के अधीन होते हैं । पूंजीपतियों, उद्योगपतियों तथा वड़े-वड़े व्यापारियों को भी किसी न किसी रूप में दूसरे लोगों से सहायता या सहयोग लेना पड़ता है । समाज तो सव मनुष्यों को आश्रय देता है । यदि कोई मनुष्य ऐसा दावा करता है कि उसने अपने खुद के प्रयत्न और परिश्रम से सव कुछ प्राप्त किया है और उस पर किसी का एहसान नहीं, तो उसका यह घमंड मिथ्या होता है ।

हैं। कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप कोई स्वाध्यायरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं।

इसलिए चाणक्य के इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदों में वर्णित ज्ञान तथा विज्ञान के ज्ञाता प्रत्येक यज्ञ का फल जानते हैं अर्थात् यह जानते हैं कि प्रयोगों के द्वारा दैवी शक्तियों को किस प्रकार उपयोगी वनाया जा सकता है।

स्वर्गस्थानं न शाश्वतम् ।।४८०।।

यावत्पुण्यफलं तावदेव स्वर्गफलम् ।।४८१।।

न च स्वर्गपतनात् परं दुःखम् ।।४८२।।

स्वर्ग के सुख का स्थान सदा नहीं रहता ।।४८०।।

जब तक पुण्य फल देते हैं, तब तक ही स्वर्ग का फल मिलता है ।।४८१।।

स्वर्ग से गिरने से बड़ा कोई दुख नहीं ।।४८२।।

स्वर्ग का शब्दार्थ है, 'स्वर्यते, गीयते इति स्वर्गः', अर्थात् जिस स्थान की प्रशंसा की जाये या गान किया जाये वह स्वर्ग है। जहां मनुष्य को सव प्रकार के सुख प्राप्त हों, उसे भी स्वर्ग कहा जाता है। हिन्दू मान्यता के अनुसार स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है।

लगभग सभी धर्मों, मजहवों और संप्रदायों में स्वर्ग और नरक की कल्पना है। मरने के वाद मनुष्यों की आत्माएं अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाती हैं।

पुण्यात्माएं स्वर्ग में जाती हैं और पापात्माएं नरक में। ईसाइयत और इस्लाम की मान्यता है कि मरने के वाद आत्मा कब्रों में पड़ी रहती है। कयामत के दिन सव जी उठती हैं और उनका न्याय होता है। नेक काम करने वाले जन्नत, वहिश्त या हैवन में भेज दिये जाते है और वदकार लोग जहन्नुम या हैल में।

वैदिक तथा श्रमण मान्यताओं के अनुसार आत्मा अमर है और कर्मों के अनुसार वार-वार जन्म लेती रहती है। यह सिलसिला त्व तक चलता रहता है जब तक आत्मा सारे कर्म-वंधनों से मुक्त होकर निर्वाण, कैवल्य या मोक्ष न प्राप्त करे। दूसरा मत यह है कि स्वर्ग कोई स्थान नहीं, वल्कि इस लोक में ही है। सव सुखों की प्राप्ति स्वर्ग है, और दुखों का जीवन नरक है।

लिया हो और चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लिया हो। पातंजल योग का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है : 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' अर्थात चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।

जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, उसे तप करने की आवश्यकता नहीं रहती और इन्द्रिय-निग्रह के बिना कोई तप सफल नहीं होता। कहा है :

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः।
अनुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

विषयानुरागी जन वन में रहते हुए भी दोषों के प्रभाव में आ जाते हैं। किन्तु पांचों इन्द्रियों का निग्रह घर में रहकर भी तप के समान होता है। जो मनुष्य अनासक्त होकर काम करता है और विषयानुराग अर्थात विषय-भोगों से निवृत्त हो जाता है, उसका घर ही तपोवन बन जाता है।

महात्मा गांधी ऐसे ही तपस्वी थे, और आजकल के अनेक साधु-सन्यासी विषय-भोगों में लिप्त रहकर तपस्या का ढोंग करते हैं। कुंभ के मेलों में अनेक साधु-सन्यासी मिलते हैं जो सदा दोनों टांगों पर या एक टांग पर खड़े रहते हैं या हाथ को हमेशा ऊंचा रखकर उसे सुखा देते हैं, या बड़ी-बड़ी नोकदार कीलों की शैया पर सोते हैं, या आग के सामने बैठ कर धूनी रमाते हैं। लोग इन्हें महान तपस्वी समझते हैं, परन्तु वास्तव में इन शारीरिक कष्टों से तप का कोई सम्बन्ध नहीं।

दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः ॥४७४॥

स्त्रीनाम सर्वाशुभानां क्षेत्रम् ॥४७५॥

न च स्त्रीणां पुरुष परीक्षा ॥४७६॥

स्त्रीणां मनः क्षणिकम् ॥४७७॥

अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः ॥४७८॥

स्त्री के बंधन से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है ॥४७४॥
स्त्री सारे अशुभों (बुराइयों) का क्षेत्र होती है ॥४७५॥
पुरुष स्त्रियों को नहीं पहचान सकता ॥४७६॥
स्त्री का मन चंचल होता है ॥४७७॥
जो अपना अशुभ नहीं चाहता उसे स्त्री में आसक्त नहीं होना चाहिए ॥४७८॥

पुराण में आख्यान है कि एक बार नारद को दुखी जीवों पर बहुत दया आयी तो उसने भगवान से शिकायत की। भगवान ने उससे कहा कि कोई भी जीव दुखी नहीं, सब अपने-अपने हाल में मस्त है। चाहो तो परीक्षा करलो।

नारद मृत्युलोक में आकर एक सूअरिया के पास गया। जो मल-मूत्र में लोट रही थी। नारद ने उससे कहा : तू यहां गंदगी में क्यों लोट रही है और गंदगी क्यों खाती है। चल, तुझे स्वर्ग में पहुंचा दूं। सूअरिया ने जवाब दिया : मैंने अभी बच्चे डाले हैं, इनको कौन पालेगा ? आप फिर कभी आना।

इस असद्-आख्यान का तात्पर्य यही कि मरना कोई भी नहीं चाहता, भले ही उसे स्वर्ग का या स्वर्ग का राजा बनाने का प्रलोभन दिया जाये।

अपने शरीर से सब प्राणियों को मोह होता है और वे उसे छोड़ना नहीं चाहते। प्रकृति ने भी अनेक जीवों को जीवन-रक्षा के साधन प्रदान कर रखे हैं। किसी को डंक किसी को जहर, किसी को भयानक रंग-रूप, किसी को पर्यावरण से मिलते-जुलते रंग, किसी को पेड़-पौधों के पत्तों जैसा रूप, किसी को कवच जैसा शरीर वगैरा दिये हैं ताकि वे शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकें।

दुःखानामौषधं निर्वाणम् ।।४८४।।

दुखों की औषधि निर्वाण है ।।४८४।।

उपनिषदों में और गीता में 'निर्वाण' तथा 'ब्रह्मनिर्वाण' शब्दों का प्रयोग हुआ है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण ही आत्मा का चरम उद्देश्य और अन्तिम स्थान माना गया है। जैन दर्शन में इसी को कैवल्य कहा गया है। 'मुक्ति' और 'मोक्ष' शब्द भी इसी के पर्याय हैं। कुछ मजहबों में स्वर्ग की कल्पना भी निर्वाण के ही समान है।

निर्वाण आत्मा की वह स्थिति है जिसमें सारी वेदनाएं, सारे दुख, सारी चिन्ताएं परिसमाप्त हो जाते हैं और आत्मा वह परम आनंद प्राप्त करती है जिसके बारे में गीता में कहा है :

सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ।।

जहां (आत्मा को) ऐसे अत्यन्त सुख का अनुभव होता है जो केवल बुद्धि का विषय है और इन्द्रियों के अनुभव से परे है। जहां वह एक बार स्थिर होने पर फिर तत्व से कभी नहीं डिगता।

वैदिक परम्परा के छहों दर्शनों–सांख्य, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, योग तथा वेदान्त–सबका एक ही तात्पर्य है : अतिशय दुख की निवृत्ति तथा निरतिशय

वेदों के बारे में विस्तार से लिखा जा चुका है। वेद में यज्ञों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और इनके तीन रूप हैं : आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। इस दृष्टि से यज्ञ शब्द की परिभाषा भी बहुत व्यापक है। आजकल केवल अग्निहोत्र अर्थात हवन को ही यज्ञ की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यह तो यज्ञ का केवल एक प्रकार है।

'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से व्युत्पन्न है। इस शब्द का प्रयोग यजन, पूजन, सम्मिलित विचार, वस्तुओं का वितरण, बदले के काम, आहुति, बलि, चढ़ावा आदि अर्थों में होता है। आधुनिक अर्थ में यज्ञ को वैज्ञानिक प्रयोग अथवा व्यावहारिक विज्ञान भी कह सकते हैं।

गीता के तीसरे और चौथे अध्यायों में यज्ञ का जो वर्णन है उसमें यज्ञ के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला गया है :

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः।
यज्ञाद्भवतिपर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

आरंभ में यज्ञ के साथ-साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने कहा : इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हारी कामधेनु हो अर्थात् तुम्हारी इच्छाओं को पूरी करने वाला हो।

प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न मेघ से उत्पन्न होता है। मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।

कांक्षतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रंहि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

कर्मफल की इच्छा करने वाले लोग देवताओं का यजन करते हैं और उन्हें कर्मों के फल इसी लोक में मिल जाते हैं।

इन श्लोकों का वैज्ञानिक अर्थ यह है कि आरंभ में ब्रह्मा ने मनुष्यों को विज्ञान के प्रयोग बताये। अग्नि, वायु, विद्युत् आदि देवता हैं। वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा इन्हें सिद्ध करके मनुष्य अपनी इच्छाएं पूरी कर सकते हैं।

यज्ञ के विभिन्न स्वरूपों का गीता में वर्णन किया गया है। कहा है :

कोई योगी देवता आदि के उद्देश्य से यज्ञ किया करते हैं। कोई श्रोत्र आदि इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में होम करते हैं और कुछ लोग इन्द्रियरूपी अग्नि में शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं। कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम रूपी योग की अग्नि में हवन करते

इसके विपरीत अनार्य अर्थात नीच मनुष्य की मित्रता भी धोखे की टट्टी होती है। अपने स्वार्थ के लिए या अपने दुष्ट स्वभाव के कारण वह मित्र को भी हानि पहुंचा सकता है।

इसी आशय की कहावत है 'नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा होता है।' नादान दोस्त दगा दे सकता है, लेकिन दाना यानी समझदार दुश्मन दगाबाज नहीं होता।

निहन्ति दुर्वचनं कुलम् ।।४८६।।

दुर्वचन कुल के गौरव को नष्ट करता है ।।४८६।।

दुर्वचन का अर्थ है अश्लील शब्द या गाली। शिष्ट और सभ्य जन कभी बुरे शब्द नहीं बोलते और गाली नहीं देते। यह असभ्य लोगों की भाषा है। इसलिए कुलीन अर्थात अच्छे कुल में उत्पन्न कुलाभिमानी मनुष्य यदि दुर्वचन बोलता है, तो उसके कुल को कलंक लगता है। दुर्वचन बोलना कायरता की भी निशानी है। जब किसी का किसी पर वस नहीं चलता, तो वह उसे गालियां देने लगता है। इस सम्बन्ध में पिछले एक सूत्र की व्याख्या में भगवान बुद्ध का उदाहरण दिया जा चुका है।

न पुत्रसंस्पर्शात् परं सुखम् ।।४८७।।

पुत्र के प्रेम से बढ़कर कोई सुख नहीं ।।४८७।।

जिस मनुष्य को अपने पुत्र का प्रेम प्राप्त होता है, वह वास्तव में सुख का अनुभव करता है। पिता से प्रेम करने वाला पुत्र आज्ञाकारी होता है और पिता की सब प्रकार से सेवा-शुश्रूषा करता है। वृद्धावस्था में तो पुत्र ही मनुष्य का सहारा होता है। परन्तु यह प्रेम एकपक्षीय नहीं होता। पिता भी प्रेम का पात्र तभी होता है जब वह पुत्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। पुत्र के प्रति पिता के प्रेम को वात्सल्य कहते हैं और पिता के प्रति पुत्र का प्रेम श्रद्धा कहलाता है।

चाणक्य नीति में पिता–पुत्र के संबंधों के बारे में कई श्लोक हैं :

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यश्च संतुष्टः तस्य स्वर्ग इहैव हि ।।
ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निवृतिः ।।

जिस मनुष्य का पुत्र वश में हो, पत्नी आज्ञाकारिणी हो, और जो अपने वैभव से संतुष्ट हो, उसके लिए इस पृथिवी पर ही स्वर्ग है।

स्वर्ग का सुख सदा नहीं रहता। जितना पुण्य किया हो, उतना ही मिलता है। पुण्य का फल समाप्त होने पर फिर साधारण अवस्था हो जाती है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'। इसका अर्थ यह है कि इस लोक में जो मनुष्य सुख भोग रहे हैं, वह उनके पूर्व जन्म के पुण्य कर्मों का फल है। यदि वे पुण्य कर्म करते रहें तो अगले जन्म में भी वैसा ही सुख मिलेगा, अन्यथा दुख उठाना पड़ेगा। अक्सर देखने में आता है कि कुछ लोग जीवन के एक भाग में खूब उन्नति करते हैं और सुखी तथा समृद्ध हो जाते हैं। परन्तु अन्त में सारी सुख-समृद्धि नष्ट हो जाती है और घोर दुख उठाते हैं।

कर्म विपाक के सिद्धान्त के अनुसार इसका कारण यही है कि उनके पुण्य कर्मों का जितना फल मिलना चाहिए था, वह उनको मिल गया। बाद में पूर्व जन्म से किये गये पाप कर्मों के फल का उदय हुआ। इसी को स्वर्ग से पतन कहा जाता है और इससे बड़ा दुख कोई नहीं होता। सुख के बाद दुख वास्तव में घोर कष्टदायक होता है।

देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वाञ्छति ।।४८३।।

देहधारी अपने शरीर को त्याग कर इन्द्र का पद नहीं चाहता ।।४८३।।

यह जानी-मानी बात है कि कोई भी प्राणी, चाहे वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा, मरना नहीं चाहता। प्रत्येक प्राणी मृत्यु से डरता है। मृत्यु के इस डर को योगशास्त्र में अभिनिवेश नामक क्लेश कहा है।

अन्य जीवों या प्राणियों को छोड़कर केवल मनुष्य जाति को ही लें, तो यह देखने में आता है कि कोई मनुष्य चाहे जितने संकट में हो, उसका शरीर चाहे जितना जर्जर, रोगग्रस्त, अपंग या निष्काम हो गया हो, तो भी वह जिन्दा रहना चाहता है। अगर उससे कहा जाये कि मरने के बाद तुझे स्वर्ग का और देवताओं का राजा इन्द्र बना देंगे, तो भी वह मरने को तैयार नहीं होगा।

किस्सा है कि कोई बहुत बूढ़ा लकड़हारा एक दिन जंगल में लकड़ियां काट कर उनका गट्ठर बांध चुका तो भारी गट्ठर उससे उठा नहीं। उसने दुखी होकर कहा : ऐसी जिन्दगी से तो मौत आ जाती तो अच्छा था। उसकी यह बात सुनकर मौत उसके सामने आकर खड़ी हो गयी और बोली : तूने मुझे बुलाया है, चल, मैं तुझे ले चलती हूं। मौत को सामने देखकर लकड़हारा घबरा गया और बोला : मैंने तो तुझे इसलिए बुलाया था कि यह गट्ठर मेरे सिर पर रखवा दे।

अभियोग या मुकदमे में यह नियम वादी, प्रतिवादी तथा न्यायपाल, तीनों पर लागू होता है। मुकदमा लड़ने वाले दोनों पक्षों को अनीति से बचना चाहिए, जैसे झूठी गवाहियां दिलवाना या जाली दस्तावेज वगैरा पेश करना या तथ्यों को छिपाना या तोड़–मरोड़ कर पेश करना। न्याय करने वाली अदालत को भी पक्षपात रहित होकर न्याय करना चाहिए। दबावं में आकर या घूस खाकर या लिहाज-मुलाहिजे में आकर गलत फैसला नहीं देना चाहिए।

कहना न होगा कि अब तो क्या युद्ध में, क्या वाद-विवाद में और क्या मुकदमों में सभी तरह के अनुचित उपायों का सहारा धड़ल्ले के साथ लिया जाता है। और अब तो तथाकथित छापामारों और आतंककारियों ने सारी मर्यादाओं को नष्ट कर दिया है। निर्दोष और निरीह स्त्रियों और बच्चों की हत्या करने में उन्हें संकोच नहीं होता, बल्कि बड़े ठाठ से इनकी जिम्मेदारी कबूल करते हैं।

निशान्ते कार्यं चिन्तयेत् ॥४८९॥

निशान्त में अपने कार्यों के बारे में सोच–विचार करे ॥४८९॥

निशान्त शब्द के तीन अर्थ है : रात्रि का अन्त अर्थात् चौथा प्रहर जिसे ब्राह्म मुहूर्त भी कहते हैं, ऐसा स्थान जहां अत्यन्त शान्ति हो, तथा घर।

सवेरे से पहले रात के अन्तिम पहर में जब मनुष्य नींद पूरी कर लेता है, तब उसकी सारी थकावटें दूर हो जाती हैं और उसका मन, उसकी बुद्धि और उसकी इन्द्रियां स्थिर तथा शान्त होती हैं। ऐसे समय में मनुष्य अपने अगले दिन के कार्यों पर स्थिर और शांत चित्त से विचार कर सकता है। उस समय वातावरण भी शान्त तथा अपेक्षाकृत शुद्ध होता है जिससे चिन्तन में सहायता मिलती है। इस समय अध्ययन, उपासना, जप आदि भी एकाग्रमन होकर किये जा सकते हैं। विद्यार्थियों के लिए तो यह समय सबसे अधिक उपयोगी होता है। मनुस्मृति कहती है :

> ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत् धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
> कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

ब्राह्म मुहुर्त्त में जागकर विचार करे कि शरीर को कष्ट न देकर किस प्रकार धर्म और अर्थ प्राप्त होगा तथा वेद का तात्विक अर्थ क्या है।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को सबसे पहले तो अपने शरीर के बारे में सोचना चाहिए कि वह निरोग रहे क्योंकि 'धर्मार्थ काम मोक्षाणां आरोग्यं मूल कारणम्' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों को

सुख की प्राप्ति। इनमें चार पदार्थों की विवेचना है : हेय, हेय हेतु, ह्वान और ह्वानोपाय। इस संसार में हेय अर्थात त्याज्य क्या है और उसका क्या कारण है। इस हेय से निवृत्ति क्या है और उसका क्या उपाय है। हेय अर्थात त्याज्य केवल दुख है। इसी की निवृत्ति को निरतिशय सुख अथवा मोक्ष कहा है। मोक्ष अथवा मुक्ति का अर्थ है सब प्रकार के दुखों से छुटकारा।

छान्दोग्य उपनिषद में कहा है : 'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' अर्थात मोक्षावस्था में प्रिय और अप्रिय अर्थात सुख और दुख का स्पर्श नहीं होता।

बुद्ध ने अपने प्रवचनों में लोगों को यही समझाया कि मनुष्यमात्र दुखी हैं, उनके दुख अकारण नहीं, इसलिए इनका निरोध हो सकता है। दुख आर्य सत्य है, दुख निरोध आर्य सत्य है और दुखों से छूटने का मार्ग भी आर्य सत्य है।

जैन आगम 'आयारो' (आचरण सूत्र) में कहा है :

जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति।

इस संसार में मनुष्यों के दुख विदित हैं। कुशल पुरुष (तीर्थंकर) उस दुख का विवेक बतलाते हैं।

निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करने के अलग-अलग मतानुसार आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तपस्या, भक्ति, अनासक्त कर्म आदि साधन हैं।

अनार्यसंबंधादूरमार्य शत्रुता ॥४८५॥

अनार्य की मित्रता से आर्य की शत्रुता आदर के योग्य है ॥४८५॥

आर्य शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ जन के लिए किया जाता था। श्रेष्ठजन वह होता है जिसका आचरण श्रेष्ठ हो। इसलिए जो अनाचारी या दुराचारी हो, धर्म का पालन न करता हो, उसे अनार्य कहा जाता था।

आर्य की शत्रुता को अनार्य की मित्रता से बेहतर इसलिए कहा गया है कि आर्य अर्थात श्रेष्ठजन शत्रु हो, तो भी ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा जो धर्म-विरुद्ध हो, यानी वह ऐसी हरकत नहीं करेगा जिसे पीठ में छुरा भोंकना कहते हैं। शत्रु से बदला लेने या उसे परास्त करने की भी नैतिक सीमाएं होती हैं। जैसे, अगर शत्रु किसी विपदा से ग्रस्त हो, या रोगग्रस्त हो, या ऐसी स्थिति में हो कि वह अपना बचाव न कर सके, तो ऐसी दशाओं में उस पर प्रहार करना अनुचित है। एक पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया है कि शत्रु की भी आजीविका का हरण नहीं करना चाहिए।

प्रदोष काल में संभोग स्वास्थ के लिए हानिकारक होता है। दो पहर रात्रि तक शाम का भोजन पच जाता है और नींद के बाद दिन भर की थकावट भी दूर हो जाती है।

आधुनिक सभ्यता के अनेक रोग कुछ तो विज्ञान के अभिशाप हैं और कुछ आहार-विहार में दोषों के कारण हैं। सभ्य कहलाने वाले लोग न तो समय पर सोते हैं और न आहार-विहार में संयम रखते हैं। उधर आधुनिक उद्योगों तथा वैज्ञानिक यंत्रों और उपकरणों से जल-वायु का भयंकर प्रदूषण हो रहा है। इन बातों पर सबसे अधिक ध्यान देने की बजाय नये-नये रोगों के उपचार के लिए नयी-नयी दवाओं की खोज हो रहीं हैं। हमारे देश की सरकारें बड़े गर्व के साथ घोषणाएं करती हैं कि गांव-गांव में चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध करादी जायेगी। इस रवैये पर किसी शायर का कलाम याद आता है :

ये तर्ज एहसान करने का तुम्ही को जेब देता है।
मर्ज में मुब्तला करके मरीजों को दवा देना ॥

उपस्थिति विनाशी दुर्नयं मन्यते ॥४६१॥

जिसका विनाश उपस्थित होता हैं, वह अनीति को अपनाता है ॥४६१॥

यह सूत्र तीन-सौ-बानवें संख्या के सूत्र के समान हैं। कहा है : 'प्रत्यासन्न विपत्ति मूढमनसां प्रायोः मतिः क्षीयते', अर्थात् जब कोई विपत्ति आने वाली होती है तब मूढ मनुष्य की मति भ्रष्ट होने से वह अनीति की राह पर चलने लगता है। धीर पुरुष विपत्ति में भी अविचलित रहते हैं।

पांडवों पर इतनी विपत्तियां आयीं परन्तु उन्होंने कभी कोई अनीतिपूर्ण कार्य नहीं किया। अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरी तरह निवाहा। दूसरी ओर दुर्योधन की मति भ्रष्ट हो गयी और अन्त में उसका सर्वनाश हुआ।

क्षीरार्थिनः किं करिण्या ॥४६२॥

दूध की इच्छा करने वाले के लिए हथिनी किस काम की ? ॥४६२॥

हाथी मूल्यवान पशु होता है और पुराने जमाने में हाथी पालना वैभव का चिन्ह समझा जाता था। परन्तु दूध के लिए तो लोग पहले भी और अब भी गाय या भैंस पालते हैं। हथिनी का दूध मनुष्यों के पीने लायक नहीं होता। इस सूत्र का भावार्थ यह है कि किसी प्रयोजन के लिए वही पदार्थ उपयुक्त होता है जिससे वह प्रयोजन सिद्ध हो सके। कहावत है : 'जहां काम आवे सुई, कहा करै तरवार', अर्थात् तलवार सुई का काम नहीं दे सकती।

पुत्र वही है जो पिता का भक्त हो और पिता वही है जो उसका समुचित लालन-पालन करता हो। मित्र वही है जो विश्वासपात्र हो और पत्नी वही है जो आनंद देने वाली हो।

तात्पर्य यह है कि जहां पुत्र को सुपुत्र होना चाहिए, वहां पिता को भी सुपिता होना चाहिए। पिता का वात्सल्य ही पुत्र की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है। श्रद्धावान पुत्र केवल अपने पिता को ही सुखी नहीं करता, वल्कि सारे कुल का नाम उजागर करता है।

विवादे धर्ममनुस्मरेत् ।।४८८।।

विवाद में धर्म को याद रखो ।।४८८।।

लड़ाई–झगड़ा, तर्क–वितर्क और अभियोग या मुकदमा, ये विवादों की श्रेणी में आते हैं।

कैसा भी विवाद हो, उसमें धर्म को याद रखना चाहिए। धर्म से तात्पर्य नीतियुक्त सद्–व्यवहार से है। विवाद में कोई बात ऐसी नहीं होनी चाहिए जो अनीतिपूर्ण हो।

प्राचीनकाल में युद्ध में भी नीति का पालन किया जाता था। रात में युद्ध वन्द रहता था और दोनों पक्ष एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करते थे। निहत्थों पर वार नहीं किया जाता था। युद्ध में केवल सैनिक ही लड़ते थे, वाकी जनता निरापद रहती थी। ऐसे ही कुछ अन्तर-राष्ट्रीय नियम आधुनिक युद्धों के वारे में भी थे। एक नियम यह था कि वमवारी केवल सैनिक ठिकानों पर की जाये। अस्पतालों और स्कूलों को वमवारी से वचाया जाये। परन्तु द्वितीय महायुद्ध में हिटलर ने सारे नियमों को ठोकर मार दी और 'टोटल-वार' यानी सम्पूर्ण युद्ध की घोषणा कर दी। उसका कहना था युद्धरत देशों के नागरिक भी परोक्ष रूप में युद्ध में सहायता देते हैं। तव से आधुनिक युद्धों का रूप ही वदल गया और जितना नुकसान सेना का तथा सैनिक साज-सामान का नहीं होता, उससे ज्यादा विध्वंस नगरों का होता है। यह धर्म-युद्ध नहीं वल्कि अधर्म युद्ध है।

आपसी लड़ाई-झगड़े में भी दोनों पक्षों को ध्यान में रखना चाहिए कि वरावर की हैसियत से लड़ें। ताकतवर पक्ष को विपक्ष की कमजोरी का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए।

तर्क-वितर्क के वारे में भी यह नियम लागू होता है। प्रतिपक्षी को परास्त करने के लिए छल, वितंडा, जल्प आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

संचितं क्रतुषु नोपयुज्यते प्रार्थितं गुणवते न दीयते।
तत्कदर्य परिगतं धनं चोरपार्थिव गृहेषु भुज्यते।।

अनुचित उपायों से अर्जित कृपण का धन न तो किसी शुभ कर्म में लगता है और न किसी जरूरतमंद गुणवान को दिया जाता है। उस कुधन को या तो चोर ले जाते है या राजा छीन लेता है।

इस कालेधन ने हमारे देश के समूचे समाज को दूषित कर दिया हैं। कालाधन कमाने वाले उद्योगपतियों और व्यापारियों की सन्तानें कालेधन से खूब गुलछरें उड़ा रही हैं और बिलकुल निरंकुश तथा स्वच्छंद होती जा रही हैं।

देश की राजनीति का तो कालेधन ने बंटा-ढार कर दिया है। कालेधन के सहारे पनपने वाले और चुनाव लड़ने वाले राजनीतिज्ञ और उनके हाथों में चलने वाली राजनीति भ्रष्टाचार के नावदान बन गये हैं। कालाधन कमानेवालों का सिद्ध-साधक जैसा जोड़ा बन गया है।

मजा यह है कि कालेधन पर रोक लगाने की दुहाई देने वाले खुद इसमें लिप्त हैं। चोर ही चोर-चोर की हांक लगाकर साह बनने का ढोंग रच रहे हैं।

निम्बफलं काकैर्भुज्यते ।।४९६।।

नीम का फल (निम्बोली) कौवा ही खाता है ।।४९६।।

प्राचीन काल के ऋषि-मुनि केवल अध्यात्म की साधना नहीं करते थे। विज्ञान भी उनकी साधना का विषय होता था। उन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया था और पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियों और औषधियों के गुण और स्वभाव का पता लगाया था।

निम्बोली कौवे के सिवाय और कोई पक्षी नहीं खाता। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। सिर्फ कौवा ही निम्बोली के गुण जानता है। निम्बोली की गुठलियां कौवे की बीट में परिपक्व होकर साबुत निकल आती हैं और जमीन पर गिरकर नीम के पौधे पैदा करती है। नीम जैसे गुणकारी पेड की उपज बढ़ाने के लिए प्रकृति ने यह व्यवस्था कर दी है। इस दृष्टि से कौवा प्रकृति के विधान में एक महत्वपूर्ण भूमिका निबाहता है। इसी कारण कौवा दीर्घजीवी होता है।

दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि नीम जैसे कड़वे पेड़ के फल कौवा ही खाता है। कड़वे का तात्पर्य यहां बुरी चीज से है। बुरी चीज बुरे लोग ही खाते है। इस अर्थ में इस सूत्र का संबंध इसके पूर्ववर्ती सूत्र से है जिसमें कहा गया है कि बुरों की सम्पत्ति बुरे ही भोगते हैं।

मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता हैं जब उसका शरीर स्वस्थ तथा रोग-रहित हो। फिर उसे यह सोचना चाहिए कि धर्म के अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नियमों का अपने दैनिक जीवन में किस प्रकार पालन किया जा सकता है। इसके बाद जीविका अर्थात् अर्थोपार्जन की बात सोचे कि किस प्रकार धर्मानुसार आचरण करके अपने सारे कारोबार चलाने चाहिए।

निशान्त शब्द के दूसरे अर्थ के सन्दर्भ में यह कह सकते हैं कि मनुष्य को अपने कार्यों के बारे में किसी ऐसे स्थान में बैठ कर सोचना चाहिए जहां शान्ति हो जिससे उसके चिन्तन में बाधा न पड़े। जब चारों तरफ शोर-गुल हो रहा हो तब मनुष्य शान्त चित्त से विचार नहीं कर सकता। शोर-गुल में चित्त इधर-उधर भटक जाता है। विद्याध्ययन, उपासना, जप आदि तो एकान्त में ही बैठ कर करने चाहिए।

अगर ऐसा कोई एकान्त स्थान न मिले जैसा कि आजकल शहरों में होता है, तो घर में ही कोई ऐसी जगह तलाश करनी चाहिए जहां शान्ति हो।

आजकल लोगों में जो मानसिक तनाव नजर आता है, उसका कारण यही है कि उसे शान्त चित्त से अपने कार्यों के बारे विचार करने की फुरसत ही नहीं मिलती।

आमोद–प्रमोद, सिनेमा आदि में देर रात तक जागने के कारण ब्राह्म मुहूर्त्त में उठने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। ऐसे भी लोग हैं जिन्हें सवेरे सूर्योदय के कभी दर्शन नहीं होते।

प्रदोषे संयोगः न कर्त्तव्यः ।।४६०।।

प्रदोष में संभोग नहीं करना चाहिए ।।४६०।।

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में रोगोपचार के साथ-साथ आरोग्य पर भी बल दिया गया है। उसमें आहार-विहार के ऐसे नियम हैं जिन्हें पालन करने से मनुष्य निरोग बना रहे। अंग्रेजी में इसी को कहते है : 'प्रीवेन्शन इज बॅटर दॅन क्यॉर' अर्थात् रोग का इलाज करने से बेहतर उसे रोकना है।

चाणक्य का यह सूत्र आरोग्य से ही संबंध रखता है। रात के पहले दो पहर अर्थात् सूर्यास्त के बाद छह घंटे का समय, प्रदोप काल कहलाता है। चान्द्रमास के दोनों पक्षों की त्रयोदशियों को भी प्रदोष होता है। शिव के उपासक इस दिन उपवास करते हैं।

सन्त, अर्थात सज्जन, दुर्जनों के साथ नहीं हंसते-खेलते ।।४९९।।

फारसी की एक कहावत है :

कुनद हमजिन्स बा हमजिन्स परवाज
कबूतर बा कबूतर बाज़ बा बाज़ ।

समान जाति या स्वभाव वाले अपनी ही जाति या स्वभाव वालों के साथ उड़ते हैं । जैसे कबूतर के साथ कबूतर और बाज़ के साथ बाज़ । जिस तरह कबूतर और बाज साथ-साथ नहीं उड़ते, उसी तरह भले आदमी बुरे आदमियों की संगत नहीं करते । सज्जनों का समय कर्त्तव्यपालन, परोपकार, स्वाध्याय आदि में व्यतीत होता है । दुर्जन का समय जुआ, शराबखोरी, दूसरों की निन्दा, लड़ाई-झगड़े वगैरा में बीतता है । इसलिए सज्जनों और दुर्जनों का मेल नहीं हो सकता । कहा है :

न विना परवादेन रमते दुर्जनो जनः ।
काकः सर्वरसान् भुक्त्वा विनाऽमेध्यं न तृप्यति ।।

दुर्जन लोग दूसरों की निन्दा किये बिना नहीं रहते । जैसे कौवा सारे रसों को खाकर भी विष्ठा खाये विना तृप्त नहीं होता ।

न हंसाः प्रेतवने रमन्ते ।।५००।।

हंस श्मशान में नहीं रमते ।।५००।।

हंस केवल मानसरोवर में या स्वच्छ और शुद्ध जलाशयों में रहते हैं। श्मसान में तो कुत्ते ही लोटा करते हैं ।

इस सूत्र का भाव यह है कि उत्तम जन सदा उत्तम स्थान में ही रहते हैं । कहावत है : 'कै हंसा मोती चुगें, के लंघन करि जायं,' अर्थात हंस केवल मोती चुगते हैं। मोती न मिले तो वे भूखे रह जाते हैं परन्तु दूसरी कोई चीज नहीं खाते । इसी प्रकार उत्तम पुरुष कोई नीच काम करने की अपेक्षा मर जाना बेहतर समझते हैं । कहा है :

कसुमस्तकबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ।।

मनस्वी जनों के दो ही व्यवहार होते है । या तो फूलों की पंखुड़ियों की तरह लोगों के सिर पर रहते हैं, या वन में पड़े-पड़े सूख जाते है ।

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः ।।५०१।।

सारा संसार अर्थ (धन) के लिए कर्म करता हैं ।।५०१।।

वस्तुओं का वास्तविक महत्व उनके उपयोग के अनुसार ही होता है, मूल्य या आकार चाहे जैसा हो।

न दानसमं वश्यम् ॥४९३॥

दान के समान वशीकार नहीं ॥४९३॥

दान के प्रकारों और उसकी महिमा के बारे में पिछले कई सूत्रों की व्याख्याओं में लिखा जा चुका है। यहां दान को वशीकार अर्थात् वश में करनेवाला कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य सात्विक दान करता है, अपना धन परोपकार में लगाता है, उससे सब प्रेम करते हैं। इस प्रेम-भावना के कारण सब उसके वश में हो जाते हैं।

परायत्तेषूत्कण्ठा न कुर्यात् ॥४९४॥

दूसरे की अधीन वस्तु में उत्कंठा नहीं करे ॥४९४॥

इस सूत्र कई के अर्थ हो सकते हैं।

१—जो वस्तु किसी ने छीन ली हो, उसे वापस प्राप्त करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। अधिक उतावलापन दिखाने से तो छीनने वाला चौकन्ना हो जायेगा और उस चीज की सावधानी से रखवाली करने लगेगा।

२—जो वस्तु किसी दूसरे के अधीन हो और लेने की इच्छा हो तो ऐसे मामले में भी उतावली नहीं करनी चाहिए। हाथ की चीज को कोई छोड़ना नहीं चाहता, सो उसे प्राप्त करने के उपाय सोच कर फिर आगे बढ़ना चाहिए।

३—जो बात किसी दूसरे के हाथ की हो, अर्थात वही उसके लिए समर्थ हो, तो उसमें हाथ नहीं डालना चाहिए। या तो वह काम उसी से कराना चाहिए या उस काम को करने की सामर्थ्य प्राप्त करनी चाहिए।

असत्समृद्धिरसद्भिदेव भुज्यते ॥४९५॥

बुरों की सम्पत्ति को बुरे ही भोगते हैं ॥४९५॥

बुरे आदमियों का धन बुरे उपायों से कमाया हुआ होता है। इसी को कलुषित धन, कृष्ण धन या कालाधन कहते हैं। इस धन को भोगने वाले भी बुरे लोग ही होते हैं। भले आदमी ऐसे धन से दूर रहते हैं।

कलुषित धन का प्रभाव उसे भोगने वाले पर भी पड़ता है।

एक पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया है कि न्यायपूर्ण उपायों से उपार्जित धन ही धन होता है। अनीति से कमाये हुए धन के बारे में कहा है :

धैर्य रूपी पेड़ों को उखाड़ डालती है। मोहरूपी भंवरों के कारण दुस्तर इस नदी पर लंबी-चौड़ी चिन्ताओं के दो किनारे हैं। इस नदी को पार करने वाले विशुद्ध मनस्वियों की देवता भी प्रशंसा करते हैं।

न चाशा परैः श्रीः सह तिष्ठति ।।५०३।।

आशा परे न धैर्यम् ।।५०४।।

आशा लज्जा व्यपोहति ।।५०५।।

आशा-परायण लोगों के साथ लक्ष्मी नहीं रहती ।।५०३।।

आशा-परायण को धैर्य नहीं होता ।।५०४।।

आशा लज्जा को नष्ट कर देती है ।।५०५।।

आशा-परायण लोग सिर्फ आशा के भरोसे जीते हैं, कुछ करते-धरते नहीं। उन्हें यही आशा लगी रहती है कि कहीं न कहीं से कुछ मिल जायेगा या काम बन जायेगा या भाग्य की छींका टूट पड़ेगा। आशा ही आशा में वे कमाना तो दूर रहा, घर की पूंजी भी खो बैठते हैं यानी लक्ष्मी उनसे रूठ जाती है, कहा है :

आशायाः खलु ये दासाः दासास्ते सर्वलोकस्य।
येषामाशा दासी तेषां सर्वलोकः दासायते: ।।

यही बात इस दोहे में कही गयी है :

आसा का जो दास है वो सबही का दास।
जिसकी दासी आस है उसके सब सुख पास ।।

आशा के भरोसे रहने वाला धीरज खो देता है। जब उसकी आशाएं पूरी नहीं होतीं, तो वह निराश होकर ऊटपटांग व्यवहार करने लगता है। अंत में उसकी ऐसी हालत हो जाती है कि वह सारी लाज-शर्म को उठा कर ताक पर रख देता है। मतलब यह है कि मनुष्य को ऐसे कर्त्तव्य और कर्म करने चाहिएं जिनका अच्छा फल अपने आप ही मिल जाये। तुलसीदास ने कहा है : 'मन मोदक नहीं भूख बुझाई', अर्थात मन के लड्डू भूख नहीं बुझा सकते। इसीलिए कहा है : 'आस पराई जो करें सो जीवत ही मर जायें' ।।

दैन्यान्मरणमुत्तमम् ।।५०६।।

दीनता से मृत्यु उत्तम है ।।५०६।।

नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति ।।४६७।।

समुद्र का पानी प्यास दूर नहीं करता ।।४६७।।

समुद्र में अथाह पानी होता है, लेकिन वह इतना खारी होता है कि पिया नहीं जा सकता। अथाह पानी का भंडार भी किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। अंगरेज कवि कोलरिज की 'एन्शेन्ट मैरिनर' नामक प्रतीकात्मक कविता में एक भटके हुए नाविक की व्यथा इन शब्दों में वर्णन की गयी है :

वाटर वाटर एँवरी व्हेयर।
बट नॉट अ ड्रॉप टु ड्रिन्क ।।

चारों तरफ पानी ही पानी है, लेकिन पीने के लिए एक बूंद भी नहीं।

इस सूत्र का भाव यह है कि आकार में कोई चाहे जितना महान हो, किन्तु उसकी सार्थकता इसी में है कि किसी काम आये। तुलसी का दोहा है :

बड़े न हूजे काज बिनु बिरुद बड़ाई पाय।
कहा बड़ाई जलधि की जगत पियासो जाय ।।

किसी का चाहे जितना बड़ा नाम हो परन्तु उपयोगिता के बिना वह बड़ा नहीं होता। समुद्र का बड़ापन किस काम का कि उसके पास आकर कोई प्यास नहीं बुझा सकता।

तात्पर्य यह है कि बड़प्पन के साथ मनुष्य में परोपकार का गुण भी होना चाहिए। इस गुण के बिना धन-सम्पत्ति या पद का कोई महत्व नहीं।

बालुकाऽपि स्वगुणमाश्रयन्ते ।।४६८।।

बालू रेत भी अपना गुण पकड़े रहती है ।।४६८।।

बालू रेत रूखी और सख्त होती है। इसके कण बिखरे हुए होते हैं। यह बहुत जल्दी गर्म हो जाती है और उतनी ही जल्दी ठंडी भी हो जाती है। ये बालू रेत के गुण हैं जिन्हें बदला नहीं जा सकता। बालू के बारे में कहावतें भी बन गयी हैं। जैसे, बालू की भीत (दीवार) नहीं बनती और बालू से तेल नहीं निकल सकता। बालू का उपयोग भड़भूजों के भाड़ों में होता है क्योंकि थोड़ी-सी आंच से बहुत गर्म हो जाती है।

कुछ लोग भी बालू रेत की तरह होते हैं : बिल्कुल रूखे और गर्म मिजाज। हजार कोशिश करने पर भी किसी को फूटी कौड़ी भी नहीं देते।

सन्तोऽसत्सु न रमन्ते ।।४६९।।

कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते,' अर्थात् कस्तूरी की सुगन्ध अपने-आप फैलती है, उसके लिए शपथ की आवश्यकता नहीं होती। शेख सादी ने भी कहा हैं : 'मुश्क आनस्त कि खुद बगोयद, न कि अत्तार बगोयद', अर्थात् कस्तूरी अपना परिचय खुद ही दे देती है, अत्तार को बताने की जरूरत नहीं होती।

लेकिन आजकल तो आत्म-प्रशंसा और आत्म-विज्ञापन का युग है और यह कहावत चरितार्थ हो रही है : चिल्लाने वाले के चने भी बिक जाते हैं और खामोश रहने वाले की किशमिश भी नहीं बिकती।

न दिवा स्वप्नं कुर्यात् ॥५०८॥

दिन में शयन नहीं करे ॥५०८॥

आयुर्वेद में दिन की नींद को स्वास्थ्य के लिए हानिकारक बताया है। इससे शरीर में वायु बढ़ती है और बदहजमी हो जाती है, जिससे अन्य कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कहा है : 'आयुःक्षयी दिवा निद्रा' अर्थात् दिन में सोने से आयु क्षीण होती है, यानी शरीर निर्बल हो जाता है।

परन्तु यह पुराने जमाने की बातें हैं, जब जिन्दगी में आज जैसी भाग-दौड़ और व्यस्तता नहीं थी और लोगों को काफी फुरसत मिलती थी। आजकल तो बेचारे साधारण लोगों को दिन में कुछ देर विश्राम का भी समय नहीं मिलता। दिन में उन्हीं को सोना पड़ता है जो रात की पालियों में काम करते हैं। आधुनिक सभ्यता में रंगे फैशन-परस्त लोग तो दिन में क्या रात में भी पूरी नींद नहीं सोते। सिनेमा, नाच-गान, डिस्को, क्लब, वगैरा देर रात तक गुलजार रहते हैं। आजकल का युवा वर्ग तो निशाचर बनता जा रहा है। कुछ धनवान लोग भले ही हों जो दिन में सोते हों, सो वे तो वैद्यों और डाक्टरों के सहारे जीते हैं।

रातको जागने वाले, रोगी और बच्चे दिन में सोते हैं। यह नींद उनके लिए लाभप्रद होती है।

अंग्रेजी की एक कहावत है :

अर्ली टु बैड एण्ड अर्ली टु राइज
मैकेथ मैन हैल्दी वैल्दी एण्ड वाइज

रातको जल्दी सोना और सवेरे जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान और बुद्धिमान बनाता है।

न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टं वाक्यम् ॥५०९॥

ऐश्वर्य में अंधा मनुष्य भविष्य को नहीं देखता और हितकारी बचन नहीं सुनता ॥५०९॥

धन ही लोक-जीवन का एकमात्र साधन है, क्योंकि धन से ही मनुष्य जीवन की आवश्यक वस्तुएं प्राप्त कर सकता है। आवश्यकताओं के अलावा जीवन की अन्य सारी सुख-सुविधाएं भी धन से ही प्राप्त होती है। इसलिए इस संसार में लोगों के कर्मो का उद्देश्य धनोपार्जन ही होता है।

एक कवि की सूक्ति है :

बुभुक्षितः व्याकरणं न भुज्यते पिपासितः काव्य रसो न पीयते।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्कलाः कलाः॥

भूखा आदमी व्याकरण से भूख नहीं मिटा सकता और प्यासा आदमी काव्य रस से प्यास नहीं बुझा सकता। छन्द से किसी के कुल का उद्धार नहीं होता। इसलिए केवल सोना (धन) कमाओ। सारी कलाएं निष्फल हैं।

एक लोकोक्ति है : 'पढो बेटा सोई, जिससे हांडी खुदबुद होई'।

धन ज़ीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धन कमाने के लिए गर्हित उपायों तथा साधनों का सहारा लिया जाये।

आशया बध्यते लोकः ॥५०२॥

लोग आशा के पाश में बंधे रहते हैं ॥५०२॥

मनुष्यों के सारे कार्य इस आशा से होते है कि आगे जाकर उनसे कोई न कोई लाभ होगा या उनका अच्छा फल मिलेगा। विहारी का एक दोहा है :

एहि आसा अटक्यो रहे अलि गुलाव के मूल।
अइहैं बहुरि वसंत रुत इन डारन वै फूल॥

भंवरा गुलाव के पौधे पर इस आशा से मंडराता रहता है कि वसंत ऋतु में उसकी डालियों पर फिर फूल खिलेंगे।

आशा मनुष्य को उत्साह प्रदान करती है, परन्तु यह आशा व्यावहारिक तथा संभव होनी चाहिए। जो लोग केवल मन के लड्डू खाते रहते हैं, वे उन्नति नहीं कर सकते। ऐसे लोगों के लिए कहा है :

आशानाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी॥
मोहावर्त सुदुस्तरातिगहना प्रोत्तंग चिन्ता तटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

आशारूपी नदी का मनोरथ रूपी जल है, तृष्णा रूपी लहरें हैं, उसमें रागरूपी मगर है और वितर्क रूपी पक्षी उसके किनारों पर बैठे हैं। (यह नदी)

प्राचीन भारतीय परम्परा में अतिथि सत्कार को बहुत मान्यता दी गयी है और अतिथि को देवता के समान कहा गया है।

स्वयं आये हुए अतिथि को आसन, जल और यथाशक्ति भोजन का आदर पूर्वक दान करे। सूर्यास्त के बाद जो अतिथि आ जाये उसका अनादर नहीं करे। समय या असमय में आया हुआ अतिथि भोजन बिना नहीं रहे।

परिस्थिति की मजबूरियों के कारण अतिथि-सत्कार या मेहमान-नवाजी की यह परम्परा अब लुप्त होती जा रही है। पुराने जमाने में यातायात के साधन नहीं थे, सो बहुत दिन बाद कोई अतिथि या अभ्यागत आता था। उसके मिलने पर बहुत खुशी होती थी। अब यातायात के साधन सुलभ होने से अतिथि और अभ्यागत आसानी से आ टपकते हैं। एक तो जीवन की आवश्यकताएं बहुत बढ़ गयी हैं, दूसरे महंगाई की मार है। इनके कारण साधारण लोगों को घर के खर्च चलाना भी दूभर हो रहा है। इसलिए अतिथियों और अभ्यागतों का सत्कार करने में बहुत जोर पड़ता है। बहुत लोगों को यह अहसास नहीं होता कि किसी के घर का मेहमान होने में घरवाले को कितनी दिक्कत होती है।

नित्यं संविभागी स्यात् ॥५१३॥

नास्ति हव्यस्य व्याघातः ॥५१४॥

सदा संविभागी रहे ॥५१३॥

हव्य का नाश नहीं होता ॥५१४॥

जो अपने कमाये हुए धन में से सबका यथोचित भाग या हिस्सा देता है, उसे संविभागी कहते हैं। संविभागी अपने धन का अकेला उपभोग नहीं करता, उसे बांट कर खाता है। संविभाग को यज्ञ भी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य पर ऋषियों, देवताओं, पितरों और समाज का ऋण होता है। इसे चुकाना यज्ञ कहलाता है। पशु-पक्षियों, पतितों, रोगियों इत्यादि को भोजन देना बलिवैश्य यज्ञ होता है और अतिथि-सत्कार अतिथि यज्ञ होता है। इस प्रकार का संविभागी यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य होता है।

मनुस्मृति कहती है :

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वं आश्रमाः॥

जिस प्रकार वायु के आश्रय से सारे प्राणी जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम के सहारे सारे आश्रम जीवन धारण करते हैं।

दुखी, निर्धन या कायर मनुष्य दीन कहलाता है। दुख और निर्धनता ऐसे पदार्थ हैं जो मनुष्य को विचलित कर देते हैं और कभी-कभी वह सोचने लगता है कि ऐसे जीने से तो मरना बेहतर है। कायरता ऐसा दुर्गुण है जो मनुष्य को दूसरों की निगाह में नीचा गिरा देता है।

महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने कहा था : 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्' अर्थात अर्जुन दो प्रतिज्ञाएं करता है, न तो वह दुख से कातर होगा और न कायर की तरह युद्ध में पीठ दिखाकर भागेगा।

आत्मा न स्तोतव्यः ॥५०७॥

अपनी स्तुति या प्रशंसा नहीं करनी चाहिए ॥५०७॥

दूसरों के मुंह से अपनी प्रशंसा सुनना सबको बहुत अच्छा लगता है। जब कोई गुणगान करता है तो लोग फूल कर कुप्पा हो जाते हैं। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कुछ लोगों में तो यह प्रवृत्ति इतना जोर पकड़ जाती है कि वे अपनी प्रशंसा के आयोजन करवाते हैं। अपने प्रशंसकों तथा भाड़े के लोगों की भीड़ जमा करके अपना अभिनन्दन कराते हैं और अपनी स्तुति में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करवाते हैं। इसी को आत्म-प्रशंसा कहते हैं।

जिन लोगों के पास साधन नहीं होते, वे खुद ही अपनी प्रशंसा के गीत गाते फिरते हैं जिसे 'अपने मुंह मिट्ठू बनना' कहते हैं। ऐसे लोग जहां कहीं उठते-बैठते हैं, वहां अपना ही राग अलापते रहते हैं, भले ही कोई उनकी बात सुने या न सुने। होता यह है कि सुनने वाले बोर होजाते हैं।

डींग मारना या शेखी बघारना तो दोष है ही, परन्तु अगर कोई नेकी का काम किया हो, तो उसका भी बखान नहीं करना चाहिए। बखान करने से शुभ कर्म का या परोपकार का फल नष्ट हो जाता है। परन्तु कुछ लोग तो अपने छोटे-से-छोटे नेक काम की बड़ाई करते नहीं अघाते।

एक कवि की सूक्ति है :

अद्यापि दुर्निवारं स्तुति कन्या वहति कौमारम्।
सदभ्यो न रोचते साऽसन्तस्तस्यै न रोचते॥

स्तुति रूपी कन्या आज भी ऐसा कुंवारापन धारण किये हुए है कि उसका निवारण नहीं हो सकता। सत्पुरुष तो उसे पसंद नहीं करते और दुर्जनों को वह पसन्द नहीं करती।

जिन मनुष्यों में कोई गुण होता है उन्हें आत्मप्रशंसा की जरूरत नहीं होती। गुण-ग्राहकों में उनकी अपने आप प्रशंसा होती है। कहा है : 'न हि

प्रतीत होता है कि शत्रु को पराजित करने का सबसे आसान तरीका यह है कि उसे लोभ में डाल दिया जाये। लोभ के वशीभूत होकर वह लापरवाह हो जायेगा और तव उससे निवटा जा सकता है।

लोभ का प्रभाव ऐसा होता है कि शत्रु भी मित्र नजर आने लगता है। इसलिए शत्रु को लोभ में डाल दिया जाये तो वह अपने शत्रु को मित्र समझने लगता है। इसी बात को मृगजल के उदाहरण से समझाया गया है।

रेगिस्तानी इलाकों में सूर्य की किरणों के अपवर्तन से जल का आभास होने लगता है। डामर की सड़कों पर भी धूप में कभी-कभी ऐसा ही दृश्य दिखायी पड़ता है। वन में रहने वाले प्यासे हिरन इस जल को पीने के लिए दौड़ते हैं, लेकिन वह दृश्य आगे ही सरकता जाता है। अन्त में प्यासे हिरन थककर प्यास से मर जाते हैं। इसी कारण इसे मृगतृष्णा, मृगजल या मृग-मरीचिका कहते हैं।

लोभी मनुष्य ऐसे ही मृगजल के पीछे दौड़ता है और अन्त में नष्ट हो जाता है। शत्रु को भी इसी प्रकार लोभ रूपी मृगजल का धोखा देकर नष्ट किया जा सकता है।

दुर्मेधसामसच्छास्त्रं मोहयति ॥५१८॥

अल्प बुद्धि वाले लोग झूठे शास्त्रों से ठगे जाते हैं ॥५१८॥

प्राचीनकाल के ऋषियों के रचे हुए शास्त्र मनुष्य को धर्म, नीति, सदाचार, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि के उपदेश देते हैं और मोक्ष प्राप्ति के उपाय बताते हैं। इनकी देखा-देखी लोगों ने कुछ मिथ्या शास्त्र भी रच डाले हैं। इन्हें पढ़कर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और सही रास्ते से भटक जाते हैं। चार्वाक ऋषि ने ऐसा ही एक शास्त्र रचा था और उसके आधार पर लोकायत मत का प्रतिपादन किया था। चार्वाक का सिद्धान्त है :

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥

जब तक जियो तव तक सुख से जियो। कर्ज लो और घी पियो। चिता में भस्म होने वाले शरीर का पुनर्जन्म नहीं होता।

आजकल भी कई वावा लोगों ने अध्यात्म और योग की दुकानें खोल रखी हैं और हजारों लोग भौतिक सुखों की तलाश में इनके पीछे दौड़ रहे हैं। ये तथाकथित आध्यात्मिक गुरु अपने को भगवान कहने में भी नहीं सकुचाते और कुछ सिद्धियों के वल पर चमत्कार दिखाकर लोगों को ठगते हैं।

धन-सम्पत्ति, प्रभुता, महिमा, शक्ति और उच्चपद, ऐश्वर्य के लक्षण हैं। इन्हें पाकर लोग अक्सर मदान्ध हो जाते हैं। तुलसीदास ने कहा है :

नहिं कोउ अस जनम्यो जग मांहीं
प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं

ऐश्वर्य के नशे में लोग ऐसे मतवाले हो जाते हैं कि उन्हें अपने मित्र और हितैषी भी दिखाई नहीं देते। अगर वे कोई हितकारी बात कहते हैं तो वह उनका तिरस्कार करता है।

विदुर नीति कहती है :

ऐश्वर्य मद पापिष्ठा मादः पान मदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नाऽपतित्वा विबुध्यते ॥

ऐश्वर्य का नशा मद्य आदि के नशों से भी बुरा है। ऐश्वर्य के मद में मतवाला मनुष्य गिरे बिना होश में नहीं आता।

स्त्रीणां न भर्तृः परं दैवतम् ॥५१०॥
तदनुवर्तनमुभय सौख्यम् ॥५११॥
स्त्री के लिए पति से बड़ा कोई देवता नहीं ॥५१०॥
स्त्री पति की अनुवर्तिनी हो तो दोनों सुखी रहते हैं ॥५११॥

ये प्राचीन मान्यताएं हैं जिनका आज के युग में अधिक महत्व नहीं रहा। यदि पत्नी से आशा की जाती है कि वह पति को पूजनीय समझे और उसकी अनुवर्तिनी बने, तो पति का भी कर्त्तव्य है कि वह पत्नी का निरादर न करे, उसे तुच्छ न समझे और घर के सारे काम उसकी सलाह से करे। इस विषय में पिछले सूत्रों की व्याख्याओं में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

अतिथिमभ्यागतम् पूजयेद्यथा विधि ॥५१२॥
अतिथि और अभ्यागत का यथाविधि सत्कार करना चाहिए ॥५१२॥

आजकल मेहमान के लिए 'अतिथि' शब्द का प्रयोग चल पड़ा है। 'अभ्यागत' शब्द कहीं देखने में नहीं आता। परन्तु अतिथि और अभ्यागत में बहुत फर्क है।

अतिथि वह होता है जो बिना पूर्व सूचना दिये और बिना किसी प्रयोजन के अकस्मात ही आ जाये, अकेला हो और परिचित हो या अपरिचित।

जो मेहमान सूचना देकर, किसी प्रयोजन से, परिवार सहित आये और परिचित हो, उसे अभ्यागत कहते हैं।

क्या आजकल के तथाकथित सत्संगों को स्वर्गवास कहा जा सकता है ? इन सत्संगों में वयोवृद्ध पुरुषों और स्त्रियों की संख्या अधिक होती है। कुछ बड़े-बड़े भव्य सत्संगों का आयोजन कालाधन कमाने वाले लोग करते है।

भाव-प्रवण लोग इन सत्संगों में यह धारणा लेकर जाते है कि प्रवचन कार 'महात्मा' के दर्शनों से अथवा उसका प्रवचन या कथापाठ सुन कर पाप धुल जायेंगे। प्रवचन में क्या कहा जाता है इस पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता।

सत्संग में थोड़ी देर के लिए श्मशान वैराग्य हो जाता है, लेकिन बाहर निकलते ही पल्ला झाड़ दिया जाता है। यदि इन हजारों सत्संगों का कोई महत्व या प्रभाव होता, तो चाणक्य सूत्र के अनुसार हमारा देश स्वर्गधाम बन जाना चाहिए था। परन्तु देश तो आज नरकधाम बन रहा है। इसलिए सोचने को विवश होना पड़ता है कि क्या इन्हें वास्तव में 'सत्संग' कहा जा सकता है।

असली सत्संग उन्हीं के सान्निध्य में प्राप्त होता है जो वीतराग होते है और जिनका आचरण उनके वचनों से अधिक प्रभावशाली होता है।

आर्यः स्वमिव परं मन्यते ॥५२०॥

श्रेष्ठ जन दूसरों को अपने समान मानते है ॥५२०॥

यह सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है और इसकी व्याख्या की जाये तो इसे सारे धर्मों का सार कह सकते हैं। जो मनुष्य प्राणिमात्र को अपने ही समान समझता है वह मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट नहीं पहुंचा सकता, किसी का अपकार नहीं कर सकता। जो बात वह अपने लिए चाहता है वही दूसरों के लिए भी चाहेगा और दूसरों का जो व्यवहार उसे बुरा लगता है, वैसा व्यवहार वह दूसरों के साथ नहीं करेगा।

ईशोपनिषद् में कहा है :

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते॥

जो सब प्राणियों को अपने ही समान देखता है और सब प्राणियों में अपने को ही देखता है, वह कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होता।

चाणक्य नीति कहती है :

मातृवत् परदारेषु परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्व भूतानि यः पश्यति स पंडितः॥

इन यज्ञों के लिए जो धन या पदार्थ समर्पित किये जाते हैं, उन्हें हव्य कहते हैं। हव्य कभी व्यर्थ नहीं जाता, अर्थात इसका शुभ फल मनुष्य को प्राप्त होता है। हव्य से जो बचे उसी को खाने का मनुष्य को अधिकार है।

गीता में कहा है :

यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः।
भुंजते ते त्वघंपापा ये पचन्त्यात्म कारणात् ।।

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठजन सब पापों से मुक्त होते हैं। (परन्तु) जो पापीजन अपने शरीर पोषण के लिएं ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं।

आधुनिक साम्यवाद का सिद्धांत है कि धन-सम्पत्ति का समान वंटवारा होना चाहिए। किसी को भी अपनी आवश्यकता से अधिक रखने का अधिकार नहीं। यह सिद्धांत भारतीय परम्परा के लिए नया नहीं। भागवत पुराण कहता है:

यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दंडमर्हति ।।

जितना पेट भरने के लिए आवश्यक हो उतना ही शरीरधारियों का स्वत्व अर्थात 'अपना' होता है। इससे अधिक का जो अभिमान करता है, वह चोर है और दंड के योग्य है।

भारत के प्राचीन ऋषियों ने सम्पत्ति के वंटवारे के नियमों को धर्म का अंग बना दिया था, ताकि सब लोग अपने-आप इनका पालन करें। इस धर्म को भूल जाने के कारण समाज में धन-संचय की प्रवृत्ति बढ़ी है और बढ़ती जा रही है।

शत्रुरपि प्रमादी लोभात् ।।५१५।।

शत्रुर्मित्रवत् प्रतिभाति ।।५१६।।

मृगतृष्णा जलवद् भाति ।।५१७।।

लोभ से शत्रु भी भ्रमित हो जाता है ।।५१५।।
भ्रमित होने पर शत्रु भी मित्र नजर आता है ।।५१६।।
उसे मृगतृष्णा जल की भांति नजर आती है ।।५१७।।

लोभ ऐसा दुर्गुण है जो मनुष्य को प्रमादी अर्थात लापरवाह बना देता है। वह अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल जाता है। इस सूत्र का भावार्थ यह

मनुष्य जीवन में अक्सर देखने में आता है कि कभी अल्प प्रयत्न से भी सफलता मिल जाती है और कभी घोर परिश्रम से भी सफलता नहीं मिलती। कभी बिना कारण ही कोई दुर्घटना हो जाती है जिसमें चोट लग जाती है या मृत्यु भी हो जाती है। कुछ बच्चे जन्म से ही अंधे, बहरे या विकलांग होते हैं। कुछ लोगों को जीवन की सारी सुख-सुविधाएं भोगने को मिलती है और कुछ दाने-दाने को मोहताज रहते हैं। कुछ लोगों में जन्मजात प्रतिभा होती हैं और कुछ जिन्दगी भर ठोठ बने रहते हैं। कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार ये सब प्रारब्ध के फल होते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म होते हैं। पूर्व भवों अर्थात जन्मों में जितने कर्म किये हैं वे जमा होते रहते हैं। इन्हें संचित कर्म कहते हैं। संचित कर्मों का जो भाग इस जीवन में भोगना बदा है, वह प्रारब्ध कहलाता है। इस जीवन में प्राणी जो कर्म करता है वह क्रियमाण कर्म कहलाते हैं और संचित कर्मों के भंडार में शामिल हो जाते हैं। मनुष्य पुरुषार्थ से अर्थात क्रियमाण कर्मों से प्रारब्ध के प्रभाव को बदल भी सकता है परन्तु इसके लिए तप करना पड़ता है। इसलिए सूत्र कहता है कि प्रारब्ध के भोग से कोई दुर्घटना हो जाये तो उसका शोच नहीं करना चाहिए। यह समझ कर संतोष कर लेना चाहिए कि पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। ऐसी भावना से लाभ उठाना चाहिए और जीवन में ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जिनका फल आगे जाकर भुगतना पड़े।

भूकम्प, बाढ़, तूफान, सूखा आदि ऐसी आधिदैविक घटनाएं हैं जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं। ये अकस्मात ही हो जाती हैं और इनके कारण कभी-कभी तो जन और धन का भयंकर विनाश हो जाता है। इनके बारे में हाय-हाय करने से कुछ नहीं होता। आपद्-ग्रस्त लोगों को धैर्य रखने के सिवाय कोई चारा नहीं। दूसरे लोगों को इन आपद्ग्रस्तों की तन, मन और धन से सहायता करनी चाहिए।

दैव के विषय में कई पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्याओं में लिखा जा चुका है।

आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधुः ॥५२२॥

साधुजन अपने आश्रितों के दुखों को अपने ही दुखों के समान मानते हैं ॥५२२॥

यही बात उन लेखकों पर भी लागू होती है जो कुरुचिपूर्ण और अश्लील साहित्य की पुस्तकें लिख-लिख कर युवा वर्ग को पतन की ओर ले जा रहे हैं। इन पुस्तकों के प्रकाशक भी खूब चांदी काट रहे हैं। परिणाम यह है कि काम-वासनाओं की उत्तेजना से समाज में यौन-अपराध बढ़ रहे हैं। ऐसी ठग-विद्याओं के चक्कर में पड़ने वालों को अल्प बुद्धि या मूर्ख ही कहा जा सकता है।

सत्संगः स्वर्गवासः ॥५१६॥

सत्संग स्वर्गनिवास के समान है ॥५१६॥

सत्संग का अर्थ है ऋषि-मुनियों, संतों, सज्जनों तथा विद्वानों की संगति। आजकल धार्मिक प्रवचनों की सभाओं को भी सत्संग कहा जाता है। ऐसे सत्संग खूब होते रहते है।

कुछ ऐसी मान्यताएं प्रचलित हैं कि स्वर्ग और नरक इस लोक के बाहर कोई विशेष स्थान हैं। पुण्यात्मा लोग स्वर्ग में जाते है, जहां उन्हें सब प्रकार के सुख और आनन्द प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत पापी जन नरक में जाते हैं, जहां उन्हें तरह-तरह की यंत्रणाए दी जाती हैं। ये कल्पनाएं इस अभिप्राय से की गयी मालूम होती हैं कि लोग स्वर्ग के प्रलोभन में पुण्य कर्म करें और नरक के डर से पाप कर्मों में प्रवृत्त न हों।

वास्तव में स्वर्ग और नरक इस पृथ्वी पर ही हैं। स्वर्ग वह स्थिति है जिसमें मनुष्य चिन्ताओं और कष्टों से मुक्त हो कर मानसिक तथा आध्यात्मिक सुख और आनन्द अनुभव करता है। सत्संगति का ऐसा ही प्रभाव होता है। तुलसीदास ने कहा है :

सठ सुधरहिं सत संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई ॥
सुनि आचरज करै जनि कोई।
सत संगति महिमा नहिं गोई ॥

सत्संग से मनुष्य के हृदय में ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके चित्त में शान्ति हो जाती है। चाणक्य नीति कहती है :

संसार कूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषितं च सुस्वादः संगति सज्जने जने ॥

इस संसार रूपी विषवृक्ष के अमृत के समान दो फल है। सुभाषितों का रसास्वादन और सज्जनों की संगति।

हृद्गतमाच्छाद्यान्यद्वदत्यनार्यः ॥५२३॥

नीच लोग हृदय के भावों को छिपाकर मुंह से दूसरी तरह की बातें बोलते हैं ॥५२३॥

यह सूत्र उन लोगों पर लागू होता है जो मन में शत्रुता, द्वेष या ईर्ष्या रखते हैं मगर ऊपर मीठी-मीठी बातें करते हैं, यानी 'मूंह में राम बगल में छुरी'।

आदर्श तो यह है कि मन, वचन और कर्म में एकता होनी चाहिए अर्थात मनुष्य जैसा सोचे वैसा ही व्यवहार करे। परन्तु यह तभी संभव है जब मन राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हो। कहा है : 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मस्येकं मनीषिणा:' अर्थात मनीषियों का मन, वचन और कर्म एक होता है। ऐसे मनीषि संसार में दुर्लभ होते हैं। आज तो मन, वचन और कर्म की एकता तो बहुत दूर की बात है, इन तीनों में से किन्हीं दो की एकता भी मुश्किल से मिलेगी। ज्यादातर लोग तो धोखे की टट्टी बने हुए हैं। राजनीति में तो ऐसे लोगों की भरमार है। मन में तो स्वार्थ भरा हैं, बोलने में अपने को निस्वार्थ देश-सेवक और जनसेवक कहते हैं और कर्म में घोर पतित होते हैं।

बुद्धिहीनः पिशाचादनन्यः ॥५२४॥

बुद्धिहीन मनुष्य पिशाच से अभिन्न नहीं होता ॥५२४॥

बुद्धिहीन अर्थात भूर्ख को पिशाच कहने का तात्पर्य यह है कि मूर्ख से उसी प्रकार डरना और दूर रहना चाहिए जिस प्रकार नर-भक्षी राक्षस से।

भर्तृहरि ने कहा है :

शक्यो वारयितु जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो।
नगेन्द्रो निशितंकुशेन समत दंडेन गोगर्दभो॥
व्याधिर्भेषज संग्रहेश्च विविधैः मंत्रयोगैर्विषम्।
सर्वस्यौषधिमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्यनास्त्यौषधम्॥

आग पानी से बुझाई जा सकती है, धूप छतरी से रुक सकती है, हाथी अंकुश से वश में हो सकता है, बैल और गधा डंडे से सीधे किये किये जा सकते हैं, रोगों का औषधियों से तथा विष का मन्त्रों के प्रयोग से निवारण हो सकता है। शास्त्रों में सबकी औषधियां बतायी गयी हैं, परन्तु मूर्खो की कोई औषधि नहीं।

असहायः पथि न गच्छेत् ॥५२५॥

जो परायी स्त्रियों को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और सब प्राणियों को अपने समान समझता है, वह पंडित है।

महाभारत में भीष्म पितामह का उपदेश है :

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।।
यदन्यैर्विहितं नेच्छेत् आत्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः।।
न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एव सामासिको धर्मः कामावन्यः प्रवर्तते।।

धर्म का सार सुनो और सुनकर अपनाओ कि जो बात तुम्हारे प्रतिकूल हो वैसी दूसरों के प्रति मत करो। जो व्यवहार अपने प्रति दूसरों से न किया जाना चाहे, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करे। अपने को अप्रिय लगने वाला व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करे। अपने को प्रतिकूल लगने वाला व्यवहार दूसरों से नहीं करना ही धर्म का सार है। काम के वशीभूत होकर ही मनुष्य अन्यथा व्यवहार करता है।

वृहत्कल्प भाष्य (जैन आगम) का एक श्लोक है :

जं इच्छसि आप्पणती जं चन इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छा परस्सवि एत्तियगं जिणसासणयं।।

जो अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए चाहो। जो अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए मत चाहो। यही तीर्थकरो का उपदेश है।

येसु का वचन है : 'डू अन्टु अदर्स व्हाट यू वुड हैव अदर्स डू अन्टु यू' अर्थात दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें।

'यद्यदात्मनिः चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत्' अर्थात जैसी इच्छा अपने लिए करते हो, वैसी ही दूसरों के लिए भी करो।

ये सारी बातें तभी संभव है जब मनुष्य सबको अपने ही समान समझे।

दैवायत्तं न शोचेत् ।।५२१।।

दैव के अधीन घटनाओं पर शोच नहीं करे ।।५२१।।

'दैव' शब्द के यहां दो अर्थ लगाये जा सकते हैं। एक प्रारब्ध और दूसरा भूकम्प, बाढ़, तूफान, सूखा, महामारी आदि दैवी विपत्तियां।

सुन कर वह यह न समझने लगे कि सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गया। इससे उसकी प्रतिभा का विकास कुंठित हो जायेगा। पिता की यह बात सुनकर कवि तलवार फेंक कर पिता के चरणों में जा गिरा।

इस दृष्टान्त से यह शिक्षा मिलती है कि पिता को पुत्र के गुणों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसकी त्रुटियां बताकर आगे बढ़ाना चाहिए। वैसे भी पुत्र की प्रशंसा करना आत्म-प्रशंसा के समान होता है। यदि पुत्र प्रशंसा के योग्य ही न हो, तब तो उसकी प्रशंसा करना प्रपंच है।

नास्ति बुद्धिसतां शत्रुः ॥५२७॥

बुद्धिमानों के शत्रु नहीं होते ॥५२७॥

बुद्धिमान नर समदर्शी होता है, अर्थात सबके साथ समानता का व्यवहार करता है। इस कारण उससे कोई शत्रुता नहीं करता। यदि ईर्ष्या या द्वेष से कोई उससे शत्रुता करने लगे, तो वह अपनी बुद्धिमानी से उसे भी वश में कर लेता है। ऐसे लोगों की वंदना करते हुए तुलसीदास ने कहा है:

बंदउं सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजुलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोउ॥

मैं उन समदर्शी सन्तों की वन्दना करता हूं जो हित करने वाले और अहित करने वाले को समान समझते हैं। जैसे अंजुलि में फूल भरने पर दोनों हाथ एक समान सुगन्धित हो जाते हैं।

शत्रु न निन्देत् सभायाम् ॥५२८॥

सभा में शत्रु की निन्दा न करे ॥५२८॥

सभा का यहां अर्थ है राजा या शासनाधीश को सलाह देने वाली मंत्रिपरिषद या जनप्रतिनिधियों की सभा। ऐसी सभा में सभी विचारों के लोग होते हैं जिनके विचारों में मतभेद भी होता है। किसी का कोई शत्रु भी प्रतिनिधि बन कर सभा में आ सकता है। इन सभाओं में वाद-विवाद होते हैं और सबको अपने-अपने विचार प्रकट करने का अधिकार होता है। इस वाद-विवाद में मुद्दे की बातों पर ही चर्चा करनी चाहिए। शत्रु की बात का भी तर्क-संगत और युक्ति-संगत जवाब देना चाहिए। उस पर कोई व्यक्तिगत आक्षेप या लांछन नहीं लगाना चाहिए। सभा में शत्रु की निन्दा करना शोभनीय नहीं होता और सभा भटियार खाना बन जाती है।

दूसरों के दुखों को अपना दुख समझना उदात्त भावना का द्योतक है और संसार में ऐसे मनुष्य बिरले ही पाये जाते हैं जो दूसरों के दुख से विचलित हो जाते हों। भागवत पुराण में रन्तिदेव की गाथा है :

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम् ।।

न तो मुझे राज्य की कामना है न स्वर्ग की और न मोक्ष की। मेरी तो यही कामना है कि दुखों से ग्रस्त प्राणियों की करुणा-जनक पुकार को सुनकर उनके कष्ट दूर करूं।

इस ऊँचाई तक पहुंचना तो बहुत कठिन है, लेकिन कम से कम अपने आश्रितों के दुख दूर करना तो प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। तुलसीदास ने कहा है :

जेहि न मित्र दुख होई दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ।।
निज दुख गिरि सम रज कर जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना ।।

जो लोग अपने मित्र के दुख से दुखी नहीं होते, वे घोर पाप के भागी होते है। अपने पहाड़ के समान दुख को भी धूल के कण के समान और मित्र के धूलि-कण के समान दुख को भी पहाड़ के समान जानो।

इन चौपाइयों में मित्र शब्द है। परन्तु यही बात आश्रितों के लिए भी कही जा सकती है। आश्रितों में वे सब लोग आ जाते हैं जो किसी मनुष्य के सहारे जीते हैं। परिवार के लोग, नौकर-चाकर, अधीन काम करने वाले—ये सब आश्रितों की श्रेणी में आते है।

कहा है : 'आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः' अर्थात साधुजन सबको अपने समान मान कर उन पर दया करते हैं।

तुलसीदास ने भी कहा है :

साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय तेहि जग जसु पावा ।।

पहली चौपाई में साधुजनों की उपमा कपास के डोढे से दी गयी है और इसमें श्लेष अलंकार हैं। कपास का फल नीरस अर्थात् सूखा, विशद अर्थात् स्वच्छ और गुनमय अर्थात् रेशेवाला होता है। साधुजनों का चरित्र भी नीरस अर्थात राग-रहित, विशद अर्थात निर्मल और गुणमय होता है। कपास का बना कपड़ा दूसरों के तन को ढकता है, सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा करता है। इसी प्रकार सज्जन भी दूसरों के कष्ट दूर करते हैं।

साहसी जनों की भलाई करनी चाहिए ।।५३१।।

साहसी लोग वे होते हैं जो खतरों की परवाह न करके उद्यम या परोपकार करते हैं। बहुत-से पेशे या व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें चोट लगने या जान जाने की जोखिम रहती है। बहुत-से सेवा कार्य भी ऐसे ही होते हैं।

बाढ़, तूफान, आग, महामारी वगैरा की दुर्घटनाओं में बचाव का काम करने के लिए साहस की जरूरत होती है। पहाड़ों की दुर्गम चोटियों पर चढ़ना भी साहस का काम है। इसके लिए लोग जान-बूझकर जोखिम उठाते हैं ताकि दुनिया में उनका नाम हो जायें। कुछ लोगों में साहस की अदम्य भावना होती है जिसे 'स्पिरिट आव एडवेंचर' कहते हैं।

सूत्र कहता है कि जो लोग साहस के काम करते हैं, उनकी प्रशंसा और सहायता करनी चाहिए ताकि उनका उत्साह बना रहे और दूसरों को भी वैसे ही काम करने की प्रेरणा मिले।

कहा है :

उद्यमं साहसं धैर्यं विद्या बुद्धिः पराक्रमः ।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैव सहाय कृत ।।

उद्यम, साहस, धैर्य, विद्या, बुद्धि, और पराक्रम, ये छह जहां होते हैं वहां दैव भी सहायता करता है।

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत ।।५३२।।

अपराह्निकं पूर्वाह्न एव कर्त्तव्यम् ।।५३३।।

कल का काम अभी करे ।।५३२।।

तीसरे पहर का काम पहले पहर में ही कर लेना चाहिए ।।५३३।।

इन दोनों सूत्रों का आशय इस दोहे में व्यक्त किया गया है :

काल करे सो आज कर आज करे सो अब्ब ।
औसर बीतो जात है फेर करेगो कब्ब ।।

कल का काम आज ही करने का मतलब यह है कि आज का काम कल पर नहीं टालना चाहिए। जो काम अभी करने का हो उसे तत्काल कर डालना चाहिए। कुछ लोगों की आदत होती है कि आलस्य या लापरवाही से काम को टालते रहते हैं और मजबूर होकर ऐन वक्त पर उसे जल्दी से निबटाने की कोशिश करते हैं। इस हड़बड़ी में या तो काम अधूरा रह जाता है या उसमें कोई त्रुटि रह जाती है। कहा है : जल्दी काम शैतान का होता है।

आत्म रक्षा के साधन के बिना यात्रा नहीं करे ॥५२५॥

प्राचीन काल में यातायात के साधन बहुत कम थे। नगर और गांव दूर-दूर वसे हुए थे। मार्गों की सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध नहीं था, सो डाकुओं, लुटेरों, हिंसक जन्तुओं का भय रहता था। इसलिए लोग अकेले-दुकेले यात्राएं नहीं करते थे। यात्रा में भी अस्त्र-शस्त्र या अस्त्र-शस्त्रधारी लोगों को साथ रखते थे।

परवर्ती कालों में भी कुछ ऐसी ही हालत बनी रही। परन्तु आजकल जो प्रवृत्ति बढ़ रही है, उससे तो ऐसा लगता है कि यात्राएं पुराने जमाने से भी ज्यादा खतरनाक होती जा रही हैं। आये दिन विमानों, रेलों, बसों आदि की दुर्घटनाएं होती रहती हैं और रेलों, बसों आदि में दिन-दहाड़े डकैतियां हो रही हैं। यात्रियों के जान-माल की सुरक्षा की कोई गारन्टी नहीं। अव्वल तो पुलिस इन वारदातों को पूरी तरह रोक ही नहीं सकती, क्योंकि देश बहुत विशाल है और हर कदम पर पुलिस का पहरा नहीं लग सकता। दूसरे पुलिस भी चोर-डाकुओं से मिली रहती है। इसके कारणों की खोज की जाये तो बहुत चौंकाने वाले परिणाम सामने आते हैं।

चाणक्य ने सोचा भी न होगा कि बीसवीं सदी में भी उसका सूत्र अपनी सार्थकता सिद्ध कर देगा।

पुत्रो न स्तोतव्यः ॥५२६॥

पुत्र की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए ॥५२६॥

संस्कृत के एक विख्यात कवि (शायद भवभूति) के बारे में कथा है कि युवावस्था में ही उसकी कवित्व प्रतिभा प्रकट होने लगी थी और रसिक तथा गुणग्राही लोग उसकी कविताओं की प्रशंसा करने लगे थे। परन्तु उसके पिता उसकी कविताओं की निन्दा करते थे और उनमें त्रुटियां निकालते थे। पिता के इस निरंतर दुर्व्यवहार पर कवि को इतना क्रोध आया कि एक दिन उसने पिता की हत्या का संकल्प कर लिया। रात को तलवार लेकर जब वह पिता के शयन-कक्ष के पास गया तो, उसे पिता और माता की बातचीत सुनाई दी। वह दरवाजे की ओट में खड़ा रह कर सुनने लगा। माता कह रही थी: अपने पुत्र की सर्वत्र प्रशंसा हो रही है, परन्तु आप सदा उसकी निन्दा किया करते हैं। यह क्या बात है? पिता ने उत्तर दिया: अपना पुत्र अत्यन्त प्रतिभावान है और उच्चकोटि की कविताएं रचता है, मैं यह जानता हूं। परन्तु मैं उसकी निन्दा इसलिए करता हूं और उसकी रचनाओं में त्रुटियां इसलिए निकालता हूं कि अपनी प्रशंसाएं सुन-

कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता जिसे पृथिवी के सारे पदार्थों का ज्ञान हो, जब तक कि वह ऋतंभरा प्राप्त पूर्ण योगी न हो। इसलिए इस सूत्र में लोकज्ञता का अर्थ लोक-व्यवहार ही लगाया जा सकता है।

पिछले सूत्र में लोक-व्यवहार को धर्म कहा गया है। इसी संदर्भ में लोक-व्यवहार को जानने वाले को सर्वज्ञ कहा जा सकता है। शास्त्रकारों को ऐसे सर्वज्ञों की श्रेणी में रखा जा सकता है। परन्तु इन शास्त्रों को पढ़ने वाला तब तक सर्वज्ञ नहीं हो सकता, जब तक उसे लोक-व्यवहार का ज्ञान न हो। शास्त्र पढ़कर भी जो लोक-व्यवहार को नहीं जानता वह मूर्ख के समान होता है। इसी बात को चाणक्य नीति ने दोहराया है :

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यं विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं, उसका शास्त्र क्या कर सकता है? अन्धे के लिए दर्पण का कोई प्रयोजन नहीं।

शास्त्र को पढ़ने वाले का पुस्तकी ज्ञान तभी सार्थक होता है जब उसके साथ लोक-व्यवहार का भी ज्ञान हो।

यही बात आजकल स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई जाने वाली विद्याओं के लिए कही जा सकती है। विश्वविद्यालयों से हर साल तरह-तरह की डिग्रियों की तख्तियां लटकाये लाखों युवजन निकलते हैं जो व्यावहारिक ज्ञान में बिल्कुल कोरे होते हैं। इन्हें तो अल्पज्ञ भी नहीं कह सकते।

शास्त्र प्रयोजनं तत्वदर्शनम् ॥५३७॥
तत्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति ॥५३८॥

शास्त्र का प्रयोजन तत्व का निरूपण है ॥५३७॥
तत्व का ज्ञान कार्य को प्रकाशित करता है ॥५३८॥

वैसे तो ज्ञान, विज्ञान और कला की सभी विद्याएं शास्त्र कहलाती हैं, जैसे, योग शास्त्र, धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र, काम शास्त्र, भौतिक, रसायन शास्त्र, संगीत शास्त्र, काव्य शास्त्र, नाट्य शास्त्र, शिल्प शास्त्र इत्यादि, इत्यादि। परन्तु जब केवल शास्त्र कहा जाता है तो उसका अर्थ होता है, आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और जीवों सम्बन्धी तत्वों का निरूपण करने वाला दर्शन। इसलिए शास्त्र को दर्शन या दर्शन शास्त्र भी कहते हैं। वैदिक दर्शन छह हैं। जैन और बौद्ध दर्शन तथा तांत्रिक दर्शन भी हैं, जिन्हें आगम कहते हैं। योरप में भी अनेक

क्षमावानेव सर्वं साधयति ।।५२९।।

क्षमावान मनुष्य के सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं ।।५२९।।

क्षमा के बारे में १९८ वें सूत्र की व्याख्या में लिखा जा चुका है ।

क्षमावान पुरुष वह होता है जो दूसरों के दुर्वचनों, आक्षेपों, आक्रमणों आदि को बिना किसी प्रकार के द्वेष के सहन करता है । जवाब देने की क्षमता रखता हुआ भी जवाब नहीं देता । क्षमा का उच्चतम आदर्श तीर्थंकर महावीर के जीवन में मिलता है ।

महर्षि भृगु ने विष्णु भगवान की छाती पर लात मारी, परन्तु विष्णु ने कुपित होने की बजाय भृगु के पांव को सहलाया और कहा : मेरी छाती बहुत कठोर है, आपके पांव में चोट तो नहीं आयी ?

जिस मनुष्य ने क्षमा की साधना कर ली हो, उसके सारे कार्य सफल हो जाते हैं ।

आपदर्थं धनं रक्षेत् ।।५३०।।

आपत्ति के समय के लिए धन जमा करके रखे ।।५३०।।

धर्म शास्त्रों का उपदेश है कि मनुष्य को उतना ही धनोपार्जन करना चाहिए जितने की उसे अपने तथा अपने आश्रितों के भरण-पोषण के लिए आवश्यकता हो । धन का उपयोग उसे खर्च करने में ही है, कंजूस की तरह संचय करने में नहीं । लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि जितनी आमदनी हो उस सारी को खर्च कर दिया जाये । कुछ धन बचाकर रखना चाहिए ताकि आड़े वक्त पर काम आये । अगर हाथ में कुछ पैसा न हो, तो हारी-बीमारी में या और कोई आफत आने पर बहुत मुसीबत हो जाती है और कर्ज लेना पड़ता है ।

आजकल बड़े लोगों में धन-संचय की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है उसका आपत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं । यह तो धन का एक नशा है । हजारपति लखपति बनना चाहता है, लखपति करोड़पति बनना चाहता है, और यह सिलसिला इसी तरह आगे बढ़ता रहता है । बहुत-सा धन काले-धन के रूप में जमा होता है जिसका कोई सदुपयोग नहीं हो सकता । यह धन शान-शौकत और वैभव प्रदर्शन में खर्च होता है जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ती है ।

इसलिए विपत्तियों के लिए धन जमा करने के अलावा अधिक धन जमा करना सामाजिक अपराध है ।

साहसवतां प्रियं कर्त्तव्यम् ।।५३१।।

या कोई खुश हो जाये, या कोई नाराज न हो जाये। इन सब अवस्थाओं में व्यवहार निष्पक्ष नहीं रहता बल्कि किन्हीं मजबूरियों से प्रभावित होता है। परिणाम यह होता है कि गलत लोगों को फायदा पहुंचता है और दूसरे लोगों में असंतोष पैदा होता है।

राज-काज में तो पक्षपात से बचना बहुत ही जरूरी होता है। पर सबसे ज्यादा पक्षपात यहीं देखने में आता है। नियुक्तियों में, सरकारी साधनों के उपयोग में, लाइसेंसों में, ठेकों में, सरकारी अनुदानों और कर्जों में, सब जगह पक्षपात का बोलबाला है। राजनेताओं और सत्ताधारी पक्ष के राजनीतिकों का तो यह साधारण आचरण बन गया है। 'अंधा बांटे रेवड़ी, अपनों को ही देय', यह कहावत खूब चरितार्थ हो रही है। इसी कारण सारी व्यवस्था चरमरा रही है, क्योंकि पक्षपात भी भ्रष्टाचार का ही एक रूप है।

व्यवहार का एक अर्थ विवाद भी होता है। इस विवाद में मुकदमों को भी लिया जा सकता है।

जब किसी बात पर दो जनों में या दो पक्षों में विवाद की हालत पैदा हो जाये तो उसमें सदा सत्य का पक्ष लेना चाहिए। स्वार्थवश या अन्य किसी एक पक्ष का समर्थन नहीं करना चाहिए। विवाद में यदि किसी को निर्णायक या पंच बनाया जाये तो उसे भी पक्षपात रहित होकर निणय देना चाहिए। इसलिए पंच को परमेश्वर कहा जाता है।

मुकदमों में न्याय करने वाले अधिकारियों को भी निर्णय यानी फैसले देते समय ध्यान रखना चाहिए कि पक्षपात न हो। ऐसी बहुत शिकायतें सुनने में आती हैं कि न्यायिक अधिकारी रिश्वत लेकर या अन्य किन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर पक्षपात करते हैं। इसे न्याय का हनन यानी इंसाफ का खून ही कह सकते हैं।

मजेदार बात यह है कि बातों में सब पक्षपात की निन्दा करते हैं, परन्तु व्यवहार में पक्षपात चाहते हैं या पक्षपात करते हैं।

आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी ॥५४०॥

सर्व साक्षीह्यात्मा ॥५४१॥

आत्मा ही व्यवहार का साक्षी होता है ॥५४०॥

आत्मा सर्वसाक्षी है ॥५४१॥

व्यवहारानुलोमो धर्मः ।।५३४।।

धर्म व्यवहार के पीछे चलता है ।।५३४।।

प्रथम सूत्र की व्याख्या में धर्म शब्द की विवेचना की जा चुकी है। धर्म का एक अर्थ लोक-व्यवहार भी होता है जिसके जाति धर्म, कुल धर्म, देश धर्म आदि कई रूप हैं। मनुष्य को इन विविध धर्मों के अनुसार अपने कर्त्तव्य-कर्म करने पड़ते हैं। प्रत्येक कुल की, या जाति की या देश की या अन्य समाजिक समूह की कुछ परम्पराएं, परिपाटियां, रीतियां आदि होती है जो रूढ़ हो जाती है। ये किसी वर्ग के अंगभूत मनुष्य के लिए धर्म के समान ही महत्व रखती हैं।

आधुनिक युग में किसी देश में जो कानून बनते है, वे उस देश के सारे निवासियों के लिए होते हैं और सब पर लागू होते हैं। परन्तु यदि कोई कानून किसी वर्ग विशेष के परम्परागत रीति-रिवाजों से टकराता हो तो उस वर्ग के लिए अपवाद कर दिया जाता है। जहां कानून और रिवाज के बीच भेद हो, वहां रिवाज को प्रधानता दी जाती है। जैसे हमारे देश का वहु–विवाह निषेध कानून, मुसलमानों पर लागू नहीं होता, क्योंकि उनके मजहब में एक पुरुष के लिए चार पत्नियों तक का विधान है। हिन्दुओं में संपत्ति के उत्तराधिकार के दो सिद्धान्त है : दायभाग और मिताक्षरा। बंगाल के हिन्दुओं में दायभाग के अनुसार संपत्ति का बंटवारा होता है।

इसी प्रकार हरेक के कानून वहां के निवासियों की परंपराओं के अनुसार अलग-अलग होते हैं। इसी को लोक-व्यवहार कहते हैं।

सर्वज्ञता लोकज्ञता ।।५३५।।

शास्त्रज्ञो अप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ।।५३६।।

लोक को जानने वाला सब कुछ जानने वाला होता है ।।५३५।।

शास्त्रों का ज्ञान रखने वाला भी यदि लोक का ज्ञान नहीं रखता हो, तो वह मूर्ख के समान है ।।५३६।।

लोक शब्द के दो अर्थ हैं : हमारी पृथिवी और इस पर रहने वाले सब लोग। 'लोग' शब्द 'लोक' का ही अपभ्रंश है।

जो इस पृथिवी के सारे चराचर पदार्थों को तथा इस पर निवास करने वाले जनों को जानता है, वह सर्वज्ञ होता हैं अर्थात सारी बातें जानता है। जानने से तात्पर्य यह है कि वह सब पदार्थों के गुण तथा स्वभाव का तथा समस्त लोक-व्यवहारों को जानता है। दूसरे शब्दों में यो कह सकते हैं कि वह विज्ञानी होता है।

न स्यात् कूटसाक्षी ।।५४२।।

कूट साक्षिणो नरके पतन्ति ।।५४३।।

न कश्चिन्नाशयति समुद्धरति वा ।।५४४।।

झूठी गवाही देने वाला नहीं बने ।।५४२।।

झूठी गवाही देने वाला नरक में गिरता है ।।५४३।।

झूठी गवाही देने वाला न तो किसी का नाश करता, न उद्धार ।।५४४।।

झूठी गवाही देना अपराध मान लिया गया है. परन्तु शास्त्रों के अनुसार यह घोर पाप है। झूठ बोलना तो पाप है ही, परन्तु झूठी गवाही इससे भी बड़ा पाप है, क्योंकि इससे न्याय में बाधा पड़तीं है। झूठी गवाही के बल पर मुकदमों में गलत फैसले हो जाते है। अपराधी छूट जाते हैं और निरपराधों को सजा हो जाती है। लेन-देन के मामले भी झूठी गवाही से बिगड़ जाते है। महाभारत में कहा है :

यश्च कार्यावितत्वज्ञो जानन्नपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नास्त्र संशयः ।।

जो सच्ची बात जानता हुआ भीं नहीं बोलता, वह पापी के समान ही पाप में लिप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

झूठी गवाही के बारे में याज्ञवल्क्य स्मृति कहती है :

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।
स कूटसाक्षिणां पापैः तुल्यो दंडेन चैव हि ।।

जो नराधम जानता हुआ भी सच्ची गवाही नहीं देता, वह झूठी गवाही के समान पाप के लिए दंडनीय होता है।

मनुस्मृति के आठवें अध्याय में तो साक्षी के बारे में पूरा विवेचन है। उसमें बताया गया है कि कैसे लोगों की गवाही मानी जाये और कैसे लोगों की गवाही नहीं मानी जाये।

नग्नो मुंडः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासित ।।
अंधः शत्रुकुलं गच्छेत् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।।
अवाक् शिरास्तमस्यन्धे किल्विषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात् पृष्टः सत् धर्म निश्चये ।।

जो झूठी साक्षी देता है वह नंगा, सिर मुंडा हुआ, भूखा, प्यासा और भीख मांगता हुआ, अंधतम नरक में जाता है।

दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया हैं। इन दर्शनों के आधार पर अनेक 'वाद' प्रचलित हो गये हैं। ये 'वाद' अनन्त विवादों के कारण वन गये हैं। प्रत्येक 'वाद' अपने को सत्य तथा दूसरों को मिथ्या वताता है। उदाहरण के लिए वेदान्त दर्शन की ही अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि कई शाखाएं हो गयी हैं।

इन शास्त्रों से तत्व का ज्ञान होता हैं। कहा है: 'वादे वादे जायते तत्व वोधः' अर्थात वादों के अध्ययन, मनन, चिंतन तथा अनुशीलन से तत्व का वोध हो सकता है। यही तत्व दर्शन है। दर्शन से मनुष्य को आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और जीव के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और यह ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन होता है।

अव तो दशा यह है कि आधुनिक विज्ञान भी तत्व दर्शन की ओर अग्रसर हो रहा है। वह उस एकमात्र मूल तत्व की खोज कर रहा है जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड का कारण है।

जव मनुष्य को तत्व ज्ञान हो जाता है, तो उसके सारे कार्य आलोकित हो जाते हैं। प्रत्येक कर्म का कोई न कोई कारण होता है। विना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। कारण दो प्रकार के होते हैं: उपादान और निमित्त। कुम्हार का चाक घूमने से मिट्टी का घड़ा वनता है। मिट्टी उपादान है और चाक को घुमाने वाला डंडा निमित्त है। तत्वज्ञानी को प्रत्येक कार्य के कारण का ज्ञान होता है। इसलिए उसके कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं।

परन्तु ऐसा तत्वज्ञान कोई वच्चों का खेल नहीं। इसके लिए वर्षो की कठिन साधना करनी पड़ती है।

व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः ॥५३९॥

व्यवहार में पक्षपात नहीं करे ॥५३९॥

मनुष्य के जिन कर्मो, कार्यों अथवा कर्त्तव्यों का सम्वन्ध दूसरे लोगों से होता है उसे व्यवहार कहते हैं। दूसरे लोगों में परिचित, अपरिचित, मित्र, शत्रु, परिजन, अन्यजन, स्वामी, सेवक आदि सभी तरह के लोग होते है। इनके साथ व्यवहार में पक्षपात नहीं करना चाहिए, इसका अर्थ यह है कि किसी भी कार्य या कर्त्तव्य को व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जिसके साथ व्यवहार किया जा रहा है या करना है, उसके वारे में यह नहीं सोचना चाहिए कि वह कौन है। परन्तु व्यवहार में ऐसा वहुत कम देखने में आता है। लोग अक्सर यह देखते है कि उनके व्यवहार से खुद को या किसी आदमी को फायदा हो जाये

यह भी देखा गया है कि किसी मनुष्य ने छिपकर कोई पाप किया हो, तो वह उसे किसी न किसी रूप में खुद ही प्रकट कर देता है। बल्कि कुछ लोग तो ऐसे भी होते हैं कि अपने पाप कर्मों की डींग हांकते हैं और कहते हैं कि उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता। कितने ही हत्यारे खुले घूमते रहते हैं हालांकि लोग उन्हें जानते-पहचानते हैं।

कभी-कभी पकड़े जाने पर भी पापी लोग अपने पाप को कबूल कर लेते हैं।

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि पाप तो पाप ही होता है, चाहे प्रकट रूप में किया जाये या छिपकर।

व्यवहारे अन्तर्गतमाकारः सूचयति ।।५४७।।

आकार संवरणं देवानामशक्यम् ।।५४८।।

मनुष्य की आकृति उसके व्यवहार के भीतरी भाव को प्रकट कर देती हैं ।।५४७।।

(मनोभावों को प्रकट करने वाली) मुखाकृति को रोकना देवों के लिए भी शक्य नहीं ।।५४८।।

मनुष्यों के व्यवहारों के पीछे छिपी मनोभावनाएं उसके चेहरे पर प्रकट हो जाती हैं। प्रसन्नता, शोक, क्रोध, घृणा, प्रेम, भय, रोग आदि के भाव चेहरे पर प्रकट हुए बिना नहीं रहते। शकुन्तला को विदा करते समय कण्व ऋषि भी अपने भावावेग को नहीं रोक सके थे।

इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के चेहरे को देखकर उसके मनोगत भावों को जाना जा सकता है। जो मनुष्य छिपाने की चेष्टा करता है वह चेष्टा भी चेहरे पर झलकने लगती है।

भावों को प्रकट करने की मुख्य इन्द्रियां आंखें हैं। आंख दिखाना, आंख लगना, आंखों में हंसना, आंखे चुराना, आंखें फेरना, आंखें बिछाना, आंखें सेकना, आंख उठाना, आंख मारना, वगैरा मुहावरे आंखों के अलग-अलग लक्षण बताते हैं जिनसे मनुष्य के मनोभाव प्रकट होते हैं। पंचतंत्र में कहा गया है :

आकारैरिंगतैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र वक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ।।
भिन्न स्वर मुखवर्णः शंकित दृष्टिः समुत्पतित तेजाः।
भवति ही पापं कृत्वा स्वकर्म संत्रासितः पुरुषः ।।

जो लोग चोरी करते हैं, या परदे की ओट में किसी को नुकसान पहुंचाते हैं वे समझते हैं कि उनके व्यवहार को कोई नहीं देखता। इस प्रकार झूठ, मिथ्या तथा कपट व्यवहार करने वाले अथवा पक्षपात करने वाले भी अपने मन में समझते हैं कि उनके इन व्यवहारों को कोई नहीं देखता। परन्तु वे भूल जाते हैं कि उनकी खुद की आत्मा तो उनके सारे व्यवहारों को देखती हे और उनकी गवाह होती है। तो जो लोग समझते हैं कि उनके व्यवहारों को कोई नहीं देखता, वे अपनी आत्मा को धोखा देने की चेष्टा करते हैं, जो असंभव है।

एक दृष्टान्त है कि किसी गुरु ने अपने दो शिष्यों को बुलाकर उन्हें एक-एक चीज दी और कहा कि इसे ऐसी जगह गाड़ आओ जहां कोई नहीं देखता हो। एक शिष्य उस चीज को एक निर्जन वन में गाड कर आ गया। परन्तु दूसरा उस चीज को लेकर वापस आ गया। गुरु ने उससे पूछा तो उसने जवाव दिया: मुझे तो ऐसी कोई जगह नहीं मिली। ईश्वर सर्वव्यापक है, वह सवको देखता रहता है।

ईश्वर को कोई माने या ना माने, लेकिन अपनी आत्मा तो शरीर में ही रहती है, वह सव कुछ देखती रहती है। मनुष्य का कोई कर्म या व्यवहार उससे छिपा नहीं रह सकता।

दूसरी वात यह है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका फल तो उसकी आत्मा को ही भोगना पड़ता है। मनुस्मृति कहती है:

आत्मैवह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
मावमस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥
मन्यते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीह नः।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तर पूरुषः॥
एकोऽहमस्पीत्यात्मानं यत्वं कल्याण मन्यसे।
नित्वं स्थितस्ते हृदये पुण्य पापेक्षिता मुनिः॥

अपनी आत्मा ही अपनी साक्षी तथा अपने कर्मों का फल भोगने वाली है। (इसलिए) हे नर, तू सर्वोत्तम साक्षी अपनी आत्मा की अवहेलना मत कर।

पापीजन समझते है कि उन्हें कोई नहीं देखता, परन्तु दैवी शक्तियां तथा उनके भीतर वैठा हुआ पुरुप अर्थात आत्मा देख रहा है।

जो मनुष्य अपने को अकेला समझ कर इसी में अपना कल्याण मानता है, अर्थात पाप कर्म करता है, वह भूल जाता है कि पुण्य और पाप को देखने वाला मुनि (आत्मा) उसके भीतर ही वैठा है।

राज कर्मचारियों के वारे में अर्थशास्त्र में कहा है :

यथाह्यनास्वादर्तितु न शक्यं जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा ।
अर्थस्तवाह्यर्थचरेण राजः स्वल्पोऽप्यनास्वादयितुं न शक्यः ॥

मत्स्याः यथान्तः सलिलं चरन्तो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिवन्तः ।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुन न शक्याः धनमाददानाः ॥

अपिशक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पतत्रिणाम् ।
न तु प्रच्छन्नभावानां युक्तानां चरतां गतिः ॥

जैसे जीभ पर रखे हुए शहद या विष का स्वाद लिये विना नहीं रहा जा सकता इसी प्रकार अर्थ-संग्रह करने वाले राज्य कर्मचारी भी थोड़े-से धन का उपभोग किये विना नहीं रह सकते ।

जिस प्रकार पानी में तैरती मछली पानी पीती हुई नजर नहीं आती, इसी प्रकार अपने-अपने कार्य पर नियुक्त राज्य कर्मचारी राज्य के धन का अपहरण करते हुए जाने नहीं जाते ।

आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति का पता लगाया जा सकता है, परन्तु गुप्त रूप से धन को हरण करने वाले राज कर्मचारियों की गति का पता नहीं लग सकता ।

आज हमारे देश में यही हाल हो रहा है : इसका कारण यह है कि खुद राजनेता और शासनकर्ता ही भ्रष्ट और चोर हैं तो राज कर्मचारियों को कौन रोके । वल्कि राज कर्मचारी तो इनके एजेन्ट बन गये हैं ।

'चोट्टी कुतिया जलेबियों की रखवाली' नहीं कर सकती ।

दुर्दर्शना हि राजानः प्रजा नाशयन्ति ॥५५०॥

सुदर्शना हि राजानः प्रजा रंजयन्ति ॥५५१॥

न्याययुक्त राजानं मातरं मन्यन्ते प्रजाः ॥५५२॥

तादृशः स राजा इह सुखं ततः स्वर्गमाप्नोति ॥५५३॥

दर्शन नहीं देने वाला राजा प्रजा का नाश करता है ॥५५०॥

दर्शन देने वाला राजा प्रजा को प्रसन्न रखता है ॥५५१॥

न्यायशील राजा को प्रजा माता के तुल्य मानती है ॥५५२॥

जो राजा ऐसा होता है, वह इस लोक में सुख पाता है और मरने पर स्वर्ग लोक में जाता है ॥५५३॥

जो मनुष्य धर्म का निश्चय पूछने पर असत्य बोलता है, वह पापी अंधतम नरक में उलटा लटका रहता है।

झूठी गवाही देते वाला खुद अपने को ही नुकसान पहुंचाता है, क्योंकि उसकी आत्मा कलुषित हो जाती है।

प्रच्छन्न पापानां साक्षिणो महाभूतानि ।।५४५।।

आत्मनः पापमात्मैव प्रकाशयति ।।५४६।।

छिपा कर किये गये पापों के साक्षी महाभूत होते हैं ।।५४५।।

मनुष्य अपने पापों को आप ही प्रकट करता है ।।५४६।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पांच महाभूत माने जाते हैं। वैदिक विज्ञान के अनुसार इन्हीं पांच तत्वों से विश्व की उत्पत्ति हुई है। यह ऐसा विषय है जिसे संक्षेप में नहीं समझाया जा सकता।

छिपाकर किये गये पापों को ये पंचमहाभूत देखते है। इसका अर्थ यह है कि पाप कर्म का प्रभाव किसी न किसी महाभूत पर पड़ता है। मानसिक पाप से जो विचार-तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे आकाश में फैल जाती हैं। शारीरिक पापों से वायु. अग्नि (ताप), जल या पृथ्वी इनमें से किसी न किसी का प्रदूषण होता है। चरक संहिता कहती है :

वायु आदि में जो दोप उत्पन्न होता है, उसका मूल अधर्म है। अधर्म का मूल लोगों के असत् कर्म (पाप) हैं।

इसलिए छिपकर पाप करने वाला अपने मन में भले ही समझ ले कि उसके पाप को किसी ने नहीं देखा, परन्तु पापों का सूक्ष्म प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है।

आज के युग में प्रकृति में जो विकार उत्पन्न हो गये हैं, जैसे समय पर वर्षा का न होना, या वहुत अधिक वर्षा होना, ऋतुओं में परिवर्तन, नये-नये रोगों की उत्पत्ति और उनका विस्तार, ये सव मनुष्यों के असत् कर्मो के फल हैं। अपराध और पाप में यह भेद है कि अपराध की परिभाषा तो देश, काल, परिस्थिति के अनुसार वदलती रहती है, परन्तु पाप वह होता है जिसका प्रभाव आत्मा को कलुपित करता है और दूसरों को भी हानि पहुचाता है। असत्य, हिंसा और परिग्रह इसी तरह के पाप हैं।

पापी अपने पापों को स्वयं ही प्रकट करता है, इसका भी यही अर्थ है कि पापों का प्रभाव छिपा नहीं रहता। इसके अलावा पाप का जो प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, वह आत्मा से छिपा नहीं रहता।

कर्त्तव्य हो जाता है और है भी। इनके दमन के लिए अनेक कायदे-कानून बनाये गये हैं, परन्तु इनका विनाश तो दूर रहा, इनमें कमी के भी कोई लक्षण नजर नहीं आते। वल्कि चोरों और समाज-कंटकों की गति-विधियां वढ़ ही रही हैं। मिलावट करने वाले, तस्करी करने वाले, विमानों का अपचालन करने वाले, धर्म या जाति या सम्प्रदाय के नाम पर लोगों की हत्या करने वाले—ये सब समाज-कंटक है और सारे संसार में चिन्ता के कारण बन गये हैं। इसलिए उनके विनाश के उपाय खोजना और उन पर सख्ती से अमल करना बहुत जरूरी है।

अहिंसा लक्षणोः धर्मः ।।५५५।।

अहिंसा धर्म का लक्षण है ।।५५५।।

धर्म और उसके तत्वों तथा लक्षणों की विवेचना प्रथम सूत्र की व्याख्या में की जा चुकी है। इस सूत्र में चाणक्य ने अहिंसा को धर्म का लक्षण कहा है, इसका विशेष महत्व है। जैन और बौद्ध धर्मों में अहिंसा को परम धर्म माना गया है। चाणक्य का यह सूत्र भी इसी का संकेत प्रतीत होता है, क्योंकि चाणक्य का समय महावीर और बुद्ध के बाद का है। वैसे वैदिक धर्म में भी अहिंसा पर बहुत जोर दिया गया है, किन्तु वेदों तथा वैदिक स्मृतियों और शास्त्रों में अहिंसा की वैसी व्यापक परिभाषा नहीं मिलती जैसी आगमों में है।

साधारण तौर पर अहिंसा का अर्थ है हिंसा न करना। हिंसा नहीं करने का अर्थ है किसी जीव को नहीं मारना या नहीं सताना। अर्थात अहिंसा का सम्बन्ध दूसरों के प्रति व्यवहार से है। परन्तु अहिंसा की यह परिभाषा बहुत संकुचित और एकांगी है। अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के सारे व्यवहारों से है। बहुत लोग केवल मनुष्यों या बड़े जीवों की हत्या को ही हिंसा मानते हैं। यह दृष्टि भी संकुचित है। वैदिक काल में तो यज्ञों में पशुवध को हिंसा नहीं माना जाता था और यह उक्ति प्रचलित हो गई थी : 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति'।

परन्तु वास्तव में हिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के सारे ऐसे मनोभावों से है जो उसकी आत्मा पर बुरा प्रभाव डालते हैं। जैन आगमों में पांच महाव्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। जैन ग्रन्थ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में हिंसा-अहिंसा की यह परिभाषा है :

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिं सेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिं सेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।

मन में राग-द्वेष आदि भावों का प्रकट नहीं होना अहिंसा है। इन भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है।

आयाति स्खलितैः पादेर्मुख वैवर्ण्य संयुतः ।
ललाट स्वेदभाग्भूरि गदंगदं भाषते वचः ॥

शरीर, संकेत, गति, चेष्टा, भाषण तथा नेत्रों और चेहरे के विकारों से मन के अन्तर्गत भाव प्रकट हो जाते हैं ।

पाप करने के बाद अपने कर्म से भयभीत मनुष्य का स्वर बदल जाता है, चेहरा फीका पड़ जाता है, तेज नष्ट हो जाता है और उसकी आंखों में डर भर जाता है ।

पाप कर्म करने वाला मनुष्य जब न्यायाधीश के सामने आता है तब उसके पांव लड़खड़ाते हैं, चेहरे का रंग उड़ जाता है, माथे पर पसीना टपकने लगता है और वह अटपटी बातें करता है ।

इसके विपरीत जब कोई निरपराध या निष्पाप मनुष्य न्यायालय आता है तो :

प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्ट वाक्य सरोषदृक् ।
सभायां वक्तिमासर्षं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥

उसका मुख प्रसन्न होता है, वह हर्षित होकर स्पष्ट बोलता है और पकड़ कर लाने वालों को क्रोध की नजर से देखता है ।

चोर राजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत् ॥५४६॥

चोरों और राजपुरुषों से राज्य कोश की रक्षा करे ॥५४६॥

राज्य-कोश को अर्थात् जनता से करों आदि के रूप में जमा किये गये कोश को चोरों और राज्य कर्मचारियों से बचाना राजा का कर्त्तव्य बताया गया है । यही कर्त्तव्य आज के राजनेताओं का तथा शासनाध्यक्षों का है ।

चोर सिर्फ वे ही नहीं होते जो घरों में घुस कर, फांदकर या सेंध लगा कर चोरी करते हैं । जनता से करों आदि के रूप में प्राप्त होने वाले धन की चोरी करने वाले और करों की चोरी करने वाले भी चोर होते हैं । चाणक्य ने अर्थ शास्त्र में इस विषय में विस्तार से विवेचना की है और चोरियां रोकने के उपाय बताये हैं ।

चोरियां रोकने में पहरेदारों और गुप्तचरों का कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है । यह संगठन जितना कुशल, सतर्क और ईमानदार होता है उतना ही चोरियों को रोकने में समर्थ होता है । इसलिए जब तक राज कर्मचारी कर्त्तव्यनिष्ठ और ईमानदार न हों, तब तक चोरियां नहीं रोकी जा सकतीं ।

दूसरों के शरीर को अपना शरीर मानने वाला सत्पुरुष सदा मनुष्य जाति की सेवा तथा परोपकार में तत्पर और संलग्न रहता है क्योंकि वह दूसरों के दुखों और कष्टों को स्वयं अनुभव करता है ।

गांधीजी ने कुर्ता पहनना इसलिए छोड़ दिया था कि वह देश के उन करोड़ों लोगों का कष्ट अनुभव करते थे, जिनके पास पहनने को कुर्ता नहीं होता। इस मामले में उनकी नकल करने वाले ढोंगी और पाखंडी हैं ।

मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम् ।।५५७।।

मांस खाना सभी लोगों के लिए अनुचित है ।।५५७।।

इस सम्बन्ध में मनुस्मृति कुछ और ही कहती है :

नात्ता दुष्यंत्यदन्नाद् यन्प्राणिनोऽहन्य हन्यपि ।
धात्रैव सृष्टाह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ।।
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवः ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ।।
न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद्धर्मोहि निर्बभौ ।।

खाने लायक जीवों का मांस खाने से मनुष्य दूषित नहीं होता । मांस भक्षण करने वालों के खाने लायक जीव ब्रह्मा ने बनाये हैं ।

ब्रह्मा ने यज्ञ के निमित्त पशुओं को स्वयं रचा है । यज्ञ सब मनुष्यों का सर्वस्व है, इसलिए यज्ञ के लिए वध हिंसा नहीं होती ।

मांस भक्षण, मद्यपान तथा मैथुन में कोई दोष नहीं । ये मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । परन्तु इनसे निवृत्त होना बहुत अच्छा फल देता है ।

संसार में वेद विहित हिंसा को हिंसा नहीं माने । इसे अहिंसा के समान समझे क्योंकि वेद विहित कर्त्तव्य ही धर्म कहलाता है ।

इसके अलावा मनुस्मृति के श्राद्ध प्रकरण में भी ब्राह्मणों को तरह-तरह के पशु-पक्षियों के मांस खिलाने का विधान है ।

भागवत पुराण भी कहता है :

लोके व्यवायामिष मद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ सुराग्रहैराशु निवृत्तिरिष्टा ।।

दर्शन का अर्थ यह नहीं कि राजा रोज महल की खिड़की के पीछे बैठ कर या दरबार में लोगों को दर्शन दिया करे। दर्शन का अर्थ यह है कि प्रजा के लोग आसानी से राजा के आस-पास पहुँच सकें और उसे अपने दुख-दर्द और अभाव-अभियोग सुना सकें। जो राजा अपने महलों में बैठा रहता है और जनता उस तक नहीं पहुंच पाती, वह राज नहीं कर सकता। जनता की समस्याओं से बेखबर हो जाता है और जनता बहुत कष्ट उठाती है।

इसके विपरीत जो राजा सुदर्शन होता है अर्थात् जो जनता से मिलता रहता है और उसकी समस्याओं का निवारण करता है, वह लोकप्रिय हो जाता है।

प्राचीन काल में राजा ही न्याय किया करता था। जो राजा न्याय या इंसाफ करता था उसे प्रजा माता की तरह अपना रक्षक और पोषक समझती थी।

अर्थशास्त्र में कहा है :

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में उसका हित है। जो कुछ राजा को प्रिय हो उसे ही वह हित नहीं समझे वरन जो प्रजा को प्रिय हो उसी को हित समझे।

राजाओं के लिए ये उपदेश आजकल के राजनेताओं तथा शासकों पर ज्यों के त्यों लागू होते हैं। कहने को तो हमारे देश के मन्त्री लोग भी जनता को दर्शन देते हैं। अपने बंगलों में बैठकर भी और जगह-जगह दौरे करके, या समारोहों के उद्घाटन करके भी। पर ये सब 'दर्शन' औपचारिक बन कर रह गये हैं। जनता के अभाव-अभियोगों की, उसकी समस्याओं की, कोई परवाह नहीं करता। वे तो उसी को हित समझते हैं जो उन्हें प्रिय हो, जनता का हित चूल्हे में जाये। न्याय की बात ही करना बेकार है। सब कुछ मन्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है। यही कारण है कि जनता में असंतोष फैल रहा है।

चोरांश्च कंटकांश्च सततं विनाशयेत् ॥५५४॥

राजा चोरों और कंटकों का सदा विनाश करे ॥५५४॥

इस सूत्र में चोरों और कंटकों अर्थात् समाज-कंटकों का विनाश राजा का कर्त्तव्य बताया गया है। अब जब राजा नहीं रहे, तब राज्य-शासन का यह

अपनी पुस्तक 'वैदिक विज्ञान' में विस्तार से चर्चा की है। उसके कुछ अंश यहां उद्धृत किये जाते हैं।

संस्कृत वांग्मय में ज्ञान और विज्ञान, ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थों में पृथक-पृथक रूप से प्रयुक्त देखे जाते हैं। आजकल प्रचलित भाषा में ज्ञान शब्द सामान्य रूप से 'जानने' के अर्थ में और विज्ञान शब्द एक निश्चित सिद्धान्त के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। या यों कहिए कि अंग्रेजी 'साइन्स' शब्द का अनुवाद 'विज्ञान' शब्द से किया जाता है। अमरकोशकार ने इनका अर्थ लिखा है :

मोक्षेधीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञान शिल्प शास्त्रयोः ।

अर्थात मोक्ष के सम्बन्ध में विचार किया जाये उस विचार और बुद्धि को 'ज्ञान' कहते हैं और इसके अतिरिक्त शिल्प या शास्त्र के विषय की बुद्धि को 'विज्ञान' कहते हैं। इसके अनुसार शिल्प अर्थात कारीगरी और धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी सब विचारों को विज्ञान कहना प्राप्त होता है। भगवद् गीता में दो-तीन जगह साथ-साथ इन दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

हे अर्जुन, अब मैं तुझे विज्ञान सहित वह ज्ञान विशेष रूप से बता देता हूं जिसके जान लेने पर कुछ भी जानने को नहीं रह जाता।

इन परिभाषाओं के अनुसार आत्मज्ञान अथवा अध्यात्मज्ञान ज्ञान है, और भौतिक पदार्थों का ज्ञान विज्ञान है। उपनिषदों में इन्हीं के लिए परा विद्या और अपरा विद्या अथवा अविद्या शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इस विवेचन के बाद चाणक्य के इन सूत्रों का यह तात्पर्य निकलता है कि जो मनुष्य अध्यात्म तथा पदार्थ विद्या (आजकल का साइन्स), दोनों को जान लेता है, उसे संसार का कोई भय नहीं रहता। वह सबमें एकत्व का अनुभव करता है। उसे यह सारा संसार अनित्य नजर आता है, इसलिए वह सारे द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

कृमिशकृन्मूत्र भाजनं शरीरं पुण्यपाप जन्म हेतुः ॥५६१॥

कीड़े, मल तथा मूत्र का भाण्डा शरीर पुण्य और पाप उत्पन्न करने वाला होता है ॥५६१॥

मनुष्य का शरीर नाना प्रकार के कीड़ों, मल तथा मूत्र से भरा रहता है। यह बात इसलिए कही गयी है कि बहुत लोग अपने शरीर को ही सब कुछ

मनुष्यों के लगभग सारे कर्म राग-द्वेष के कारण होते हैं। शरीर का या धन का या इन्द्रियों के विषयों का राग उत्पन्न होने से मनुष्य शरीर-पोषण के लिए जीवों की हिंसा करता है। धन के लिए चोरी करता है, झूठ बोलता है, बेईमानी करता है, घूस खाता है, गबन करता है, वगैरा वगैरा। विषयों से राग के कारण व्यभिचार करता है। इसी प्रकार द्वेष के कारण दूसरों को मारता है या सताता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा को सत्य का साधन माना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे हाथी के पांव में सबके पांव समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा में धर्म के अन्य सारे लक्षण समा जाते हैं। अहिंसा की सूक्ष्म परिभाषा के अनुसार तो मन में कुत्सित भावनाओं का उदय ही हिंसा है। यदि कोई मनुष्य किसी को मारने का या सताने का संकल्प भी करता है तो हिंसा हो जाती है, भले ही वह अपने संकल्प को कार्यरूप न दे सके।

पातंजल योगदर्शन में पांच यम बताये गये हैं। इनमें से अहिंसा के बारे में सूत्र है : 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्र सन्निधौ वैर त्यागः' अर्थात जिसने अहिंसा की साधना कर ली है, उसके आस-पास वैर या शत्रुता नहीं रहती। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और हिरन अहिंसा के इसी वातावरण के कारण साथ-साथ रहते थे।

स्वशरीरमिव परशरीरं मन्यते साधुः ॥५५६॥

सत्पुरुष दूसरों के शरीर को अपने शरीर के समान मानते हैं ॥५५६॥

दूसरे के शरीर को अपना शरीर समझने का सम्बन्ध केवल शरीर से नहीं। शरीर तो आत्मा का कलेवर मात्र होता है। इसलिए दूसरे के शरीर को अपना मानने का अर्थ यह है कि मनुष्य दूसरों के सुख-दुख समझे। इसी बात को चाणक्य नीति इन शब्दों में कहती है :

आत्मवत् सर्व भूतानि
यः पश्यति स पण्डितः ॥

जो प्राणी मात्र को अपने समान देखता है वह पंडित है।

तत्व की बात तो यह है कि जो दूसरों के दुख देखकर संन्तप्त होता है और उन दुखों का निवारण करता है, वही साधु कहलाने योग्य होता है।

नरसी मेहता के प्रसिद्ध भजन की आरम्भिक पंक्तियां कहती हैं :

वैष्णव जन तो तेने कहिये।
जे पीडपरायी जाणे रे ॥

जन्म मरण आदि दुख हैं ॥५६२॥
तप से स्वर्ग प्राप्त होता है ॥५६३॥
क्षमावान का तप बढ़ता है ॥५६४॥
तप से कार्य सिद्ध होते हैं ॥५६५॥

ये अन्तिम चार सूत्र आध्यात्मिक हैं ।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार जब तक आत्मा का मोक्ष नहीं होता तब तक वह विभिन्न योनियों में जन्म, मरण, सुख, दुख आदि के चक्कर में फंसा रहता है । यह चक्र दुखमय होता है और मोक्ष होने पर इस दुख से मुक्त होकर आत्मा परमानन्द भोगता है । सभी धर्मों, मजहबों, संप्रदायों इत्यादि की मान्यता है कि पुण्यकर्मों से आत्मा स्वर्ग में जाता है और पाप कर्मों से नरक में जाता है । चाणक्य कहता है कि तप से स्वर्ग प्राप्त होता है । तप के बारे में पूर्ववर्ती सूत्रों की व्याख्याओं में लिखा जा चुका है । अब कहा गया है क्षमा से तप में वृद्धि होती है अर्थात क्षमा महान तप है । क्षमा के बारे में भी लिखा जा चुका है । तप से केवल स्वर्ग-लाभ ही नहीं होता, बल्कि सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं । इसका अर्थ है कि जो मनुष्य तप करता है, उसे सारी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं । दूसरा अर्थ यह भी है कि जिस निमित्त से तप किया गया हो, वह कार्य सिद्ध हो जाता है । अर्थात् तप की महिमा अपरंपार है । मनुस्मृति तथा धर्मसूत्र ग्रन्थों में तप की बहुत प्रशंसा की गयी है ।

अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि चाणक्य के इन सूत्रों का उद्देश्य यही है कि मनुष्य इनके अनुसार अचरण करके अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्त करे अर्थात इस लोक में उन्नति करे और मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न करता रहे ।

॥ समाप्त ॥

मैथुन, मांस-भक्षण तथा मद्यपान मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसके लिए शास्त्रों के विधान की आयश्यकता नहीं। परन्तु विवाह और यज्ञ कर्म में इनकी मर्यादा निश्चित कर दी गयी है। (फिर भी) इनसे निवृत्ति अच्छी है।

जैसा कि पिछले सूत्र की व्याख्या में बताया गया था कि चाणक्य का काल महावीर और बुद्ध के बाद का है। इससे लगता है कि उस समय वैदिक विचारधारा पर जैन तथा बौद्ध धर्मों के अहिंसा के सिद्धान्त का प्रभाव पड़ने लगा था। जनमत भी यज्ञों में पशुबलि तथा मांस-भक्षण के विरुद्ध बनता जा रहा था। 'अहिंसा परमो धर्मः' का उद्घोष मुखरित होने लगा था। इसलिए चाणक्य को भी मांस-भक्षण का निषेध करना पड़ा।

वैसे मांसभक्षण मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक भी नहीं। पश्चिम में भी अब बहुत लोग शाकाहार के पक्षपाती तथा मांस-भक्षण के विरोधी होते जा रहे हैं।

आदिकाल में जब अन्नों का उत्पादन नहीं होता था और खेती का आविष्कार नहीं हुआ था, तब मनुष्य मांस खाकर ही जीवित रहते थे। उत्तर अटलांटिक के क्षेत्र में रहने वाले एस्किमो जाति के लोग अब भी केवल जल-जन्तुओं का मांस खाते हैं, क्योंकि वहां कोई अन्न पैदा ही नहीं होता।

परन्तु बहुत लोग केवल स्वाद के लिए मांस खाते हैं और आजकल के नवयुवकों में तो मांस खाना एक फैशन बन गया है। होटलों और रेस्तोरांओं के विज्ञापन मांस के नाना प्रकार के व्यंजनों का धुआंधार प्रचार कर रहे हैं, और मांस-भक्षण को प्रोत्साहन दे रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में मांसाहार का विरोध अरण्य-रोदन के समान है।

न संसारभयं ज्ञानवताम् ॥५५८॥

विज्ञान दीपेन संसारभयं निवर्तते ५५९॥

सर्वमानित्यं भवति ॥५६०॥

ज्ञानवान को संसार में किसी का भय नहीं होता ॥५५८॥
विज्ञान दीपक से संसार के सारे भय दूर हो जाते हैं ॥५५९॥
ज्ञान विज्ञान से सारा जगत अनित्य प्रतीत होता है ॥५६०॥

इन सूत्रों में ज्ञान और विज्ञान–ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञान किसे कहते हैं और विज्ञान किसे कहते हैं, इस विषय की पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने

समझते हैं। उसे पुष्ट और सुन्दर बनाने के प्रयत्नों में लगे रहते हैं। शरीर के सुख को ही वास्तविक सुख समझते हैं। शरीर के भीतर कितनी गन्दगी भरी है, यह किसी को अहसास नहीं होता।

परन्तु यही शरीर मनुष्य के पुण्य और पाप का कारण होता है। शरीर से तात्पर्य शरीर की पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों से हैं। इन इन्द्रियों के विषयों से ही पुण्य और पाप का जन्म होता है। जब इन्द्रियां मनुष्य के वश में होती है और वह उन्हें धर्म कार्यों में प्रवृत्त करता है, तब पुण्य का उदय होता है। कहा है : 'शरीरं हि खलु धर्म साधनम्', शरीर ही धर्म का साधन है। परन्तु जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता और उन्हें बेलगाम छोड़ देता है तब वह विषय भोगों की तृप्ति के लिए कुकर्मों और दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो जाती है और पाप को जन्म देती है। गीता कहती है :

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

जिस मनुष्य का मन इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है, उसकी बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे जल में नाव को हवा नष्ट कर देती है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि शरीर का पुण्य कर्मों के लिए उपयोग करे, विषय-सुखों के उपभोग के लिए नहीं।

चाणक्य नीति कहती है :

पुनर्वित्त पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः ॥

मनुष्य को जीवन में धन, मित्र, स्त्री, जमीन आदि सारे पदार्थ दुबारा मिल सकते हैं, परन्तु शरीर दुबारा नहीं मिल सकता। इसलिए शरीर को स्वस्थ रख कर उसे धर्म कार्यों में लगाना चाहिए। धर्म की एक परिभाषा यही कहती है, यतोऽभ्युदय निःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः, अर्थात जिससे इस लोक में उन्नति हो तथा अन्त में जन्म-मरण से मुक्ति हो, वही धर्म है।

जन्ममरणादिषु दुःखमेव ॥५६२॥

तपसा स्वर्गमाप्नोति ॥५६३॥

क्षमायुक्तस्य तपो विवर्धते ॥५६४॥

तस्मात् सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति ॥५६५॥